THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182179
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81·6 V82K   Accession No. G·H·3190

Author विष्णुस्वरूप

Title कविसमय-मीमांसा

This book should be returned on or before the date last marked below.

श्री लक्ष्मणस्वरूप हिन्दी ग्रन्थमाला-२

कविसमय-मीमांसा

'वस्तुवृत्तिरतन्त्रं, कविसमयः प्रमाणम्' इति यायावरीयः।

विष्णुस्वरूप

प्रकाशक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

मूल्य—अजिल्द ८)
सजिल्द ६)

Checked 1969

मुद्रक
लक्ष्मीदास
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी।

प्रस्तुत प्रकाशन-योजना

बहुत दिनों से सभी विश्वविद्यालयों में इस प्रकार का अनुभव हो रहा था कि शोध और अनुशीलन-परक जितने प्रबन्ध उपाधि-प्रदान के लिए प्रत्येक वर्ष स्वीकृत हो जाते हैं उनके प्रकाशन की भी समुचित व्यवस्था की जाय। इस व्यवस्था का उत्तम रूप तो यही हो सकता है कि विभिन्न विश्वविद्यालय स्वयं ऐसी उपादेय और विमर्शपूर्ण रचनाओं को प्रकाशित और प्रसारित करें। इस दिशा में कुछ संतोष होता है यह देखकर कि इधर कई विश्वविद्यालयों में अपने शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन की यथासाध्य व्यवस्था होने लगी है। इसी कार्य के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रशासक समिति ने भी गत वर्ष पन्द्रह हजार रुपयों की स्वीकृति दी है। कुछ वर्षों पूर्व इसी प्रकार के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए श्रीमती बीरोदेवी ने इसी मूल्य की निधि विश्वविद्यालय को प्रदानित की थी। गत वर्ष प्रशासक समिति ने चार व्यक्तियों का एक परामर्श-मण्डल स्थापित किया—इस अभिप्राय से कि वह कुछ स्वीकृत प्रबन्धों को छापने का प्रबन्ध करे। उस मण्डल की स्वीकृति के अनुसार और उक्त योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथ को प्रकाशित किया जा रहा है। इस योजना के अंतर्गत यह दूसरी कृति प्रकाश पा रही है।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
(संयोजक)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
२०–४–६३

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रंथ हमारे विभाग का शोध-प्रबंध है। इस विषय की ओर आधुनिक हिन्दी साहित्य के विचारकों और आलोचकों ने कम ध्यान दिया है। आज के कुछ विद्वानों को छोड़कर, जिन्होंने प्रस्तुत विवेच्य विषय का विवेचन और समीक्षण किया है, अधिकांश समकालीन साहित्यिकों की दृष्टि में, 'कविसमय' का विषय उपेक्षित ही बना रहा। संस्कृत के अलंकारिकों में संभवत: राजशेखर ने ही कुछ अधिक विस्तार और चिंतन की गहराई के साथ आलोच्य विषय को अपनी 'काव्यमीमांसा' में उपस्थित किया है। संस्कृत के अन्य अनेक काव्यशास्त्रज्ञों ने, बाद में चलकर कभी संक्षिप्त और कभी कुछ विस्तृत रूप में 'कविसमय', 'कविसंकेत' या 'काव्यरूढ़ियों' की चर्चा की है।

हिन्दी के मध्ययुगीन रीतिकाल के तथोक्त आचार्यों के यहाँ भी यह प्रसंग प्राय: बराबर ही उपेक्षा का भाजन बना रहा। पर उनके काव्यों और कारयित्री प्रतिभा से सर्जित कृतियों में, 'कविसमय' के ही एक बंधु की—काव्यरूढ़ि के रूप में अवतरित रीतिबंधनों की—उपासना अत्यधिक की गई। 'कविरीति' के अंतर्गत विशेष रूप से तथा 'कविशिक्षा' की परंपरागत मान्यता के संदर्भ में सामान्य रूप से प्रस्तुत विषय का उल्लेखात्मक वर्णन अवश्य ही मिल जाता है।

कहने का सारांश यह कि व्यापक और तर्कसंगत ढंग से विवेच्य विषय पर लिखित इस प्रबंध का अपना एक विशेष महत्व है। 'जीवनजगत् के सत्य' और 'काव्यसत्य' के आलोक में 'कविसमय' को ठीक-ठीक समझने और व्यापक रूप से उसका मूल्यांकन करने का प्रयास इस शोधकृति में कदाचित् पहले-पहल किया गया है। 'कविसमय', या सरल शब्दों में कहें तो 'काव्यरूढ़ियाँ', वस्तुत: परंपरासुरक्षित ज्ञानालोक से काव्य को समझने और उसकी परंपरानुमोदित या रूढ़िस्वीकृत मान्यता के अनुसार काव्य का मूल्य समझने में सहायक होती हैं। पर इसका एक दूसरा पक्ष भी है। कलाकार की स्वच्छंद काव्यसर्जना में उन रूढ़िबंधनों से कभी-कभी बाधा भी होती है और कल्पना के उन्मुक्त विहरण में वे कभी-कभी गतिरोधक भी बन जाती हैं। अत: 'कविसमय' की रूढ़ियाँ उपयोगी होकर भी कारयित्री प्रतिभा के स्वस्थ विलास में निषेधात्मक शक्ति

बनकर मार्गविरोध न करें—यह भी ध्यान में रखना चाहिए। यही कारण है कि स्वच्छन्दता-विधायक मान्यताओं को लेकर चलनेवाले कृतिकार प्रायः इस विषय के प्रति अरुचि व्यक्त करते हैं।

आशा है, विषयक्षेत्र की परिधि के ससीम रहने पर भी उपयोगिता और परंपरागत रिक्थ के रूप में प्रस्तुत शोध-प्रबंध का हिन्दी के साहित्यिक स्वागत करेंगे तथा उक्त विवेच्य को इतर एवं नूतन विश्लेषण की दृष्टियों से देखने और नई प्रेरणा देने का कार्य भी यह ग्रंथ करेगा।

भवदीय,
जगन्नाथप्रसाद शर्मा
अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कृतज्ञता-ज्ञापन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच डी. उपाधि के लिए सन् १९५७ ई० में स्वीकृत यह मेरा शोध-प्रबन्ध है। पूज्य गुरुवर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के स्नेह-सिक्त प्रोत्साहन और सतत निरीक्षण के द्वारा ही यह सम्भव हो पाया। साहित्य-निर्माण तथा अध्यापन की अविरल व्यस्तता के बीच भी इस ओर उनकी आद्यन्त रुचि का कारण अनुसन्धेय का आकर्षण ही रहा, उनके अगाध ज्ञानाब्धि के लेशमात्र से यदि मैं इसे अभिसिक्त कर पाया होऊँ, तो स्वयं को कृतकार्य मानूँगा।

समय-समय पर जिन अन्य कृती विद्वानों से परामर्शजनित उपयोगी ज्ञान प्राप्त हुआ है, केवल शब्दों द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन धृष्ट प्रयास होगा। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० बलदेव उपाध्याय, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० भगीरथ मिश्र का श्रद्धापूर्ण हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

डॉ० शम्भु नाथ सिंह, श्री शालिग्राम उपाध्याय, तथा श्री रामादास जी यथावसर पुस्तक सामग्री एवं अन्य वांछित सुविधाएँ सुलभ करके और कलाकार श्री एस. पी. चड्ढा सुन्दर चित्रों की रचना करके, मित्र-ऋण के धनी हैं, उनके प्रति रिनिया बने रहने की ही मेरी आकांक्षा है।

शोध सम्बंधी ज्ञान के अर्जन में अबाध रूप से सहायक होने वाले निम्न-लिखित पुस्तकालयों के अधिकारी एवं प्रबन्धक धन्यवादार्ह हैं—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का केन्द्रीय पुस्तकालय (गायकबाड़ पुस्तकालय), गर्वमेन्ट संस्कृत कालेज (अब संस्कृत विश्वविद्यालय) का सरस्वती पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा का आर्य भाषा पुस्तकालय, और काशी विद्यापीठ का पुस्तकालय।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा यह शोध कार्य वर्तमान मुद्रित रूप में प्रकाशित हो रहा है, इसकी आयोजना का सम्पूर्ण श्रेय वहाँ के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा को है। उनके गुरुत्व के समक्ष कृतज्ञता के उपचार का तुलादण्ड मेरी धृष्टताभरी हरुआई ही सिद्ध करेगा।

प्रेसकापी तैयार करने, प्रूफ सुधारने, शब्दानुक्रमणी बनाने और यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन में आशा जी ने मुक्त सहयोग दिया है, वे जीवन-संगिनी हैं, अतः धन्यवाद की आशु आवश्यकता उन्हें नहीं।

हैदराबाद
....

—विष्णुस्वरूप

निवेदन

कविसमय भारतीय काव्यपरम्परा का चारुत्व-विधायक अंग रहा है। प्रत्येक युग और धारा के कवि उसके आश्रय से काव्यभारती का मण्डन करते रहे हैं। मान्य काव्यशास्त्रियों की मनीषा ने उसका विवेचन किया है।

फिर भी, काव्य-रचना के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में कविसमय के यथेष्ट स्फुट विचार के अभाव में साधारणतः विविध प्रकार की काव्य-रूढ़ियों के अन्तर्गत ही कविसमय को मान लेने की धारणा प्रचलित है। इस प्रकार की भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है।

कलाकृति-विशेष में अथवा समान जाति की विविध कलाकृतियों में समान सन्दर्भों में परम्परित रूप से आवृत होने वाले तत्त्व रूढ़ियाँ कहे जाते हैं। कलाकृतियों में इस प्रकार के तत्त्वों का समावेश प्रायः समान उद्देश्य अर्थात् एक ही मनःस्थिति अथवा भाव को जागरित करने के लिए किया जाता है। ये तत्त्व अधिकतर ऐसे कौशल होते हैं जिनके आश्रय से कलाकार अपनी कृतियों में अभिव्यक्तिगत लाघव उत्पन्न करना चाहते हैं।

इन तत्त्वों का समावेश कलाकृतियों में अनेक रूपों में होता है। कभी तो ` तत्त्व रूप-विधान से सम्बद्ध होते हैं, कभी अभिव्यक्ति-माध्यम से, और कभी विचार अथवा भाव से।

साहित्यिक कलाकृतियों के प्रधानतः दो प्रमुख पक्ष माने जा सकते हैं— (१) अभिव्यक्ति पक्ष, और (२) अभिव्यंग्य पक्ष। अभिव्यक्ति पक्ष में एक ओर तो वह अमूर्त भाव अथवा विचार रहता है जिसकी अभिव्यक्ति करना कवि का अभीष्ट होता है, दूसरी ओर वे मूर्त पदार्थ रहते हैं, जो प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत विधान के रूप में भाव और विचार के आधार बनते हैं। पहले को वर्ण्य प्रसंग और दूसरे को वर्ण्य पदार्थ कहा जा सकता है। अभिव्यक्ति पक्ष में अभिव्यक्ति-माध्यम अर्थात् भाषा एवं छन्द, रूप-विधान अर्थात् शैली, और रचना-प्रक्रिया ये तीन प्रधान अंग कहे जा सकते हैं। काव्यगत रूढ़ियाँ

उपर्युक्त दोनो पक्षो के सभी अंगों से पृथक्-पृथक् सम्बद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार, काव्यरूढियो के, मोटे तौर पर, ये भेद माने जा सकते हैं—

(१) वर्ण्य प्रसग सम्बन्धी रूढ़ियाँ

(२) वर्ण्य पदार्थ सम्बन्धी रूढियाँ

(३) भाषा एवं छन्द सम्बन्धी रूढियाँ

(४) रूप-विधान सम्बन्धी रूढियाँ

(५) रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी रूढियाँ

१ **वर्ण्य प्रसंग सम्बन्धी रूढ़ियाँ**—जैसे, प्रेम-प्रसगो में समान वियोग-दशाओ का वर्णन, रूप-वर्णन मे समान पद्धति से नखशिख-वर्णन; नायक-नायिकाओ के समान भेदो के अनुसार उनके समान गुणधर्मो का कथन, युद्ध-वर्णन मे पक्ष और विपक्ष दोनो ओर की चेष्टाओ और मन स्थितियो का एक ही क्रम और पद्धति से वर्णन, आदि।

२. **वर्ण्य पदार्थ सम्बन्धी रूढ़ियाँ**—जैसे, संन्ध्या, उषा, नगर, उद्यान, सरित्, ऋतु, आकाश, चन्द्रमा और स्वयवर आदि के प्राय समान रूपो का समान प्रसगो मे उल्लेख।

३. **भाषा एवं छन्द सम्बन्धी रूढ़ियाँ**—जैसे, प्राचीन सस्कृत-नाटको में स्त्रियो एव भृत्यो द्वारा केवल प्राकृत भाषाओ के सवाद की पद्धति, प्रबन्ध-काव्यो मे सर्ग के अन्त मे छन्द-परिवर्तन का रूढ विधान, आदि।

४ **रूप-विधान सम्बन्धी रूढ़ियाँ**—जैसे, प्रबन्धकाव्यों में सर्गों की निर्धारित सख्या का समान रूप से पालन, नाटक (रूपक) के विविध भेदो मे अको की नियत सख्या का अनुसरण, नाटको के आदि मे नान्दीपाठ और अन्त मे भरतवाक्य का समावेश, मुक्तक काव्य मे रचयिता कवि के नाम के सन्निवेश की प्रथा, आदि।

५. **रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी रूढ़ियाँ**—जैसे, नाटको में सन्धियों और संन्ध्यगो की प्रथा का पालन; सकलन-त्रय की पद्धति का अनुसरण; नाटक (रूपक) के विविध रूपों में कथानक की योजना और उसके विस्तार की समान प्रक्रिया का पालन; आख्यान-काव्यो में कथानक-निर्माण के समान तत्त्वो का सन्निवेश, आदि।

अशास्त्रीय अलौकिक और परम्परायात अर्थों (पदार्थों) का उपनिबन्धन कविसमय है। रूढ़ियों के उपर्युक्त विश्लेषण में कविसमय का सम्बन्ध द्वितीय कोटि की रूढ़ियों से अर्थात् वर्ण्य पदार्थ सम्बन्धी रूढ़ियों से ही अनुमित हो सकता है। यह देखने के लिए कि कविसमयगत वर्णन-परम्पराओं का इस कोटि की रूढ़ियों से भेद है अथवा नहीं, और यदि है तो किस प्रकार का रूढ़ियों के स्वभाव के सम्बन्ध में विचार कर लेना अपेक्षित है।

सामान्यतः, काव्य की श्रेष्ठता और प्रभावोत्पादकता की रक्षा के लिए रूढ़ियों के पालन की वृत्ति अवांछित मानी जाती है। इसका कारण यही है कि अभिव्यंग्य अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष के जो भी तत्त्व रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होते हैं, उनमें नवीन सौन्दर्य-संवेदन प्रदान करने की क्षमता का ह्रास हो जाता है। काव्य की प्रभावोत्पादकता नित्य नवीन सौन्दर्यानुभूति में निहित रहती है। काव्य के ग्राहक-वर्ग की अभिरुचियाँ बदलती रहती हैं, अतः सौन्दर्यानुभूति कराने के कौशलों और तत्त्वों में भी परिवर्तन आवश्यक होता है। जहाँ वे कौशल और तत्त्व अपरिवर्तनशील होने लगते हैं, वहीं काव्य की मार्मिकता के लिए अवांछित हो उठते हैं।

रूढ़ियों में यान्त्रिक पिष्टपेषण रहता है। उनके आश्रय से वे कवि जिनमें प्रातिभ ज्ञान अथवा नवीन उद्भावना शक्ति का अभाव रहता है, आसानी से लीक पकड़ कर काव्य-रचना में समर्थ होते हैं, किन्तु उनकी कृतियों में पर्याप्त प्रभावोत्पादकता नहीं आ पाती।

कविसमय में अनेक पदार्थों के विशिष्ट विलक्षण (अशास्त्रीय और अलौकिक) रूपों का परम्परायात वर्णन तो रहता है, किसी भी सन्दर्भ में स्वयं उन पदार्थों के यान्त्रिक वर्णन का निर्देश कविसमय में कदापि नहीं किया गया है। तात्पर्य यह कि कवि अपनी पूर्ण स्वतन्त्र वृत्ति से प्रकृति के व्यापक क्षेत्र का निरीक्षण करके उसके किन्हीं भी उपादानों का वर्णन कर सकता है, वह चाहे तो कविसमयगत पदार्थों की अवहेलना भी कर सकता है। किन्तु यदि वह कविसमयगत पदार्थों को ग्रहण करे तो काव्य-सौकर्य के लिए यह अपेक्षित है कि वह उनके सामान्य परम्परित रूपों को ही ग्रहण करे, चाहे वह उनके आधार पर किसी भी भाव की व्यंजना क्यों न करता हो। काव्यशास्त्र में कविसमय के प्रथम पुरस्कर्ता राजशेखर, कवि की स्वतन्त्र अनुसन्धान-वृत्ति के पूर्ण पक्षपाती थे। उनके अनुसार अनुसन्धानशून्य कवि के

भूषण भी दूषण बन जाते हैं, और सावधान कवि के दूषण भी भूषण हो जाते हैं।[1]

ऊपर वर्ण्य पदार्थ सम्बन्धी जिन रूढ़ियों का उल्लेख किया गया है, काव्य में उनका समावेश नवीन उद्भावना के मार्ग को रुद्ध करने वाला होता है, प्रायः उन पदार्थों के उपमान-उपमेय सम्बन्ध भी रुढ़ हो जाते हैं, उनके वर्णन का क्रम और पद्धति भी बँधे बँधाए ढाँचे पर होने लगते हैं। अधिक रूढ़ होने पर एक निश्चित क्रम से बर्ण्य पदार्थों की सूची प्रस्तुत कर दी जाती है। कविसमय के अनुसार पदार्थों के वर्णन में इस प्रकार के यांत्रिक पिष्ट-पेषण की कोई सम्भावना नहीं रहती। पदार्थ-विशेष के कविसमयसिद्ध रूप को लेकर, कवि चाहे तो उसके वर्णन द्वारा अपनी प्रतिभा के बल से मार्मिक भाव-व्यंजना कर सकता है, अथवा पदार्थ के उस रूप को कृत्रिम चमत्कार-प्रदर्शन का भौंडा साधन मात्र बना सकता है। जैसे, सन्ध्या समय चकवा-चकई का बिछुड़ना, कमल का मुँदना और कुमुद का खिलना आदि। असत् निबन्धन के कविसमयगत विधान वहाँ अवश्य ही चारुत्वहीन हो जाते हैं जहाँ कवि महोदय सैन्य-प्रस्थान से उड़ने वाली धूल से सूर्य के अस्त हो जाने का भ्रम मानकर, उन उपादानों की तत्तत् क्रियाओं को सम्पन्न होता दिखाने लगते हैं।

कविसमयगत पदार्थ-वर्णन और रूढ़िगत पदार्थ-वर्णन इन दोनों में स्पष्ट पार्थक्य है। दोनों में क्षीण सी समानता का आधार है इनका समान रूप से परम्परापोषित होना। वास्तव में इनकी एकता का भ्रम उत्पन्न करने का श्रेय परवर्ती अलंकार-शास्त्रियों को ही अधिक है। केशवमिश्र ने अलंकारशेखर की १५ वीं मरीचि में कविसम्प्रदायगत असत् निबन्धन, सत् अनिबन्धन और नियम निबन्ध का यथोचित उल्लेख करने के पश्चात् १६ वीं मरीचि में अलग से रूढ़िगत वर्णनीय पदार्थों का सविस्तर उल्लेख किया है, और उसे भी कविसम्प्रदाय के अन्तर्गत मान लिया है। इसी प्रकार, केशवदास ने कविप्रिया के कवि-व्यवस्था-वर्णन नामक चौथे प्रभाव में कविसमयगत पदार्थों का यथोचित उल्लेख करके आगे के चार प्रभावों में सामान्यालंकार के अन्तर्गत रूढ़िगत वर्ण्य पदार्थों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

---

1. अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते ॥—काव्यमीमांसा, अध्याय १८

कविसमयगत पदार्थ-वर्णन का रूढ़िगत पदार्थवर्णन से पार्थक्य सबसे स्पष्ट रूप में तब सामने आता है जब हमारी दृष्टि संस्कृत के हर्षोत्तरकालीन उन काव्यों पर जाती है जिनमें पदार्थ सम्बन्धी वर्णन-रूढ़ियों का तो प्रचुरता से पालन हुआ है, किन्तु कविसमय पर आधृत भाव-व्यंजना की दृष्टि से जो पर्याप्त दीन हैं। बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हिन्दी के रीतिकालीन काव्य की है। इसके विपरीत हिन्दी के द्विवेदी-युगीन और छायावाद-युगीन काव्यों में कविसमयगत अर्थों का प्रचुरता से समावेश हुआ है, जब कि रूढ़िगत पदार्थ-वर्णन के प्रति उन काव्यों में विद्रोह का भाव है।

पदार्थ-वर्णन सम्बन्धी रूढ़ियाँ कवि को नवीन भावाभिव्यंजन की स्फूर्ति प्रदान करने में सहायक नहीं होतीं, क्योंकि उनका पालन करने में वस्तु का महत्त्व भाव की अपेक्षा अधिक हो जाता है। कविसमय में वस्तु की अपेक्षा भाव की प्रधानता रहती ह क्योंकि उसकी मूलवृत्ति ही वस्तु को विशेष चारुत्व से मंडित करके उसके आधार पर भावाभिव्यंजना के उत्कर्ष की रहती है।

आचार्य राजशेखर ने अपनी स्वतंत्र अनुसन्धान-वृत्ति से काव्यमीमांसा में कविसमय की पुष्ट स्थापना की थी। स्वयं उनका कथन है कि काव्य में सोये से पड़े कविसमय को उन्होंने विबोधित किया। परवर्ती काव्यशास्त्र में यद्यपि कविसमय का स्वतंत्र विवेचन विशेष विकसित नहीं हुआ, किन्तु मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ प्रभृति मूर्धन्य आचार्यों द्वारा उसकी महत्ता स्वीकार की गई।

हिन्दी में सर्वप्रथम, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने, लगभग बीस वर्ष पहले, कविसमय सम्बन्धी संक्षिप्त, किन्तु गम्भीर, गवेषणा प्रस्तुत की थी। जैसा कि द्विवेदी जी ने बताया, उनका विचार कविसमय का सर्वांगीण विस्तृत अनुशीलन उपस्थित करने का था, किन्तु अन्य कार्यों की व्यस्तता से वह न हो सका। प्रस्तुत प्रबन्ध रूप प्रयास में उपर्युक्त काव्यशास्त्रियों की मर्मगूढ़ वाणी के व्यापक अर्थों को समझने का उद्देश्य निहित है।

—विष्णुस्वरूप

विषय-सूची

पृष्ठ

संकेतचिह्न-सूची १–४

प्रस्तावना

(१) **विषय का महत्व और सीमाविस्तार :** काव्यसौन्दर्य का आधार वस्तु-जगत्—काव्य-वस्तु के चारुत्व में कल्पना का आश्रय—देशकालभेद से सौन्दर्यादर्शों में अन्तर—वस्तु के सहज सुन्दर न होने पर उसके कृत्रिम सुन्दर रूप का ग्रहण—साधारणीकरण के लिए वस्तुसौन्दर्य का सामान्य स्वीकृत रूप अपनाया जाना आवश्यक—काव्य-वस्तु की एकरूपता सुरक्षित रखने वाली परम्पराएँ—ये अभिव्यंजन कौशलरूप काव्यरूढ़ियों से भिन्न—काव्यानुशीलन में इनके सम्यक् ज्ञान की उपादेयता—कतिपय उदाहरण—काव्य को जातीय गुण प्रदान करने वाले तत्वों में इनकी प्रधानता—विभिन्न देशों के सौन्दर्यबोधों को समझने में ये परम्पराएँ सहायक—चातक-स्वर का उदाहरण—इन परम्पराओं के विश्लेषण से मानवीय अन्तर्जगत के दर्शन सम्भव हैं—इनसे विविध युगों के सौन्दर्यबोध का परिचय भी—इनके विषय में अनुसंधान के अन्य लाभ—काव्य-रचनाओं का मूलपाठ-शोधन, निर्माणकाल-निर्धारण और अर्थसंगत पाठ-सम्पादन—उदाहरण। ५–११

(२) **इस क्षेत्र में हुआ कार्य :** काव्यशास्त्र में इन परम्पराओं के नाम, सामूहिक बोध के लिए 'कविसमय', पृथक्-पृथक् परम्पराओं के लिए 'कविप्रसिद्धियाँ'—इनके विशद् अध्ययन की ओर विद्वानों की व्यापक रुचि का अभाव—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कविप्रसिद्धियाँ' शीर्षक लेख, उसका महत्व—परवर्ती लेखक, दिवाकरमणि त्रिपाठी, गुलाबराय। ११–१२

—पृष्ठ

(३) **प्रस्तुत कार्य का लक्ष्य, अनुसन्धान-प्रणाली, और प्रबन्ध-योजना :** लक्ष्य—हिन्दी-काव्य में व्याप्त कविसमयगत अर्थों का उनके मूलस्रोतों के सन्दर्भ में अनुसन्धान—प्राप्त निष्कर्षों को अन्तिम और पूर्ण सत्य कहने का दावा नहीं। अनुसन्धान-प्रणाली—प्रमुख कवियों के काव्यों में इन परम्पराओं को लक्ष्य करना—लक्षण ग्रंथों में निर्दिष्ट कविप्रसिद्धियों के साथ उनकी तुलना—सैद्धान्तिक निरूपण में काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचन द्रष्टव्य—कविसमय का विचार करने वाले लक्षण-ग्रंथों की कालक्रमानुसार सूची—प्रवृत्तियों का निर्धारण—उसके आधार पर पदार्थों के प्रकृत धर्मों का निरूपण—इसके लिये ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं में प्रवेश—व्यक्तिगत निरीक्षण और विशिष्ट ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों से जिज्ञासा द्वारा पदार्थों के लौकिक रूपों का ज्ञान—इस समस्त छानबीन के अवान्तर परिणाम भी—कविसमय-गृहीत पदार्थों के अप्रकृत धर्मों के कारणों की खोज—प्रत्येक कविप्रसिद्धि का ऐतिहासिक दृष्टि से विकास। प्रबन्ध-योजना—वर्गीकरण, पदार्थों के प्रस्तुत जातिगत वर्गीकरण के लाभ—उद्धरण, प्रतिनिधि उद्धरण ही प्रस्तुत किये गये हैं—प्रसिद्ध उपमान, पदार्थों से सम्बद्ध उपमेय-उपमान-सन्दर्भों का बोध कराने के लिए प्रसिद्ध उपमानों का संकलन—इसके अन्य उपयोग भी सम्भव—चित्र, पदार्थों के अपरचित रूपों का निकटतर परिचय देने के उद्देश्य से। १३–१८

(४) **निष्कर्ष और उपलब्धियाँ।** १८

खण्ड—१, सैद्धान्तिक पक्ष (कविसमय का स्वरूप)

कविसमय, अर्थ और पारिभाषिकता : कवियों का समान आचरण, इस शब्द का प्रथम प्रयोग काव्यमीमांसा में—वामन द्वारा 'काव्यसमय' शब्द का उल्लेख—राजशेखर द्वारा की गई व्याख्या—कवियों द्वारा उपनिबद्ध अशास्त्रीय

पृष्ठ

अलौकिक और परम्परायात अर्थ—राजशेखर की युक्ति, प्राचीन विद्वानों के ज्ञान का प्रमाण—राजशेखर से पूर्व कविसमय की स्थिति—राजशेखर के पश्चात् के लक्षण-ग्रंथों में कविसमय का उल्लेख—इसी अर्थ में प्रयुक्त अन्य शब्द, 'काव्यसमय', 'कविसम्प्रदाय', 'कविमत'—प्रयोग-बाहुल्य से 'कविसमय' शब्द ही ग्राह्य—'समय' शब्द का किंचित् भिन्न अर्थों में भी प्रयोग, उदाहरण । १९–२३

कविसमय, प्रमुख लक्षण : केवल राजशेखर द्वारानिर्दिष्ट—(१) कवियों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ–(२) अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थनिबन्धन—(३) परम्परायात अर्थनिबन्धन । २४–२८

प्रमुख प्रवृत्तियाँ : (१) असत् निबन्धन—(२) सत् अनिबन्धन—(३) नियमनिबन्धन—जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया भेद से इन तीनों की उपप्रवृत्तियाँ—सबके उदाहरण। निष्कर्ष: वस्तु को चारुत्व से मण्डित करना, कविसमय का मूल उद्देश्य—कविसमय में गृहीत वस्तु नितान्त अस्तित्वहीन अथवा काल्पनिक नहीं होती । २९–३२

काव्यशास्त्र में कविसमय का स्थान : (१) कविशिक्षा रूप—(२) अलंकार-साधन रूप—(३) दोषापहार एवं गुणत्व रूप—(४) ध्वनि-व्यंजना रूप—(५) औचित्य रूप । निष्कर्ष: कविसमय काव्यमात्र का हित-साधक है । ३३–३९

खण्ड—२, व्यावहारिक पक्ष (कवि-प्रसिद्धियाँ)

वनस्पति वर्ग—(१)

पद्म : नदियों और समुद्र में होना—केवल दिन में विकसित होना—हेमन्त और शिशिर को छोड़कर अन्य सब ऋतुओं में होना—कुड्मल हरे न होना । ४२–५०

नीलोत्पल : नदियों और समुद्र में होना—दिन में विकसित न होना । ५१–५२

कुमुद : नदियों और समुद्र में होना—रात्रि में विकसित होना । ५३–५५

कुन्द : कुड्मल लाल न कहना । ५६–५८

पृष्ठ

मालती : वसन्त ऋतु में न होना । ५९–६१

शेफालिका : सूर्योदय से पहले ही झरना । ६२–६३

भूर्जपत्र : हिमालय पर ही उत्पन्न होना । ६४–६६

चन्दन : मलय पर्वत पर ही उत्पन्न होना—पुष्प और फल का अभाव । ६७–७१

वनस्पति वर्ग—(२), वृक्षदोहद

वृक्षदोहद : (१) काव्य एवं काव्यशास्त्र में प्राप्त उल्लेखों का सामान्य विचार—(२) वृक्षदोहद का उत्स । ७३–८३

प्रियंगु : पुष्पों को पीला न कहना—स्त्रियों के स्पर्श से विकसित होना । ८४–८५

बकुल : स्त्रियों की मुखमदिरा से सिंच कर विकसित होना । ८६–८८

अशोक : फल न होना—स्त्रियों के पादाघात से विकसित होना । ८९–९४

तिलक : स्त्रियों द्वारा ध्यान पूर्वक देखे जाने से विकसित होना । ९५–९६

कुरबक : स्त्रियों के आलिंगन से विकसित होना । ९७–९८

मन्दार : स्त्रियों के नर्मवाक्य से विकसित होना । ९९–१००

चम्पक : स्त्रियों के पटु मृदु हास्य से विकसित होना । १०१–१०२

सहकार : स्त्रियों की मुख-वायु से विकसित होना । १०३–१०५

नमेरु : स्त्रियों के गान से विकसित होना । १०६–१०७

कर्णिकार : स्त्रियों के नृत्य से विकसित होना । १०८–११०

पक्षि-वर्ग—

हंस : वर्षाकाल में मानसरोवर को प्रस्थान—जलाशय मात्र में होना—नीर-क्षीर-विवेक—केवल मोती चुगना । ११२–१२५

मयूर : वर्षाकाल में ही बोलना और नाचना । १२६–१३०

कोकिल : वसन्त में ही कूकना । १३१–१३६

पृष्ठ

चक्रवाक-मिथुन : रात्रि-वियोग । १३७–१४३

चकोर : चन्द्रिका-पान—अंगार चुगना । १४४–१४९

चातक : मेघों से प्रेम । १५०–१५५

रत्नवर्ग—

सुवर्णरत्नादि : पर्वतमात्र में होना—सर्वत्र समुद्र में होना । १५७–१६२

मोती : केवल ताम्रपर्णी नदी में होना । १६३–१६५

वारिवर्ग—

समुद्र : क्षीर और क्षार समुद्रों में अभेद—सागर और महार्णव में अभेद । १६७–१७०

मकर : समुद्र में ही होना । १७१

शैवाल : सर्वत्र जल में होना । १७२–१७३

आकाश-वर्ग—

ज्योत्स्ना : अंजलि-ग्राह्य और घड़े में भरने योग्य होना—कृष्णपक्ष में अभाव । १७५–१७८

तिमिर : सूचीभेद्य और मुष्टिग्राह्य होना—शुक्लपक्ष में अभाव । १७९–१८१

वर्णवर्ग—

शुक्ल-गौर : (१) अभेद—(२) अनेक पदार्थों को शुक्ल कहने का विधान । १८३–१८७

पीत-रक्त : (१) अभेद—(२) कतिपय पदार्थों को पीत कहने का विधान—(३) कतिपय पदार्थों को रक्त कहने का विधान । १८८–१९१

नील-हरित-कृष्ण : (१) अभेद—(२) कतिपय पदार्थों को कृष्ण-वर्ण कहने का विधान । १९२–१९७

आंखों के अनेक रंग : शुक्लता, कृष्णता, रक्तिमा आदि । १९८–२००

संख्या वर्ग—

भुवन : संख्या तीन, सात और चौदह । २०२–२०३

पृष्ठ

समुद्र : संख्या चार और सात। २०४–२०६

दिशाएँ : संख्या चार, आठ और दस। २०७–२०८

विद्याएँ : संख्या चार, चौदह और अठारह। २०९–२१२

शृंगार : संख्या सोलह। २१३–२१५

स्वर्ग्य वर्ग—

नारायण, विष्णु, शेष, कूर्म आदि : अभेद। २१७–२१९

लक्ष्मी : पद्म में वास, सम्पद् से अभेद। २२०–२२२

आदित्य : बारहों आदित्यों का अभेद। २२३–२२४

चन्द्रमा : अत्रिनेत्र और समुद्रोत्पन्न चन्द्रमा में अभेद—शिवचन्द्र का सदा बालरूप—चन्द्रमा में शश और मृग का अभेद। २२५–२३०

कामदेव : मूर्त और अमूर्त—पुष्पमय धनुषबाण—प्रत्यंचा भ्रमरपंक्ति, बाणों से युवकों के हृदयबिद्ध होना। २३१–२४३

पातालीय वर्ग—

दैत्य, दानव और असुर : अभेद। २४५–२४९

नाग और सर्प : अभेद। २५०–२५३

संकीर्ण कविप्रसिद्धियाँ—

(अ) भाषा और व्याकरण सम्बन्धी कविसमय। २५५–२५७

(आ) देवताओं और मनुष्यों का वर्णन। २५८–२६२

(इ) प्रकीर्णक। २६२–२६३

उपसंहार : हिन्दी काव्य में कविसमय की स्थिति। २६६–२७५

परिशिष्ट १—(क) लक्षण ग्रंथों से कविसमय के विवेचनपरक अंशों के उद्धरण। २७७–२८९

(ख) कविप्रसिद्धियों के उल्लेखों की तालिका। २९०–२९५

परिशिष्ट २—प्रसिद्ध उपमान। २९६–३०५

परिशिष्ट ३—सहायक साहित्य। ३०६–३११

संकेत-चिह्न-सूची

[इस सूची में आये ग्रंथों का विवरण कृपया परिशिष्ट-३ में देखिये]

अ.	अध्याय
अमर.	अमरकोश
अग्निपु.	अग्निपुराण
अथर्व.	अथर्ववेद
अलंचिन्ता,	अलंकार-चिन्तामणि
अलंशे.	अलंकार-शेखर
आप्टे सं.	वा. शि. आप्टेकृत संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश
इंट्री.	इंडियन ट्रीज़ (ब्रैंडिस)
इतिहास.	हिन्दी साहित्य का इतिहास (शुक्ल)
उदा.	उदाहरण, उदाहरणार्थ
ऋक्.	ऋग्वेद-संहिता
ऋतु.	ऋतुसंहार (कालिदास-ग्रंथावली)
कबीर ग्रं.	कबीर-ग्रंथावली
कविकल्प.	कविकल्पलता
कवित्त रत्ना.	कवित्त रत्नाकर (सेनापति)
कविता.	कवितावली (तुलसी-ग्रंथावली)
कविप्रि.	कविप्रिया (केशव-ग्रंथावली)
कामा.	कामायनी
काव्यकल्प.	काव्यकल्पलतावृत्ति
काव्यानु.	काव्यानुशासन
काव्यप्र.	काव्यप्रकाश
काव्यमी.	काव्यमीमांसा
किरात., किराता.	किरातार्जुनीयम्
कीर्ति.	कीर्तिलता
कुमार.	कुमारसम्भव (कालिदास-ग्रंथावली)
गरुड़पु.	गरुड़पुराण

गीतगो.	गीतगोविन्द
गीता.	भगवद्गीता
घन ग्रं, सुजान	सुजानहित (घनआनंद-ग्रंथावली)
घन ग्रं, पद	पदावली (घनआनंद-ग्रंथावली)
चरक	चरक-संहिता
टि.	टिप्पणी
टी.	टीका
तु.	तुलना कीजिये
दे.	देखिये
दोहा.	दोहावली (तुलसी-ग्रंथावली)
धन्नि.	धन्वन्तरि निघंटु
नैषध.	नैषधीय चरित
पंत	आधुनिक कवि २, (पन्त)
पउम च.	पउमचरियम्
पदमा.	पदमावत (जायसी-ग्रंथावली)
परि.	परिशिष्ट
पा. टि.	पाद-टिप्पणी
पु.	पुष्प
पृ.	पृष्ठ
प्र.	प्रकरण
बरवै.	बरवै रामायण (तुलसी-ग्रंथावली)
बिहारी	'बिहारी' ग्रंथ
बृहत्सं.	बृहत्संहिता
बृहन्नि.	बृहन्निघंटुरत्नाकर
भावप्र.	भावप्रकाश
भारत.	महाभारत
भूषण	'भूषण' ग्रंथ
मति. सत.	मतिराम सतसई (मतिराम-ग्रंथावली)
मल्लि टी.	मल्लिनाथी टीका
महादेवी	आधुनिक कवि–१, (महादेवी)
मानस.	रामचरितमानस

मालविका.	मालविकाग्निमित्र
मार्कण्डेयपु.	मार्कण्डेय पुराण
मेघ.	मेघदूत (कालिदास-ग्रंथावली)
मोनियर	मोनियर विलियम्स कृत संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश
यजु:.	यजुर्वेद संहिता
याज्ञ.	याज्ञवल्क्य संहिता
रघु-	रघुवंश (कालिदास-ग्रंथावली)
राजनि.	राजनिघंटु
रामचन्द्रिका.	रामचन्द्रचन्द्रिका (केशव-ग्रंथावली)
रामा.	वाल्मीकीय रामायण
व.	वर्ग
विक्रम.	विक्रमांकदेव चरित
विक्रमो.	विक्रमोर्वशीयम् (कालिदास-ग्रंथावली)
विद्या, विद्या पद.	विद्यापति की पदावली
विनय.	विनयपत्रिका (तुलसी-ग्रंथावली)
शत ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
शब्दकल्प.	शब्दकल्पद्रुम
शब्दरसा.	शब्दरसायन
शब्दसागर.	हिन्दी-शब्दसागर
शाकुन्तल.	अभिज्ञान शाकुन्तल (कालिदास-ग्रंथावली)
शिशु.	शिशुपालवध
सं रासो.	संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो
स.	सर्ग
सुभाषित	सुभाषित रत्नभाण्डागारम्
सुश्रुत.	सुश्रुत-संहिता
सूर.	सूरसागर

प्रस्तावना

(१) विषय का महत्व और सीमाविस्तार

काव्य-मात्र मानवीय सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति है। वस्तु-जगत् उसका प्रधान उपजीव्य है। काव्य-निर्माण में कल्पना का योग अनिवार्य-सा है, किन्तु मानव की सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना भी वस्तु-जगत् से सर्वथा असम्पृक्त नहीं होती। वस्तुतः कल्पना की प्रधान उपयोगिता सौन्दर्यानुभूति के उत्कर्ष में है, और सौन्दर्य का मौलिक आधार वस्तु-जगत् है। कल्पना की उच्चता और प्रखरता के अनुपात से सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता और गम्भीरता में वृद्धि होती है, और उसी अनुपात में, वस्तु का गृहीत रूप स्थूल सत्तात्मक से क्रमशः सूक्ष्मतर और भावात्मक होता चलता है।

वस्तु, प्रस्तुत हो अथवा अप्रस्तुत, श्रेष्ठ काव्य में प्रवेश पाने के लिये उसका चारुत्व सर्वथा अपेक्षित है। अप्रस्तुत वस्तु-योजना का उद्देश्य, मूलतः, प्रस्तुत वस्तु के चारुत्व का अभिव्यंजन ही होता है। अप्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य की उत्कृष्टता प्रायः पहले से मान्य रहती है; यदि वह स्वतः सिद्ध नहीं है, तो भावनाकूल आवश्यक संसार-परिष्कार आदि के द्वारा उसे आदर्श रूप में प्रतिष्ठित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया में, और साथ ही प्रस्तुत से उसका सम्बन्ध स्थापित करने में, कल्पना के सहारे अनेक प्रकार की अतिरंजनाएँ होती हैं। उनके पीछे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से विशिष्ट सौन्दर्य-मूल्य निहित रहते हैं। वस्तु के प्रकृत गोचर रूप से सौन्दर्य-मूल्यों का सामंजस्य स्थापित करना कवि अथवा कलाकार का प्राथमिक कर्तव्य रहता है, उसकी अन्तिम सफलता बहुत अंशों में इस कर्तव्य की पूर्ति पर ही निर्भर करती है। उसके प्रातिभज्ञान अथवा सहज शक्ति का रहस्य इसी में निहित रहता है।

सौन्दर्यानुभूति देशकालातीत होने पर भी, सौन्दर्य के विशिष्ट आदर्श, अवश्य ही देश और काल की सीमाओं से आबद्ध रहते हैं। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में सौन्दर्य के पृथक्-पृथक् आदर्श जन्म लेते और पोषित होते हैं, तथा युगानुरूप भावनाओं से वे संस्कार ग्रहण करते चलते हैं; विकास और ह्रास के क्रम भी उनमें विद्यमान रहते हैं। सौन्दर्यादर्शों के विभेद से सौन्दर्य के आलम्बन भी निरन्तर एकरूप नहीं रहते। अपरिवर्तनीय केवल यह है कि काव्य-कला में वस्तु का सदैव ऐसा रूप गृहीत हो जिसमें भावात्मक स्पन्दन उत्पन्न करने की क्षमता हो, रागात्मक अनुभूति से जिसका अधिक से अधिक

ऋजु सम्बन्ध हो। वस्तु के ऐसे ही रूप को व्यापक अर्थ में सुन्दर कहा जाता है, और उसके प्रति रागात्मक वृत्ति को सौन्दर्यानुभूति।

देशकाल-भेद से पदार्थों और उनके धर्मों में अन्तर होने के कारण, एक ओर तो, उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ भिन्न होती हैं, साथ ही युग और समाज की परिवर्तनशील अभिरुचियों द्वारा उनके गृहीत होने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं। इस कारण काव्यवस्तु के विषय में किसी प्रकार के कठोर नियम सम्भव नहीं हैं। कवियों की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ और रुचियाँ भी इस बात का निर्धारण करती हैं कि वे किन वस्तुओं के कौन से रूपों से प्रभावित होकर उन्हें काव्य में प्रतिष्ठित करें। किन्तु एक सामान्य नियम यह अवश्य लक्ष्य किया जा सकता है कि वस्तु के सहज सुन्दर न होने पर, कवि की भावना से अनुप्राणित उसका यत्किंचित् कृत्रिम सुन्दर रूप गृहीत होता है। सौन्दर्य-भावनाएँ सदैव शास्त्र और लोक-अनुवर्तिनी नहीं होतीं, उनकी स्वच्छन्द वृत्ति निरन्तर शास्त्र और लोक का अतिक्रमण करती रहती है। उनकी चरितार्थता भी इसी में है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक बार पदार्थों के शास्त्र और लोक से अनुमोदित प्रकृत रूपों से भिन्न रूप काव्य-कला में ग्राह्य होते हैं। इतना होने पर कवियों की विविध रचनाओं में एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूपों का अभिव्यक्ति पाना सम्भव है, अर्थात् पदार्थों की अनेकरूपता के साथ ही पदार्थ-विशेष के धर्मों की अनेकरूपता भी काव्य-समष्टि में दृष्टिगत हो सकती है।

कवियों की विशिष्ट सौन्दर्यवृत्तियों में सूक्ष्म अन्तर रहते हुए भी, समान परिस्थितियों में उनमें व्यापक साम्य रहता है। सामूहिक सौन्दर्यादर्शों की स्थिति उसी साम्य के कारण सम्भव होती है। काव्य में उसका व्यावहारिक उपयोग कम महत्वपूर्ण नहीं है। काव्य की सार्थकता साधारणीकरण में है। इसका तात्पर्य है कि विविध काव्य-रचनाओं में मूलतत्वों की ऐसी एकरूपता विद्यमान हो जो सहृदय-मात्र के लिये अनायास बोधगम्य बन सके, अर्थात् व्यक्ति कवि के सौन्दर्यादर्श जनसमाज के सौन्दर्यादर्शों की संगति में हों। इसके लिए अपेक्षित है कि वस्तु-विशेष के माध्यम से विभिन्न भावों की अनुभूति कराने पर भी, काव्यपरम्परा में उसके सामान्य स्वीकृत रूप को अपनाया जाए।

इस आवश्यकता से विभिन्न जातियों के काव्यों में ऐसी परम्पराएँ प्रचलित रही हैं, जिनके आधार पर काव्यवस्तु की एकरूपता सुरक्षित रहती है।

काव्य-साहित्य के उत्तरोत्तर विकास में इस प्रकार की परम्पराएँ क्रमशः अधिक पुष्ट और मूलवद्ध होती चलती हैं। इनमें से जो परम्पराएँ पदार्थों के अशास्त्रीय और अलौकिक रूपों को लेकर चलती हैं, उनका स्वभाव ऊपर से देखने पर विलक्षण एवं निराधार सा जान पड़ता है, किन्तु उनमें निहित सौन्दर्यादर्शों एवं उन्हें परिचालित करने वाली भावनाओं की, गहराई से खोज करने पर, दृश्यमान असंगतियों के भीतर से काव्यात्मक संगतियाँ उद्‌घाटित होती हैं।

इस प्रकार की परम्पराओं को काव्यरूढ़ियाँ कहना बहुत सीमा तक उचित न होगा। रूढ़ियाँ प्रायः काव्य के वे तत्व होते हैं, जिनमें परिवर्तित अभिरुचियों का संतोष करने की क्षमता नहीं रह जाती और जो नवीन उद्‌भावनाओं के मार्ग में बाधक बनते हैं। उस प्रकार के तत्व अधिकतर काव्य के अभिव्यंजन-कौशलों से ही सम्बद्ध रहते हैं। काव्य के अभिव्यंग्य तत्व यदि रूढ़ि बनते हैं तो अभिव्यंजनगत रूढ़ियों के सम्पर्क से ही, उनका स्वभाव स्वतः रूढ़ि बनने का कदापि नहीं होता। इसके विपरीत वे निरन्तर नवीन अभिव्यक्तियों के प्रेरक रहते हैं। दूसरे शब्दों में उनका चारुत्व अभिव्यंजन-कौशलों के चारुत्व के समान क्षीण नहीं होता, अपितु स्थायी रहता है। उक्त प्रकार की परम्पराएँ निश्चय ही काव्य-वस्तु-रूप अभिव्यंग्य तत्व से सम्बद्ध हैं। इनके रूढ़ि न होने का एक बड़ा प्रमाण यह है कि रूढ़ियों के प्रति उग्र से उग्र विद्रोहों को पार करके भी इनका अस्तित्व सुरक्षित रहता है।

संस्कृत और हिन्दी के दीर्घकालव्यापी काव्य-साहित्य में इस प्रकार की अनेक पुष्ट परम्पराएँ विद्यमान हैं। चाहे केवल रसानुभूति के उद्देश्य से हो, अथवा वर्तमान और भविष्य के लिए उपयोगी प्रेरणा प्राप्त करने के उद्देश्य से, उस काव्य-सम्पदा का गम्भीर अध्ययन एवं आकलन नितान्त महत्वपूर्ण है। उसकी पूर्णता, उक्त परम्पराओं के सम्यक् ज्ञान और विशद् विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं है। काव्य के पूर्णतर मर्म के बोध की तो बात ही क्या, अनेक प्रसंगों के यथेष्ट संगत अर्थ की उपलब्धि भी उस पक्ष की अवहेलना से असम्भवप्राय है। कतिपय उदाहरणों द्वारा इस कथन की पुष्टि होगी।

(क) वन को जाते राम के मार्ग की गंगा के वर्णन में वाल्मीकि का कथन है—

क्वचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम् ।
क्वचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित् पद्मवनाकुलाम् ।।

—रामा. २।५०।२०

नदी के प्रवाहयुक्त जल में कमल-उत्पल आदि की स्थिति प्रकृतया नहीं होती। पुराने कर्दम भरे सरोवरों में ही वे उत्पन्न होते हैं। जलमात्र से उनका सम्बन्ध कल्पित है। किन्तु इसे केवल अयथार्थ कल्पना समझना भूल होगी। यदि जल के आदर्श सौन्दर्य की भावना इसमें मान ली जाए, तो भी उसे अनुप्राणित करने वाले संस्कारों के सम्यक् ज्ञान बिना उसका महत्व अनुद्घाटित रहेगा और उक्त काव्योक्ति का पूर्णतर मर्म स्फुट न हो सकेगा। प्रस्तुत अर्थ में अनेक अन्य संदर्भों के साथ, भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का वह आद्य संदर्भ भी है, जिसके अनुसार समस्त जलरूप सृष्टि में कमलरूप पृथ्वी की स्थिति मान्य है। जलस्थ कमल का प्रतीक उस जी.वनादर्श का व्यंजक है, जिसके अनुसार संसार में रहकर भी उसके विषय-विकारों से असम्पृक्त रहने की आकांक्षा है।

(ख) दैवायत्ते तु फलं किं क्रियतामत्र तु वदामः।
नाशोकस्य किशलयै वृक्षान्तर पल्लवास्तुल्याः॥

—काव्यमी. अ. १८

इस काव्योक्ति में अशोक वृक्ष के फलहीन होने पर खेद व्यक्त है, किन्तु अशोक में फल होना प्रकृत सत्य है। उक्त कथन को कवि का प्रमाद माना जाए, या अर्थक्रीड़ा-मात्र ? किन्तु यदि यह विश्वास करके कि इन कारणों से परे, उक्त कथन में कोई गम्भीरतर उद्देश्य निहित है, छानबीन की जाए तो उसके वास्तविक काव्य-मर्म को लक्ष्य किया जा सकता है। कोमल, तथा रागोद्दीपक पुष्पों और किसलयों से समन्वित अशोक का समुच्चयित रूप-वैभव नितान्त असुन्दर और प्रायः अनुपयोगी फलों से दूषित ही होता है। अतः उसके फलों की अस्वीकृति के मूल में, वस्तु को आदर्श सुन्दर एवं निष्कलुष रूप में काव्य में प्रतिष्ठित करने की भावना है। इस प्रकार के ज्ञान से ही उक्त पंक्तियों के भाव की उपयुक्त अनुभूति सम्भव है।

(ग) तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥

—दोहा. २६४

वर्षाकाल में कोकिल का स्वर विरल नहीं होता, उसके मौन हो जाने का कथन तथ्यसंगत नहीं हैं। तुलसीदास जैसे सन्तवृत्ति के सत्यनिष्ठ और साथ ही बहुज्ञ कवि की उक्ति में इस प्रकार की असंगति का क्या अर्थ ? पहली बात तो यह कि वर्षा में कोकिल के मौन हो जाने की कल्पना तुलसीदास की अपनी

नहीं है, उन्होंने इस अर्थ को काव्य-परम्परा से ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि उक्त पंक्तियों का भाव सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिए कोयल के स्वर के वर्णन के विषय में काव्यपरम्परा का ज्ञान अपेक्षित है। यह परम्परा संस्कृत से हिन्दी में आई है। इस परम्परा की मूल भावना का शोध उन वृत्तियों में करना होगा, जिनके अनुसार वर्ण्यवस्तु को एकत्र नियत कर दिया जाता है, क्योंकि काव्य में कोकिल के केवल वसन्त-कालीन स्वर का वर्णन होता है। कोकिल-स्वर की चरम मादकता और तदनुसार कर्णसुखदता वसन्त में ही होती है। वस्तु के केवल उत्कृष्ट रूप को काव्य में प्रतिष्ठित करने की आदर्शपरक भावना इसके मूल में है। उक्त काव्योक्ति में तुलसीदास के काव्य-कौशल की तुलना, समान आधार पर हुई अन्य कवियों की व्यंजनाओं से सहज ही की जा सकती है।

उन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अनेक काव्यार्थों का रहस्य विशाल सांस्कृतिक परिवेश में उद्घाटित करने के लिए इस प्रकार की परम्पराओं का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इनके आधार पर, एक सीमा तक, अभिव्यक्तिगत कौशलों का मूल्यांकन भी किया जा सकता है।

हिन्दी-काव्य को इस प्रकार की अधिकांश परम्पराएँ संस्कृत-काव्य से रिक्थ में प्राप्त हुई हैं। अतः हिन्दी-काव्य में इनका अध्ययन संस्कृत-काव्य से निरपेक्ष नहीं हो सकता। वस्तुतः दोनों भाषाओं की काव्यधाराओं का सांस्कृतिक स्रोत समान है, इसलिये दोनों के सौन्दर्यादर्शों में तलवर्तिनी एकरूपता रही है, जिसका प्रतिफलन दोनों में व्यापक रूप से एक सी काव्यवस्तु, अथवा काव्य-वस्तु के एक से चारुत्व के ग्रहण में दिखाई देता है। यह इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि एक ही संस्कृति से अनुप्राणित साहित्य की विविध धाराओं में भाषा आदि अभिव्यक्ति-साधनों का भेद रहने पर भी समान जातीय विशेषताएँ रहती हैं। विचार करने पर जान पड़ेगा कि काव्य-साहित्य को जातीय (नेशनल) गुण प्रदान करने वाले तत्वों में इस प्रकार की परम्पराएँ प्रधान हैं। वैदिक संस्कृति से आद्यन्त प्रभावित संस्कृत और हिन्दी काव्यों में तो इस प्रकार की परम्पराओं का समान अविच्छिन्न रूप है, किन्तु यत्किंचित् भिन्न सांस्कृतिक आदर्शों का अनुसरण करने वाले बौद्धों और जैनों के साहित्यों में इन परम्पराओं का प्रवेश विरल रहा है।

विभिन्न देशों के काव्य-साहित्यों की ऐसी परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन, तत्तत् देश के जातीय सौन्दर्यबोधों के विकास-स्तरों एवं उन्हें परिचालित

करने वाली 'प्राकृतिक और वैचारिक शक्तियों के स्वभावों को समझने में सहायक हो सकता है। जैसा कि कहा गया, देश-भेद से सौन्दर्य के आधार-रूप पदार्थों का भेद होता है, किन्तु यत्किंचित् मात्रा में समानता रखने वाले पदार्थों को भी ग्रहण करने की भिन्न-भिन्न जातियों की वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण के लिए हमारे काव्य में मेघ के प्रति पपीहे का प्रेम प्रसिद्ध है। इसका मुख्य आधार उसकी बोली को 'पी-कहाँ' के अर्थ में ग्रहण करना है, इसी कारण अन्य दृष्टियों से विशेष सुन्दर और आकर्षक न होने पर भी चातक को काव्य में व्यापक स्थान प्राप्त है, वह अनन्य प्रेम का प्रतीक हो गया है, उसकी बोली शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की व्यंजनाओं में उद्दीपन-विभाव-योजना का अंग रहती है, किन्तु अंग्रेजी में उसी बोली को 'ब्रेन-फ़ीवर' (Brain Fever) अर्थात् मस्तिष्क-ज्वर के अर्थ में ग्रहण किया गया है। स्पष्ट ही इसमें इस बात का संकेत निहित है कि अंग्रेजी मनोवृत्ति के लिए पपीहे की बोली नितान्त अप्रिय है। ऐसी दशा में अंग्रेजी काव्य में पपीहे को वह गौरवपूर्ण स्थान मिलना असम्भव है, जो कि हमारे काव्य में प्राप्त है। मराठी भाषा में उसकी बोली को 'पाओस आल' (पावस आता है) के अर्थ में ग्रहण किया गया है, जो कि हमारे द्वारा गृहीत अर्थ के बहुत निकट है; दोनों के आधार पर व्यंग्य भाव—मेघ के प्रति चातक का प्रेम, तो समान ही है। हिन्दी और मराठी में यह किंचित् भेद भी इस कारण है कि चातक के विषय में उक्त प्रसिद्धि की परम्परा संस्कृत से नहीं आई है, संस्कृत से आने वाली परम्पराएँ प्रादेशिक भाषाओं में भी बहुत कुछ समान मिलें।

इस प्रकार की परम्पराओं का प्रसार अभिजात साहित्य से लोक-साहित्य में सहज रूप से इसी कारण हो पाता है कि इनमें जातीय रागात्मक स्पन्दन रहता है। इनके विश्लेषण से प्राकृतिक उपदानों के प्रति जातीय राग-विराग की प्रक्रियाओं तथा अभिव्यक्तियों का निकट बोध और तदनुसार मानवीय अन्तर्जगत् के विविध प्रदेशों का दर्शन किया जा सकता है।

एक ही जाति और प्रदेश की काव्यसाहित्य-धारा के विविध युगों की सौन्दर्य-वृत्तियों के विकास और ह्रास आदि का परिचय भी इन परम्पराओं के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। संस्कृत और हिन्दी की काव्य-प्रगतियों का, इन परम्पराओं के सम्बन्ध में, ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर इस कथन की पुष्टि होगी। संस्कृत काव्य के हर्षोत्तर-कालीन ह्रास-युग में और हिन्दी के शृंगारकाल में इस प्रकार की परम्पराएँ परिमित मात्रा में ही काव्य

में प्रविष्ट हुई, और जो हुई वे भी प्रायः ऐसी हैं जिनका स्वभाव रूढ़ शृंगारी व्यंजनाओं के अनुकूल है, वाह्य व्यापक सौन्दर्य-प्रसार से असम्पृक्त होकर शृंगार के एकान्त प्रदेश में कवियों की संकुचित दृष्टि का आबद्ध हो जाना इसका प्रधान कारण है। इसके विपरीत, संस्कृत-काव्य के विकास-युग के कालिदास, भारवि आदि के काव्यों में और हिन्दी के आदिकाल तथा भक्तिकाल के उत्थान-शील काव्यों में ये परम्पराएँ व्यापक रूप से गृहीत हैं, कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मुक्त प्रसार इसके मूल में है। रीतिकालीन बन्धनों से मुक्त हिन्दी के आधुनिक युग के कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि के प्रसार में पुनः इन परम्पराओं का जीवन्त रूप दृष्टिगत होता है। द्विवेदीयुग के मर्यादावादी काव्य में और छायावाद युग के रूढ़ियों के प्रति तीव्र विद्रोही काव्य में इन परम्पराओं को नवीन मान्यता प्राप्त हुई।

अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थनिबन्धन की इन परम्पराओं के विषय में अनुसन्धान से अन्य लाभ भी सम्भव हैं। कवि विशेष की वृत्ति को इन परम्पराओं में से कौन सी विशेष प्रिय हैं और उनका उपयोग उसके द्वारा किस प्रकार की व्यजनाओं के लिए अधिक होता है, इसका निर्धारण कर लेने पर, रचना-विशेष के मूलपाठ का शोध करने और, कुछ सीमा तक, उसका निर्माण-काल निश्चित करने में सहायता मिल सकती है। इन परम्पराओं का ज्ञान अनेक स्थलों पर प्राचीन काव्य के अर्थसंगत शुद्ध पाठ सम्पादित करने में भी सहायक सिद्ध हो सकता है। एक उदाहरण देखिए—

चितबनि कुच परिरंभ मुख सीधु चरन हति केलि।
कियो तिलक कर बकनिलित, लाल बकुल कंकेलि॥

—मतिराम ग्रंथावली, सतसई, दोहा ६५५
[श्रीकृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित]।

इन पक्तियों में किसी प्रकार की अर्थसंगति पाना सम्भव नहीं दिखाई देता। 'कियो तिलक कर बकनिलित' का भाव दोहे के शेषांश के भाव से क्या सम्बन्ध रखता है? और उस सम्बन्ध के अभाव में पूरे दोहे का क्या अर्थ ग्राह्य हो? कुछ ज्ञात नहीं होता। वस्तुतः तिलक, कुरबक, बकुल और अशोक (कंकेलि) इन चार वृक्षों की दोहद-सम्बन्धी प्रसिद्धियों पर उक्त काव्यांश की व्यंजना आधृत है। सुन्दरी स्त्री की चितवन से तिलक, आलिंगन (कुच-परिरंभ) से कुरबक, मुख-मदिरा (सीधु) से बकुल, और पादाघात (चरन-हति) से अशोक के विकसित होने की वर्णन-परम्परा कालिदास के

काव्य से मैथिलीशरण गुप्त के काव्य तक रही है। मतिराम ने उसी के आधार पर नायक में उक्त वृक्षों का आरोप करके, नायिका की तत्तत् चेष्टाओं द्वारा उसके अनेक प्रकार से हर्षित होने का भाव व्यक्त किया है। अतः यदि उक्त दोहे का निम्नलिखित पाठ स्वीकृत हो तो सहज ही अर्थसंगति स्थापित हो जाती है—

चितवनि कुच परिरंभ मुख, सीधु चरन हति केलि ।
कियो तिलक कुरबक मिलित, लाल बकुल कंकेलि ॥

(२) इस क्षेत्र में हुआ कार्य

संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार की परम्पराएँ सामान्यतः 'कविसमय' के नाम से अभिहित हैं। हिन्दी में आचार्य केशवदास ने उन्हें 'कविमत' कहा है, जो कि केशवमिश्र द्वारा इसी अर्थ में प्रयुक्त 'कविसम्प्रदाय' पद का समानार्थी है। हिन्दी में इस विषय का जो शोधपरक विवेचन अब तक हुआ है, उसमें इन परम्पराओं के सामूहिक बोध के लिए 'कविसमय' और पृथक्-पृथक् परम्पराओं के लिए 'कवि प्रसिद्धियाँ' नाम गृहीत हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र से इन नामों की उपयुक्तता समर्थित है।

इन कविप्रसिद्धियों के सर्वांगीण विशद् अध्ययन की ओर हिन्दी के विद्वानों की व्यापक अभिरुचि नहीं रही है। उसका सैद्धान्तिक पक्ष तो पूर्णतया अवहेलित सा ही रहा है। संस्कृत में भी राजशेखर को छोड़कर अन्य किसी काव्यशास्त्री द्वारा उसका यथेष्ट विचार नहीं मिलता। अंग्रेजी में संस्कृत-काव्य और काव्य-शास्त्र के इतिहास प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने विषय का स्पर्श मात्र किया।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'कविप्रसिद्धियाँ' शीर्षक बड़ा लेख विद्यापीठ त्रैमासिक पत्रिका के आषाढ़ १९९३ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उसी का किंचित् संक्षिप्त रूप 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के परिशिष्ट भाग में संकलित हुआ। द्विवेदी जी ने उस लेख द्वारा हिन्दी-जगत् का ध्यान इन परम्पराओं की ओर आकृष्ट किया। किन्तु उनके विवेचन का क्षेत्र संस्कृत-काव्य और काव्य-शास्त्र का ही था। उसमें भी, कविसमय का विस्तृत सैद्धान्तिक विवेचन द्विवेदी जी का अभीष्ट न था। अतः राजशेखर की तद्विषयक मान्यताओं और परवर्ती लक्षण ग्रंथों में कविप्रसिद्धियों के उल्लेखों का संकेत मात्र देकर द्विवेदी जी ने अनेक कविप्रसिद्धियों का व्यावहारिक रूप

द्विवेदी जी के विशाल ज्ञान और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति के आधार पर कविप्रसिद्धियों का वह विवेचन, संक्षिप्त होने पर भी, काव्य और विविध शास्त्रों के व्यापक संदर्भ में इन परम्पराओं का अध्ययन करने के लिए सबल प्रेरक एवं मार्गदर्शक था। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में कविप्रसिद्धियों का मूल खोजना और काव्यपरम्परा में उनका विकास लक्ष्य करना, उस लेख की ये दो प्रमुख विशेषताएँ कही जा सकती हैं। लक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित कविप्रसिद्धियों के अतिरिक्त नवीन कविप्रसिद्धियों के समावेश की दृष्टि से, बकुल और अशोक के साथ अन्य आठ वृक्षों की दोहद-सम्बन्धी प्रसिद्धियों पर भी द्विवेदी जी ने विचार किया। प्रमुख कविप्रसिद्धियों का विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने शेष कविप्रसिद्धियों का उल्लेख 'समानार्थक' और 'संकीर्ण' कोटियों के अन्तर्गत किया।

आगे के दो-एक संक्षिप्ततर कार्य द्विवेदी जी के संकेतों ही पर चले जान पड़ते हैं। पंडित दिवाकरमणि त्रिपाठी की 'कवि परिपाटी' नामक पुस्तिका में कविशिक्षा के अन्य विषयों के साथ कतिपय कविप्रसिद्धियों का भी विचार है, किन्तु उससे किसी नवीन ज्ञान अथवा दृष्टिकोण का परिचय नहीं मिलता। बाबू गुलाबराय का 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ' (पृ० ५५३–५५९) में प्रकाशित 'कविसमय' शीर्षक लेख अपेक्षाकृत अधिक महत्व का है। कविसमय का सामान्य परिचय देने के पश्चात् बाबू साहब ने कतिपय कविप्रसिद्धियों की रोचकता तथा उपयोगिता का बोध कराने के लिए हिन्दी काव्य के उद्धरण दिये हैं। हिन्दी काव्य के संदर्भ से कविप्रसिद्धियों के अध्ययन की दिशा में, और साथ ही उस पर आधृत काव्याभिव्यक्ति के कौशलों को लक्ष्य करने के मार्ग पर वह प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। किन्तु बाबू साहब ने जिन दो-तीन नवीन कविप्रसिद्धियों का उल्लेख किया है, वे प्रकृत तथ्यों पर आधृत होने के कारण कविसमयगत नहीं मानी जा सकतीं। कोयल की परभृत-वृत्ति, भौंरे की चम्पा से विरक्ति आदि के काव्य में जो वर्णन हैं, वे प्रकृत तथ्याश्रित ही हैं।

(३) प्रस्तुत कार्य का लक्ष्य, अनुसन्धान-प्रणाली और प्रबन्ध-योजना

लक्ष्य

हिन्दी-काव्य में परम्परित रूप से व्याप्त अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों (कविसमयगत अर्थों) का उनके मूल स्रोतों के सन्दर्भ में अनुसन्धान, प्रस्तुत कार्य का लक्ष्य है। उनके मूलस्रोतों की परिधि विस्तृत और विशाल है। वह हिन्दी-काव्य-साहित्य और उसकी परम्पराओं के उत्स-रूप संस्कृत-काव्य-साहित्य, अथवा इन

दोनों भाषाओं के काव्यशास्त्रों तक ही परिमित नहीं है। वाङ्मय के विविध क्षेत्रों के अतिरिक्त भी उसका प्रसार है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। शास्त्र और लोक इन दोनों का अतिक्रमण करने वाले अर्थों के मूलस्रोतों का, इन दोनों के सीमाविस्तार से परे होना स्वयंसिद्धि है। इसी कारण उनके अनुसन्धान-क्रम में प्राप्त निष्कर्षों को अन्तिम और पूर्ण सत्य के रूप में प्रस्तुत करने का दावा नहीं किया जा सकता। उनकी स्थिति बहुत कुछ उन निष्कर्षों के समान कही जा सकती है जो सृष्टि के व्यापक अर्थों के अनुसन्धान से प्राप्त होते हैं। मूलस्रोत रूप सत्य के क्रमशः निकटतर बोध में ही उनकी सार्थकता है।

हिन्दी के प्रमुख कवियों के काव्यों में इस प्रकार के यथासम्भव सभी अर्थों की खोज करके, पहले यह देखने का प्रयास रहा है कि उनमें से किनकी परम्पराएँ हिन्दी की अपनी हैं, और कौन पूर्ववर्ती संस्कृत

अनुसन्धान-प्रणाली

काव्य से आई हैं। संस्कृत के प्रमुख कवियों के काव्यों में उनका सम्बन्ध खोजने के प्रसंग में अनेक ऐसी परम्पराएँ भी मिली हैं, जो हिन्दी-काव्य में या तो बिल्कुल ही नहीं आईं, या क्षीण रूप में आईं। ऐसी भी परम्पराएँ दृष्टिगत हुई हैं जो संस्कृत-काव्य में भी अधिक दूर तक नहीं चल सकीं। अस्तु।

लक्षणग्रंथों में निर्दिष्ट कविप्रसिद्धियों के साथ उनकी तुलना करने पर अधिकांश के विषय में समानता दिखाई दी। किन्तु काव्य में प्राप्त कतिपय कविप्रसिद्धियों का लक्षणग्रंथों में उल्लेख नहीं मिला, और लक्षणग्रंथों में प्राप्त कतिपय कविप्रसिद्धियों के उदाहरण काव्य में सुलभ न हुए।

इन सब के स्वरूप का सामूहिक दृष्टि से विचार करने के उद्देश्य से अर्थात् इनकी व्यापक प्रवृत्तियों का सैद्धान्तिक निरूपण करने के लिए काव्यशास्त्रियों द्वारा कविसमय का विवेचन द्रष्टव्य रहा। इस सम्बन्ध में अधिक सहायक सामग्री उपलब्ध नहीं है। काव्यमीमांसा से पूर्व के किसी ग्रंथ में इस विषय का विचार नहीं मिलता। राजशेखर द्वारा काव्यमीमांसा में कविसमय की संक्षिप्त किन्तु पुष्ट सैद्धान्तिक स्थापना हुई है। उन्होंने पृथक्-पृथक् कवि-प्रसिद्धियों के व्यावहारिक रूप का निदर्शन भी किया है। परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने असत् सत् और नियम निबन्धनों के अन्तर्गत विविध कविप्रसिद्धियों का उल्लेख-मात्र किया है। कविसमय का विचार करने वाले लक्षणग्रंथों की काल-

क्रमानुसार[१] सूची निम्नलिखित है ।[२] इनमें से अग्निपुराण में कविप्रसिद्धियों का उल्लेख नहीं है, केवल असत् और सत् निबन्धन का निर्देश है ।

(१)	काव्यमीमांसा	—राजशेखर (दसवीं शताब्दी)
(२)	अलंकारचिन्तामणि	—अजितसेन (दसवीं शताब्दी)
(३)	काव्यानुशासन	—हेमचन्द्र (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी)
(४)	अग्निपुराण	—(काव्यशास्त्र का अंश—लगभग तेरहवीं शताब्दी का मध्य)
(५)	काव्यकल्पलतावृत्ति—	—अमरचन्द्र और अरिसिंह (तेरहवीं शताब्दी)
(६)	कविकल्पलता	—देवेश्वर (चौदहवीं शताब्दी का आरम्भ)
(७)	साहित्यदर्पण	—विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी)
(८)	अलंकारशेखर	—केशवमिश्र (सोलहवीं शताब्दी का मध्य)
(९)	कविप्रिया (हिन्दी)	—केशवदास (सत्रहवीं शताब्दी)

इन आधारों पर कविप्रसिद्धिगत अर्थनिबन्धनों की प्रवृत्तियाँ निर्धारित कर लेने पर, उन अर्थों (पदार्थों) के प्रकृत धर्मों का निरूपण सहज है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन आधारभूत सम्भावनाएँ हैं—

(१) असत्-निबन्धन के अन्तर्गत पदार्थ के अप्रकृत धर्म का कथन हो,

(२) सत्-अनिबन्धन के अन्तर्गत उसके प्रकृत धर्म की अस्वीकृति हो,

(३) नियम-निबन्धन के अन्तर्गत उसकी अनेकत्र प्रवृत्तियों का एकत्र आचरण नियत हो ।

उदाहरणार्थ—सर्वत्र पर्वतों और समुद्र में रत्नों का वर्णन असत् निबन्धन अर्थात् विशेष का सामान्यीकरण है, अतः इसी से स्पष्ट है कि प्रत्येक पर्वत

---

[१] कालनिर्धारण में डा. पी. वी. काणे की 'साहित्य दर्पण की भूमिका' और पं० बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य शास्त्र', खण्ड २, को प्रमाण माना गया है ।

[२] इन ग्रंथों में कविसमय के उल्लेखपरक उद्धरण परिशिष्ट १ (क) में तथा पृथक्-पृथक् कविप्रसिद्धियों के उल्लेख परिशिष्ट १ (ख) में देखिये ।

और समुद्र में रत्न नहीं होते। चन्दनवृक्ष में फल और फूल न कहना सत् अनिबन्धन है, इससे ज्ञात होता है कि चन्दन में वस्तुतः फल और फूल होते हैं। भूर्जद्रुम की उत्पत्ति हिमालय पर कहना, नियम निबन्धन है, यह इस बात का सूचक है कि हिमालय के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी भूर्जद्रुम होते हैं।

इस प्रकार स्वयं अर्थनिबन्धन की प्रवृत्तियों से ही पदार्थों के प्रकृत धर्म-सम्बन्धी संकेत प्राप्त कर लेने पर भी, उनके अप्रकृत रूप गृहीत होने के कारणों की खोज में प्रवृत्त होने से पहले एक और महत्वपूर्ण कार्य रह जाता है। इस प्रकार के सभी पदार्थ सामान्यतः परिचित नहीं हैं। कुछ के तो प्रकृत अस्तित्व-मात्र के विषय में सन्देह है, इस कारण उनसे सम्बद्ध कविप्रसिद्धियाँ सर्वथा कल्पना-प्रसूत जान पड़ती हैं। अन्य पदार्थों के विषय में साधारण ज्ञान होने पर भी, उनके रूप गुण आदि के सम्बन्ध में विशिष्ट ज्ञान न होने से, उन पर आधृत कवि-प्रसिद्धियाँ सर्वथा असंगत सी लगती हैं। अतः ऐसे पदार्थों के प्रकृत-स्वरूप-निर्धारण का प्रयास मौलिक आवश्यकता है। वास्तव में अशास्त्रीय और अलौकिक रूप में गृहीत होने वाले पदार्थों का शास्त्रीय और लौकिक रूप भी अवश्य है, नितान्त सत्तारहित उनमें से कोई नहीं है।

पदार्थों के जातिगत आधारों से सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं (शास्त्रों) में प्रवेश करके तत्तत् पदार्थ के विषय में सामान्यरूप से, और कवि-समय से सम्बद्ध उसके धर्म के विषय में विशेषरूप से, परिचय प्राप्त करने का क्रम इसीलिये रहा है। वृक्षों और पुष्पों के ज्ञान के लिए निघंटुग्रन्थों तथा आधुनिक वनस्पतिशास्त्र के ग्रन्थों, पक्षियों के ज्ञान के लिए वैद्यकग्रंथों तथा पक्षिशास्त्र (ऑरनिथॉलॉजी Ornithology) के ग्रंथों, सुवर्ण-रत्नादि के ज्ञान के लिए ज्योतिष-ग्रंथों, तथा भूगोलशास्त्र के ग्रंथों, और पौराणिक विश्वासों से सम्बध प्रसिद्धियों के लिए वेदों, विविध पुराणों और पुरातात्विक अध्ययनों से प्रधान सहायता ली गई है। इसी प्रकार का क्रम अन्य पदार्थों के विषय में भी रहा है। उक्त विविध शास्त्रों का अवलोकन करने के प्रसंग में अनुसन्धायक को कविसमय से सम्बद्ध पदार्थों के जहाँ कहीं भी उपयोगी उल्लेख मिले हैं, उसने उनका सतर्कतापूर्वक चयन किया है। अनेक कोशग्रंथों से भी मूल्यवान् सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। साथ ही, काव्य के अन्यान्य प्रसंगों से पदार्थों के प्रकृत रूपों का समर्थन प्राप्त करने का भी प्रयास रहा है।

पदार्थों के शास्त्रीय रूपों का उक्त विधि से ज्ञान अर्जित करके, उसे उनके लौकिक रूपों की संगति में देखने की चेष्टा रही है। यथासाध्य वैयक्तिक

निरीक्षण और तत्तत् विषय का विशिष्ट ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों से विज्ञासा के परिणामस्वरूप अनेक ऐसे तथ्यों का उद्घाटन हुआ है जिनका उल्लेख शास्त्रग्रंथों में भी प्राप्त न हो सका।

इस समस्त छानबीन में एक ओर तो कविसमय से सम्बद्ध पदार्थों के यथार्थ धर्मों का उद्घाटन हुआ, अनेक सामान्यतः अज्ञात पदार्थों का स्वरूप-ज्ञान और उनके विशिष्ट गुण-धर्मों का कविप्रसिद्धियों में सहायक परिचय प्राप्त हुआ, साथ ही उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की ऐसी जानकारियाँ भी प्राप्त हुईं जो कविसमयगत निबन्धन से सीधी सम्बद्ध न होने पर भी, काव्य में उन पदार्थों के अन्य प्रसंगों के वर्णनों का भाव स्फुट करने में सहायक जान पड़ीं। तत्तत् प्रकरण में उनका भी प्रासंगिक उल्लेख किया गया है। यह इसलिये और भी आवश्यक जान पड़ा कि कभी-कभी अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों से भिन्न अर्थों में कविसमय का भ्रम हो जाता है।

पदार्थों के कविसमय में गृहीत अर्थों से उनके प्रकृत धर्मों का अन्तर स्पष्ट हो जाने पर, उस अन्तर के कारणों की खोज का प्रयास रहा है। इस ओर कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने में काव्य के कविसमय से निरपेक्ष वर्णनों तथा शास्त्रों के उल्लेखों को ही प्रायः आधार माना गया है। कोरे अनुमान की प्रवृत्ति से दूर रह कर यथासम्भव वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास है।

अन्त में प्रत्येक कविप्रसिद्धि का काव्यपरम्परा में विकास ऐतिहासिक दृष्टि से लक्ष्य रहा है। एक-एक कविप्रसिद्धि के आधार पर पृथक्-पृथक् कवियों के अभिव्यंजनागत विविध कौशलों के निदर्शन का प्रयास किया गया है।

प्रबन्ध-योजना

वर्गीकरण—लक्षण ग्रंथों में कविप्रसिद्धियों के वर्गीकरण की पद्धति अर्थ-निबन्धन अर्थात् प्रवृत्तियों के आधार पर है, अतः असत्-निबन्धन, सत्-अनिबन्धन और नियम-निबन्धन, इन तीन व्यापक वर्गों के अन्तर्गत उनका उल्लेख हुआ है। राजशेखर ने पदार्थों के जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया रूपों को भी ध्यान में रखकर उपप्रवृत्तियों के आधार पर उनके अनेक वर्गों का निर्देश किया है। किन्तु राजशेखर द्वारा निर्धारित मौलिक वर्ग, स्वर्ग्य, भौम और पातालीय ये तीन ही हैं। ये वर्ग पदार्थों के जातिगत क्षेत्रों के व्यापक आधार पर हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में स्वर्ग्य और पातालीय वर्गों को उसी प्रकार स्थिर रखा गया है, भौम कविप्रसिद्धियों के वर्गीकरण में भी पदार्थों के जातिगत आधार अधिक सुविधाजनक जान पड़े हैं।

प्रधान दृष्टि यह रही है कि काव्य के अध्येता का प्रथम परिचय कविप्रसिद्धि के आधारभूत पदार्थ से होता है, उसके माध्यम से ही वह निबन्धन की प्रणाली लक्ष्य करता, तथा उसका रहस्य जानने को उत्सुक होता है। अतः अमर-कोशादि ग्रंथों के समान, जातिगत आधार पर पदार्थों के वर्गों में तत्तत् पदार्थ की स्थिति खोज पाना सरल होता है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति से एक ही पदार्थ पर आधृत अनेक कविप्रसिद्धियों का एकत्र विवेचन भी सम्भव हुआ है, और इस प्रकार पदार्थ के रूप-गुण आदि का अनेक स्थलों पर व्यस्त विश्लेषण अपरिग्राह्य हुआ है।

उद्धरण—कविप्रसिद्धियों के विश्लेषण-प्रसंगों के कथनों की पुष्टि के लिए तो अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये ही गये हैं, उद्धरणों का विशेष उपयोग कवि-प्रसिद्धियों की परम्पराओं का निदर्शन करने में रहा है। संस्कृत और हिन्दी के लगभग दो हजार वर्षों के विपुल काव्य-साहित्य में एक-एक कविप्रसिद्धि से सम्बद्ध काव्योक्तियों की विशाल संख्या वर्तमान है। कम प्रचलित कवि-प्रसिद्धियों के दृष्टांतों की विरलता अवश्य है, किन्तु वैसी कविप्रसिद्धियों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम है। प्रबन्ध के कलेवर में सभी प्राप्त उद्धरणों को स्थान देना न सम्भव था, न आवश्यक। अतः उद्धरणों के चयन में विशेष सतर्कता रही है। ध्यान यह रहा है कि कविप्रसिद्धि के रूप का बोध कराने, उसपर आधृत कविकौशलों का परिचय देने, तथा परम्परा-विकास को स्पष्ट करने आदि की विविध दृष्टियों से प्रतिनिधि उद्धरण ही प्रस्तुत किये जाएँ। एक ही श्रेष्ठ काव्योक्ति में कविसमयगत अनेक अर्थ निहित रहने की दशा में, अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर और प्रभावोत्पादक अर्थ लक्ष्य करना अभीष्ट रहा है।

प्रसिद्ध उपमान—कविसमयगत पदार्थों के अप्रकृत रूपों का रहस्य जानने के प्रयास में अनेक स्थलों पर उन पदार्थों से सम्बद्ध प्रसिद्ध उपमेय-उपमान संदर्भ लक्ष्य हुए हैं। उन संदर्भों का एकत्र बोध कराने के उद्देश्य से प्रस्तुत प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में रूप-वर्णन सम्बन्धी प्रसिद्ध उपमानों का संकलन किया गया गया है। कविसमय से भिन्न काव्यप्रसंगों के अध्ययन में भी वह उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः रूपकातिशयोक्ति-जन्य वर्णनों का स्पष्टतर भावग्रहण उसकी सहायता से हो सकता है। उपमेय-उपमानों के समान धर्मों का जो निरूपण किया गया है, वह काव्य वर्णनों से समर्थित ही है।

चित्र—कविसमयगत पदार्थों के साधारणतः अपरिचित रूपों का निकटतर परिचय देने के उद्देश्य से, उनके यथासाध्य उपलब्ध चित्र प्रस्तुत करने की

योजना रही है। प्रबन्ध के वर्तमान रूप के साथ कतिपय पक्षियों के चित्र ही दिये जा सके हैं, वानस्पतिक तथा अन्य अनेक पदार्थों के चित्र समय से सुलभ न हो सकने के कारण इसमें स्थान नहीं पा सके।

(४) निष्कर्ष और उपलब्धियाँ

प्रस्तुत विवेचन का सार, संक्षेप में, इस प्रकार है—

(१) काव्य के अनेक प्रसंगों का मर्म जानने के लिये कविसमय का गहनतर ज्ञान आवश्यक है।

(२) कविसमय शास्त्र और लोक की मर्यादाओं से निरपेक्ष अर्थों का निबन्धन है, किन्तु इन (अर्थों) में से सत्ताशून्य अथवा नितान्त काल्पनिक कोई नहीं है।

(३) कविसमय काव्य में चारुत्व-सम्पादन का प्रधान आधार है। वह स्वयं अलंकार नहीं है, प्रत्युत अलंकार का जीवन-तत्व है।

(४) कविसमय में गृहीत पदार्थों के किंचित् अप्रकृत धर्मों का कारण विशिष्ट सौन्दर्यादर्शों से प्रेरित है। वे सौन्दर्यादर्श सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में बद्धमूल हैं। काव्य को जातीय गुण प्रदान करने में उनका प्रधान योग है।

(५) काव्य-विशेष में कविसमय की स्थिति से, कवि और उसके देश-काल के सौन्दर्यबोध का स्पष्ट सूचन होता है, उत्कर्षशील काव्यों में कविसमय का प्राबल्य है, और ह्रासशील काव्यों में उसकी स्थिति विरल है।

(६) कविसमय का स्वभाव, काव्यरूढ़ि बनने वाले तत्वों से भिन्न है। वह अभिव्यंजन-कौशलों की सीमाओं में बद्ध नहीं रहता। रूढ़ियों को पार करके उसका जीवन्त रूप बना रहता है। अभिव्यक्ति-कौशलों के मूल्यांकन में वह सहायक है।

(७) हिन्दी काव्य को कविसमय का अधिकांश, संस्कृत-काव्य से रिक्थ में प्राप्त हुआ है। आधुनिक काव्य में भी कविसमय का विकास वर्तमान है, उसकी सम्भावनाएँ अनाहत हैं।

खण्ड—१

सैद्धान्तिक पक्ष (कविसमय का स्वरूप)

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं
यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः ।
—राजशेखर

कविसमय : अर्थ और पारिभाषिकता

अमरकोश के अनुसार 'समय'[१] शब्द के अर्थ हैं—शपथ, आचार, सिद्धान्त और संविद । मोनियर विलियम्स के अनुसार वैदिक साहित्य के समासान्त पदों में यह शब्द 'साथ आने' 'मिलने' अथवा 'मिलने के स्थान' के अर्थों में प्रयुक्त है ।[२] समझौते के नियमों के लिये भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। रामायण[३] और महाभारत[४] में इस अर्थ में इसका प्रयोग उपलब्ध है । तुलसी दास द्वारा भी इस अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है ।[५]

समय शब्द के उक्त अनेक अर्थों में मौलिक एकता लक्ष्य की जा सकती है । सब में 'समान आचरण' का भाव निहित है । अतः कविसमय का अर्थ हुआ—कवियों का समान आचरण ।

काव्यशास्त्र में इस शब्द का प्रथम प्रयोग राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है । उससे पहले के ग्रंथों में से वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में 'काव्यसमय' शब्द का उल्लेख है । प्रयोगिक नामक पंचम अधिकरण के प्रथम अध्याय में, वामन ने, 'काव्यसमय' के अन्तर्गत पदों के संदिग्ध प्रयोगों पर विचार किया है । उससे वामन का उद्देश्य काव्य-भाषा में परम्परित समान सौष्ठव की रक्षा ही है ।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के चौदहवें अध्याय के आरम्भ में कविसमय की व्याख्या करके, आगे के दो अध्यायों में उसी विषय का विस्तार किया है । उनके अनुसार कवि लोग जिस अशास्त्रीय अलौकिक और परम्परायात अर्थ

---

[१] समयः शपथाचार कालसिद्धान्त संविदः । —अमर. २।५।१६४

[२] मोनियर, पृ० ११६४

[३] यदाह रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भव सत्यप्रतिश्रवः ।। —रामा. ४।३२।५१

[४] एवं ते समयं कृत्वा दासी भावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो दृक्ष्याव इति स्मह ।। —भारत. १।२०।५

[५] बलकल भूषन फल असन, तृन सज्या द्रुम प्रीति ।
तिहि समयन लंका दई, यह रघुवर की रीति ।। —दोहा १६२

का उपनिबन्धन करते हैं, वह कविसमय है।[1] अर्थ-निबन्धन के विषय में कवियों के परम्परित समान आचरण का भाव ही इससे सूचित होता है।

राजशेखर ने स्पष्ट किया है कि प्राचीन विद्वानों द्वारा जो अर्थ जिस रूप में प्रणीत हुए हैं, देशकाल-वश अन्यथा हो जाने पर भी, उन अर्थों का उसी रूप में निबन्धन कविसमय है।[2] इसके लिये राजशेखर की युक्ति है कि प्राचीन विद्वानों ने सहस्त्रों शाखाओं वाले वेदों का, अंगों सहित अध्ययन करके, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके, तथा देशान्तर-द्वीपान्तरों का परिभ्रमण करके उन अर्थों को उपलब्ध किया था।[3] कविसमय के रूप में काव्य के परम्परित अर्थों की मर्यादा-रक्षा का भाव ही राजशेखर के इस कथन में प्रधान है।

राजशेखर ने आगे बताया है कि इनमें से कुछ अर्थ तो आदिकाल से कविसमय (कवियों के समान आचरण सम्बन्धी नियमों) द्वारा व्यस्थित हैं, और कुछ धूर्तों द्वारा पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से स्वार्थ के लिए प्रवर्तित हैं।[4] कदाचित्, कविसमय के मौलिक उद्देश्य को उद्घाटित करने के लिए ही राजशेखर को उक्त व्याख्या उपस्थित करनी पड़ी। उनके द्वारा इससे आगे का विवेचन भी कविसमयगत मौलिक अर्थों की पुनः स्थापना के उद्देश्य से किया गया है, क्योंकि उन्होंने इस विवेचन के अन्त में स्वयं कहा है कि जो कविसमय काव्य में सुप्त दशा में स्थित था, उसे हमने यथाबुद्धि जागरित कर दिया।[5]

इसी प्रसंग में 'कविसमय' शब्द के लिए राजशेखर ने कहा है कि मूल को

---

[1] अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः। काव्यमी. अ. १४

[2-3] पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं सांगं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः।

—काव्यमी. अ. १४

[4] तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित्परस्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः। —वही. अ. १४

[5] सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धिविबोधितः॥

—वही. अ. १६

न देखने वाले और केवल प्रयोगमात्र को देखने वाले व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त होकर यह शब्द रूढ़ हो गया है।[१] इससे इस बात का संकेत मिलता है कि राजशेखर के पूर्व से, यह शब्द अपने मौलिक अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो रहा था। इसमें धूर्तों द्वारा प्रवर्तित अर्थों का समावेश ही प्रधान कारण रहा होगा। फलतः मान्य आचार्यों की इसके विषय में अनुकूल धारणा न थी। इस बात का प्रमाण यह है कि राजशेखर ने कविसमय के लक्षणों का निर्देश करने के तत्काल पश्चात् आचार्यों की इस शंका का उल्लेख किया है कि कविसमयगत अर्थ-निबन्धन दोष है। कविसमय का उक्त मौलिक हेतु, राजशेखर ने इसी के समाधान में उद्घाटित किया है। सम्भव है, कविसमय के प्रति प्रतिकूल धारणा के कारण ही राजशेखर के पूर्ववर्ती भामह दण्डी आदि आचार्यों ने अपने ग्रंथों में उसका विवेचन न किया हो। किन्तु राजशेखर द्वारा उपन्यस्त कविसमय के रूप की स्थिति लक्ष्यग्रंथों में व्याप्त थी। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि राजशेखर ने कविसमयगत अधिकांश कविप्रसिद्धियों के समर्थक उदाहरण अपने पूर्ववर्ती काव्यग्रंथों से लिये हैं। उन उदाहरणों में निहित अर्थों अथवा उनके समान अर्थों को पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने दोष रूप नहीं माना है।

राजशेखर के पश्चात् 'कविसमय' शब्द सामान्यतया उनके द्वारा निर्दिष्ट अर्थ में ही, काव्यशास्त्र में गृहीत हुआ। यद्यपि आगे इसके सैद्धान्तिक पक्ष का विकास नहीं हुआ, किन्तु काव्यशास्त्रियों द्वारा अनेक प्रसंगों में इसका उल्लेख मिलता है। अलंकारचिन्तामणि, काव्यानुशासन, अग्निपुराण, काव्य-कल्पलता, कविकल्पलता, और साहित्यदर्पण में इस शब्द के उल्लेख-प्रसंगों की चर्चा आगे होगी। अलंकारशेखर में 'कविसमय' के अर्थ में प्रयुक्त 'कवि-सम्प्रदाय' शब्द है। केशवमिश्र ने उसके अन्तर्गत प्रायः उन्हीं कविप्रसिद्धियों का उल्लेख किया है जिनका उल्लेख कविसमय के अन्तर्गत पहले से होता आ रहा था।[२] 'सम्प्रदाय' का भाव भी 'समान आचरण' से भिन्न नहीं है। इस शब्द के द्वारा केशवमिश्र ने कविसमय की मूलवृत्ति को अधिक स्फुट कर दिया। कवियों द्वारा अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों को पारम्परिक मान्यता दिये जाने में साम्प्रदायिकता की भावना अवश्य ही निहित है। इसके अन्तर्गत विलक्षण

---

[१] कविसमयश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च।
—वही. अ. १४

[२] अलंकारशेखर, मरीची १५

अर्थ-निबन्धन सम्बन्धी मान्यताएँ कवियों के सम्प्रदाय तक ही परिमित हैं। उसके बाद हिन्दी में केशवदास ने कविप्रिया में इसी अर्थ में 'कविमत' शब्द का प्रयोग किया।[१] 'मत' और 'सम्प्रदाय' परस्पर पर्याय हैं। अतएव 'कविसम्प्रदाय' और 'कविमत' में अभेद है।

इस प्रकार, कविसमय के अर्थ में प्रयुक्त शब्द हैं—

(१) काव्य-समय (यदि इसके प्रयोग में वामन का भाव कविसमयानुकूल माना जाए तो)

(२) कवि-सम्प्रदाय (केशव मिश्र)

(३) कवि-मत (केशवदास)

इन शब्दों का प्रयोग केवल एक ही एक काव्यशास्त्री द्वारा हुआ है; इधर 'कविसमय' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से मिलता है, अलंकार चिन्तामणि आदि उपर्युक्त लक्षण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य अनेक लक्षणग्रंथों में भी, जिनका उल्लेख यथाप्रसंग आगे होगा, वह प्राप्त है। प्रस्तुत प्रसंग में, 'कविसम्प्रदाय' अथवा 'कविमत' जैसे शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक अर्थगर्भित होने पर भी, प्रयोग-बाहुल्य के कारण 'कविसमय' ही ग्राह्य है।

उपर्युक्त विशेष प्रकार के अर्थनिबन्धन के लिए 'कविसमय' शब्द का प्रयोग होते रहने के कारण इसका अंगरूप 'समय' शब्द काव्य-वर्णन, काव्योक्ति अथवा अनूठी काव्योक्ति के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। चन्द की निम्नलिखित पंक्तियों में 'समय' शब्द का इस रूप में प्रयोग द्रष्टव्य है—

नां पतनी नलराज राजम बधू वमयंति नां इंद्रयं
नां सच्चीव सुनाथ नायक धरं लच्छीन धरया धरं
नां रत्ती मनमथ्य रत्ति कलया मन्दोदरी रावनं
सोयं सा प्रथिराज इंछनि वरं समयो न लम्भं कवीं।

—सं रासो ३।१२

रासो के विभिन्न वर्णनखण्डों के शीर्षकों में भी 'समय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में है। सूरसागर में 'नैन समय के पद' 'आँख समय के पद' आदि शीर्षकों में भी 'समय' शब्द का यही भाव है।

---

[१] कविप्रिया, प्रभाव ४

कविसमय : प्रमुख लक्षण

राजशेखर के अतिरिक्त अन्य किसी काव्यशास्त्री द्वारा कविसमय के लक्षणों का उल्लेख नहीं मिलता। अतः प्रस्तुत विवेचन राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों पर ही केन्द्रित रहने को वाध्य है।

राजशेखर के अनुसार—'जिस अशास्त्रीय अलौकिक और परम्परायात अर्थ का उपनिबन्धन कविजन करते हैं, वह कवि समय है।' अर्थात्, कविसमय—

(१) कवियों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ है।

(२) अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थनिबन्धन है।

(३) परम्परायात अर्थनिबन्धन है।

(१) कवियों द्वारा निबद्ध अर्थ—इसका भाव यह हुआ कि कविसमयगत अर्थनिबन्धन की व्याप्ति काव्यजगत् तक ही परिमित है। राजशेखर और उनके परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने कविसमय के असत्-निबन्धन, सत्-अनिबन्धन और नियम-निबन्धन के अन्तर्गत जिन प्रसिद्धियों का निर्देश किया है, उनमें से अधिकतर काव्य-साहित्य में ही अनुसरित एवं पोषित हैं, ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों तथा सामान्य लोक-व्यवहार से वे असम्पृक्त हैं। उनका अशास्त्रीय और अलौकिक होने का विलक्षण स्वभाव ही इसका प्रधान कारण है। कतिपय प्रसिद्धियों का रूप ऐसा अवश्य है जो चित्र, मूर्ति, आदि कलाओं तथा सामान्य लोक-धारणाओं में भी प्रचलित है; उदाहरणार्थ, चित्रकला में अनेक वर्णों का अभेद, प्राचीन मूर्तियों में उत्कीर्ण वृक्षदोहद के दृश्य, तथा सामान्य लोक-विश्वास में व्याप्त पद्म का दिवा-विकास, लक्ष्मी और सम्पद् का अभेद, नाग और सर्प का अभेद आदि। किन्तु आनुपातिक दृष्टि से, काव्य-साहित्य में ही इनका प्रयोग अधिक है। इस कारण इनके विषय में सहज ही सम्भावना होती है कि काव्य-साहित्य-जगत् से ही इतर क्षेत्रों में इनका प्रसार हुआ है। ऐसी कोई कविसमयगत प्रसिद्धि नहीं जान पड़ती, जो काव्य-साहित्य में इतर क्षेत्रों से गृहीत हो। इन कविप्रसिद्धियों के अशास्त्रीय एवं अलौकिक रूपों के मूल कारणों का निश्चित् और निभ्रान्त निर्धारण, आज कठिन भले ही हो, किन्तु विचार करने पर किसी न किसी प्रकार का काव्यात्मक आग्रह, अर्थात् वर्ण्य-

वस्तु को काव्यात्मक आदर्शों और भावनाओं के अनुकूल रमणीय रूप में ग्रहण करने का अनुरोध सर्वत्र जान पड़ेगा। इस सम्बन्ध में प्रवृत्तियों के प्रसंग में विचार होगा।

(२) **अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ**—पहले, अ-शास्त्रीय और अलौकिक शब्दों का प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य अर्थ निर्दिष्ट कर लेना आवश्यक है। संस्कृत वैयाकरणों ने निषेधसूचक 'अ' उपसर्ग का उपयोग इन अर्थों में किया है—सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पता, अप्राशस्त्य, और विरोध।[1] कविसमयगत प्रसिद्धियों के अर्थों में लोक और शास्त्र के सादृश्य, अभाव, अल्पत्व और अप्राशास्त्य की स्थिति नहीं दिखाई देती। विरोध और अन्यत्व, इन शेष दो में से, यदि विरोध को ग्राह्य माना जाए तो देखना होगा कि लक्षण ग्रंथों में लोक और शास्त्र-विरोधी अर्थ-दोषों के जो उदाहरण प्राप्त हैं, उनमें से कोई भी कविसमयगत अर्थ का नहीं है। अतएव कहा जा सकता है कि कविसमय-निबद्ध अर्थ लोक और शास्त्र-विरोधी नहीं हैं। और इस कारण प्रस्तुत प्रसंग में 'अ' उपसर्ग के लिए अन्यत्व का भाव मानना होगा। निष्कर्ष रूप में, कविसमय को शास्त्रीय और लौकिक से भिन्न अर्थों का निबन्धन कहा जा सकता है। इसी को यों कह सकते हैं कि कविसमय-निबद्ध अर्थ शास्त्र-वहिर्भूत और लोकवहिर्भूत अथवा शास्त्रातिक्रांत और लोकातिक्रांत हैं।

शास्त्र और लोक—प्राचीन आचार्यों में भामह और दण्डी ने समान रूप से 'देश-काल-कला-लोक-न्यायागम-विरोधि' दोषों के उल्लेख-प्रसंग में[2] 'लोक' की व्याख्या नहीं की है, उनके द्वारा उल्लिखित न्यायागम को शास्त्रस्थानीय माना जा सकता है। वामन ने ऐसे ही प्रसंग में 'लोक' और 'शास्त्र' शब्दों का उल्लेख करते हुए लोक की व्याख्या 'देश-काल-स्वभाव' की है, तथा चतुर्वर्ग

---

[1] दे. शब्दसा. पृ. ३३।

[2] देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त हीनं दुष्टं च नेष्यते॥
—भामह, काव्यालंकार ४।२

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवेते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥
—दण्डी, काव्यदर्श ४।३

शास्त्र को विद्या के अन्तर्गत माना है। उनके अनुसार विद्या का अन्य अंग कला है।[१] अतः इन आधारों पर—

लोक=देश-काल-स्वभाव।

और, शास्त्र=न्यायागम, और कला।

मम्मट ने काव्य-हेतु के प्रसंग में लोक-शास्त्र का उल्लेख करके दोनों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। उसके अनुसार

स्थावरजंगमात्मकवृत्त—लोक है,[२]

और, छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोश, कला, चतुर्वर्ग (पुरूषार्थ), हाथी, घोड़े खड्ग आदि के लक्षण बताने वाले ग्रंथ, महाकवियों से सम्बद्ध ग्रंथ, तथा इतिहासादि ग्रंथ—शास्त्र हैं।[3]

यदि भामह दण्डी और वामन के उल्लेखों के उपर्युक्त निष्कर्ष के साथ मम्मट के इस उल्लेख को रखकर देखा जाए तो लोक की व्याप्ति समस्त देशकालगत स्थावर जंगम के स्वभाव और व्यवहार (वृत्त) तक तथा शास्त्र की व्याप्ति समस्त विद्यास्थानों[४] तक सिद्ध होती है।

इसलिये कहा जा सकता है कि कविसमय, ऐसे अर्थों का निबन्धन है जो समस्त देशकालगत स्थावर-जंगम के स्वभाव और व्यवहार का, तथा समस्त विद्यास्थानों का अतिक्रमण करते हैं।

किसी भी कविसमयगत प्रसिद्धि में इसकी चरितार्थता लक्ष्य की जा सकती है। उदाहरणार्थ, अन्धकार का मुष्टिग्राह्य और सूचीभेद्य होना किसी भी देश और काल (लोक) की वास्तविकता नहीं है, और न किसी विद्यास्थान

---

[१] देशकालकलास्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि।
कला चतुर्वर्गशास्त्र विरुद्धार्थानि विद्या विरुद्धानि॥
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति २।२।२३-२४

[२] लोकस्य स्थावरजंगमात्मकलोकवृत्तस्य

[3] शास्त्राणां छन्दो व्याकरणाभिधान कोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखंगादिलक्षण ग्रंथानां। काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम् आदि ग्रहणादितिहासादीनां च।
—काव्यप्र. १।३

[४] दे. संख्या वर्ग, विद्याएँ प्र.

(शास्त्र) द्वारा समर्थित है। इसी प्रकार, चक्रवाक-मिथुन का रात्रि में नदी के भिन्न तटों पर वियुक्त दशा में रहना, न लोकसमर्थित है, और न शास्त्र-समर्थित। किन्तु इन प्रसिद्धियों को लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता।

राजशेखर के विवेचन को देखने से इस सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि कविसमय को अशास्त्रीय और अलौकिक मान कर भी उन्होंने उसके अदोषत्व-हेतु में प्राचीन विद्वानों के व्यापक शास्त्र-लोक-ज्ञान के प्रमाण पर बल क्यों दिया है? इसका उत्तर होगा कि राजशेखर ने प्राचीन विद्वानों द्वारा शास्त्र और लोक के अनुभव से उपलब्ध काव्यार्थों के निबन्धन पर बल दिया है। काव्य के सम्बन्ध में, शास्त्र और लोक का व्यापक अनुभव, ऐसे अर्थों की उपलब्धि कराए जो शास्त्र और लोकगत अर्थों से परे हों, यही अधिक सम्भव है, क्योंकि विज्ञान की भाँति काव्यार्थ लोक और शास्त्र की सीमाओं में बद्ध नहीं रहता।

(३) **परम्परायात अर्थ**—अशास्त्रीय और अलौकिक होने पर भी कोई अर्थ तब तक कविसमय नहीं कहा जा सकता जब तक कि काव्य में उसके निबन्धन की परम्परा विद्यमान न हो। इसमें कवि-जगत् की साम्प्रदायिक मर्यादा का भाव ही अधिक जान पड़ता है। देशान्तर और द्वीपान्तर में व्याप्त कवियों का समान आचरण इसका उद्देश्य है। राजशेखर ने अन्यत्र कहा है कि यद्यपि देश-भेद से पदार्थों के रूपों में अन्तर दिखाई देता है, तो भी उनके उन रूपों का वर्णन न करके, कविबद्ध (कविसमयसिद्ध) रूप को प्रमाण मानना चाहिए।[१] इससे स्पष्ट है कि काव्याभिव्यक्ति में एकरूपता और समता की रक्षा कविसमय का लक्ष्य है।

यह बात भी इससे जानी जा सकती है कि काव्य-रचना के आदिम युग में अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों का निबंधन होते हुए भी कविसमय की स्थिति असम्भव रही होगी, क्योंकि परम्परा के लिए देशगत अनुक्रम के साथ कालगत अनुक्रम भी अपेक्षित है। संस्कृत के आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में कविसमयगत अधिकांश अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ उपलब्ध हैं, परवर्ती

---

[१] देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
तन्न तथा बध्नीयात् कविबद्धमिह प्रमाणं नः॥
—काव्यमी. अ. १८

काव्यों में उनका वह रूप अक्षुण्ण है। राजशेखर द्वारा कविसमय की स्थापना जिस काल में हुई, तब तक के काव्यों में उन अर्थों की पुष्ट परम्परा मिलती है। राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा कविसमय के उल्लेख न होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि उन आचार्यों के लिए अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों के परम्परित रूपों का अभाव रहा हो। अस्तु।

लक्षण ग्रंथों में उल्लिखित कविसमयगत अर्थ, परम्परायात अर्थ ही हैं, उनके 'प्रसिद्ध' होने का कारण भी यही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी काव्यों में उनका पालन हुआ है, अनेक स्थलों पर उनकी अवहेलना भी हुई है। अनेक काव्यों में या तो कविसमयगत अर्थों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया जान पड़ता, या कविसमय को प्रमाण मानने की वृत्ति का अभाव दिखाई देता है।

कविसमयगत अर्थ के परम्परायात होने के लक्षण का प्रतिफलन इस रूप में भी दिखाई देता है कि लक्षण ग्रंथों में कविसमयगत प्रसिद्धियों की संख्या का क्रमशः विस्तार होता गया। यदि किसी लक्षणग्रंथकार ने अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ-विशेष की काव्य में स्थिति लक्ष्य करके भी उसकी परम्परा का अभाव पाया, तो उसने अपने उल्लेख में उसे नहीं रखा, उसके परवर्ती लक्षण-ग्रंथकार ने उस अर्थ की परम्परा को भी लक्ष्य करके, अपने उल्लेख में स्थान दिया। निश्चय ही, इस क्रम में प्राप्त अनेक कविप्रसिद्धियाँ ऐसी हैं, जिनकी परम्परा काव्य में पर्याप्त पुष्ट है; और अनेक ऐसी भी हैं, जिनकी परम्परा अपेक्षाकृत क्षीण है, उन पर विचार करने के प्रसंग में काव्य से उनके समर्थक उद्धरण प्राप्त करना भी कठिन है। हिन्दी-काव्य में भी कुछ ऐसे अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों की परम्पराएँ विकसित हुई हैं, जो संस्कृत-काव्यों में नहीं हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख केशवदास ने कविप्रिया में किया है, प्रस्तुत प्रबंध में भी, उनसे अतिरिक्त कुछ का विचार किया गया है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

कविसमयगत प्रसिद्धियों का निर्देश करने वाले सभी लक्षण ग्रंथों में तीन प्रकार के अर्थ निबन्धनों का उल्लेख है—

(१) असत् निबन्धन

(२) सत् अनिबन्धन

(३) नियम निबन्धन

राजशेखर ने पहले, अर्थनिबन्धन के जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया रूप, ये चार भेद करके, फिर इनमें से प्रत्येक के उक्त तीन भेद निर्धारित किये थे। परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उक्त तीन भेद ही माने, चार रूपों का पृथक् विचार नहीं किया। ये सब भेद-प्रभेद भी राजशेखर के अनुसार भौम कविसमय के ही हैं। स्वर्ग्य और पातालीय कविसमय का उल्लेख राजशेखर ने पृथक् किया है[१]। किन्तु परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने स्वर्ग्य और पातालीय का समावेश भी भौम कविसमय में ही कर लिया।

कविसमयगत अर्थनिबन्धन के उक्त तीन प्रकारों को कविसमय की तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ कहा जा सकता है। किन्तु कविसमय की प्रवृत्तियों के व्यापक सुस्पष्ट ज्ञान के लिये राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया-प्रभेद भी अपेक्षित हैं।

अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ-निबन्धन होने के कारण, कविसमय में वर्ण्य वस्तु का प्रकृत गोचर से भिन्न रूप ग्राह्य होता है। इसके मूल में वस्तु को अपनी भावना के अनुरूप रमणीय अर्थ प्रदान करने का उद्देश्य निहित है। प्रातिभ ज्ञान अथवा कल्पना के सहारे, वस्तु को काव्योपयोगी बनाने की वृत्ति ही इसमें प्रधान है। काव्य में वस्तु के ऐसे रूप का उपन्यास जो सहृदय-आह्लाद-कारी हो, अर्थसौन्दर्य की रक्षा के लिए आवश्यक भी है। कविसमय की प्रेरक भावना का लक्ष्य प्रायः आदर्शात्मक रहता है। सौन्दर्य का घनीभूत और उत्कृष्ट रूप ही उसका अभीष्ट है।

उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए कभी तो वस्तु के अप्रकृत धर्म का विधान होता है, कभी प्रकृत धर्म की अस्वीकृति और कभी उसकी अनेकत्र वृत्तियों का

[१] दे. परि. १ (क), काव्यमीमांसा।

एकत्र नियमन। ये ही कविसमय की उक्त तीन प्रवृत्तियाँ हैं। वस्तुधर्म के जातित्व, द्रव्यत्व अथवा विशेषत्व, गुण और क्रिया, इन चार पक्षों में से जो पक्ष सौन्दर्य का मुख्य आधार दिखाई देता है, उसी पर उक्त प्रवृत्तियाँ घटित होती हैं। अतः, तीन मुख्य प्रवृत्तियों में से प्रत्येक की चार उपप्रवृत्तियाँ इस प्रकार द्रष्टव्य हैं—

(१) **असत् निबन्धन**—(वस्तु के अप्रकृत रूप का विधान) इसे वर्ण्य वस्तु का संस्कार कह सकते हैं। इसके चार भेद हैं—

(क) **अप्रकृत जातित्व का विधान**—स्थिति-विशेष में सुन्दर लगने वाली वस्तु को प्रत्येक सामान्य स्थिति में देखने की भावना का अनुरोध इसका हेतु है। उदाहरणार्थ, पद्म की स्थिति जल में होती है, किन्तु कर्दम भरे पुराने सरोवरों के जल में ही। नदियों और समुद्र आदि के स्वच्छ एवं विस्तृत जल में, आदर्श सौन्दर्य-भावना के अनुरोध से, पद्म की स्थिति का विधान किया गया।[1]

(ख) **अप्रकृत विशेषत्व का विधान**—उदाहरणार्थ, ज्योत्स्ना के विषय में घड़े में भरे जाने और अंजलि द्वारा पेय होने के स्वभाव का विधान, उससे प्राप्त तृप्ति की भावना को पूर्णता देता है।[2]

(ग) **अप्रकृत गुण का विधान**—उदाहरणार्थ, यश और हास जैसे अमूर्तों के शुक्लत्व का विधान, उनके विषय में पूर्ण सात्विकता की भावना से प्रेरित है।[3]

(घ) **अप्रकृत क्रिया का विधान**—उदाहरणार्थ, चन्द्रिका द्वारा प्रसन्न होने वाले चकोर के विषय में, चन्द्रिका-पान की क्रिया का विधान, उसके विषय में पूर्ण तृप्ति सम्बन्धी भावना से प्रेरित है।[4]

(२) **सत् अनिबन्धन**—(वस्तु के प्रकृत रूप की अस्वीकृति) इसे वर्ण्य वस्तु का परिष्कार कह सकते हैं। इसके चार भेद हैं :—

(क) **प्रकृत जातित्व की अस्वीकृति**—उदाहरणार्थ, चन्दन-द्रुम में पुष्पों

---

[1] दे. वनस्पति वर्ग (१), पद्म प्र.

[2] दे. आकाश वर्ग, ज्योत्स्ना प्र.

[3] दे. वर्ण वर्ग, शुक्ल-गौर प्र.

[4] दे. पक्षिवर्ग, चकोर प्र.

और फलों की स्थिति रहती है, किन्तु वे पुष्प और फल वृक्ष की अन्य विशेषताओं की तुलना में हेय होते हैं, अतः वृक्ष के पूर्ण सौन्दर्य की भावना में उनसे विघात होता है। इसी कारण उन्हें अस्वीकार किया गया है।[१]

(ख) **प्रकृत विशेषत्व की अस्वीकृति**—उदाहरणार्थ, अन्धकार का वैशिष्ट्य शुक्लपक्ष में भी व्याप्त होने का है, किन्तु वह उस पक्ष के पूर्णतया ज्योत्स्नामय होने की भावना का विघातक है। उसके अस्वीकार में यही हेतु है।[२]

(ग) **प्रकृत गुण की अस्वीकृति**—उदाहरणार्थ, कुन्द-कुड्मल की रक्तिमा, उसका प्रकृत गुण है, किन्तु उसे उज्ज्वल दाँतों का उपमान मान लेने पर, उसकी रक्तिमा से उपमेय-उपमान के रूपसादृश्य की भावना आहत होती है। अतः उसकी रक्तिमा को अस्वीकार किया गया है।[३]

(घ) **प्रकृत क्रिया की अस्वीकृति**—उदाहरणार्थ, शेफालिका-कुसुम सूर्योदय के बाद भी विरल रूप से झरते रहते हैं, किन्तु उनके झरने का पूर्ण सौन्दर्य सूर्योदय से पहले ही रहता है। इसी कारण सूर्योदय के बाद उनके झरने को अस्वीकार किया गया है।[४]

(३) **नियम-निबन्धन** (वस्तु की अनेकत्र वृत्तियों का एकत्र नियमन) इसे वर्ण्य वस्तु का समाहार कह सकते हैं। इसके चार भेद हैं—

(क) **जातित्व का नियमन**—उदाहरणार्थ, मकरों की स्थिति समुद्र के अतिरिक्त नदियों में भी होती है; किन्तु समुद्र के विस्तृत और गम्भीर जल में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करने वाले विशाल मकरों का सौन्दर्य, उनकी अन्यत्र स्थितियों की अपेक्षा, श्रेष्ठ होता है। उनकी स्थिति समुद्र में नियत करने का यही हेतु है।[५]

---

[१] दे. वनस्पति वर्ग (१), चन्दन प्र.

[२] दे. आकाशवर्ग, अन्धकार प्र.

[३] दे. वनस्पतिवर्ग (१), कुन्द प्र.

[४] दे. वनस्पति वर्ग (१), शेफालिका प्र.

[५] दे. वारिवर्ग, मकर प्र.

(ख) **वैशिष्टय का नियमन**—उदाहरणार्थ, भुर्जद्रुमों का वैशिष्टय, हिमालय के अतिरिक्त अन्य स्थलों में उत्पन्न होने का भी है, किन्तु हिमालय में उनका सौन्दर्य पूर्ण विकास पाता है। अतः उनकी उत्पत्ति हिमालय में नियत की गई।[१]

(ग) **गुण का नियमन**—उदाहरणार्थ, मेघ अनेक वर्ण के होते हैं; किन्तु वर्षाकालीन श्याम वर्ण के मेघ ही, विपुल वर्षाकारक होने से उत्कृष्ट होते हैं। सामान्य उपादान में मेघों का श्याम वर्ण नियत करने का यही कारण है।[२]

(घ) **क्रिया का नियमन**—उदाहरणार्थ—जागतिक क्षार सागर के सौन्दर्य की भावना, पौराणिक क्षीर सागर से उसका अभेद कल्पित करके, पूर्ण होती है। इस कारण दोनों का अभेद नियत हुआ।[3]

निष्कर्ष

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तु को, भावनानुकूल आदर्श रूप प्रदान करके, उसे काव्योपयोगी चारुत्व अथवा रमणीयता से मंडित करना, कविसमय का मूल उद्देश्य है। कुन्तक ने ऐसी ही वस्तु को कवि-कौशल-जन्य आहार्य वस्तु कहा है। वह अर्थालंकार से भिन्न है। वस्तुतः वह अलंकार को अलंकारत्व प्रदान करने वाला सौन्दर्यतत्व है।

यह भी स्पष्ट है कि कविसमय में गृहीत वस्तु नितान्त अस्तित्वहीन अथवा काल्पनिक नहीं होती। कुन्तक की भाषा में—

> "वह सत्तामात्र से प्रतिभासित रहती है : कवि अपने कौशल के द्वारा उसमें कुछ अलौकिक शोभातिशय की उद्‌भावना या आधान कर देता है, जिससे उसका सत्तामात्र से प्रतीत होने वाला मूल रूप आच्छादित हो जाता है, और वह लोकोत्तर सौन्दर्य से सम्पन्न एक नया ही रूप धारण कर लेती है।"[४]

---

[१] दे. वनस्पति वर्ग (१), भूर्जद्रुम प्र.

[२] दे. वर्णवर्ग, नील-श्याम प्र.

[3] दे. वारिवर्ग, समुद्र प्र.

[४] डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ. २६९

काव्यशास्त्र में कविसमय का स्थान

राजशेखर द्वारा काव्यशीमांसा में कविसमय की पुष्ट स्थापना का परिणाम यह हुआ कि परवर्ती काव्यशास्त्र में कविसमय को अनेकमुखी व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। उसके विविध पक्ष इस प्रकार हैं—

(१) कविशिक्षा रूप

(२) अलंकार-साधन रूप

(३) दोषापहार एवं गुणत्व रूप

(४) ध्वनि-व्यजना रूप

(५) औचित्य रूप

(१) कविशिक्षा रूप

आचार्यों की इस शंका के उत्तर में कि कविसमयगत अर्थनिबन्धन दोष है, राजशेखर ने इसे कविमार्गानुग्राही अर्थात् कवियों का मार्गपरिदर्शक बताया था। इसमें कविशिक्षा का भाव स्वतः निहित है। निम्नांकित परवर्ती लक्षण ग्रंथों में कविशिक्षा के अंगरूप कविसमय का विचार हुआ है[1]—

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र

काव्यकल्पलतावृत्ति—अरिसिंह और अमरचन्द्र

कविकल्पलता—देवेश्वर

अलंकारचिन्तामणि—अजितसेन

अलंकारशेखर—केशवमिश्र

कविप्रिया (हिन्दी)—केशवदास

कविसमय के सैद्धान्तिक पक्ष पर इन ग्रंथों में यद्यपि विचार नहीं है, किन्तु असत्-निबन्धन सत्-अनिबन्धन और नियम-निबन्धन के अन्तर्गत जिन कवि-प्रसिद्धियों का निर्देश है, वे पूर्णतया पूर्वापर्य अनुवर्तन में नहीं हैं, पृथक्-पृथक् लक्षणग्रंथकारों ने उनके चयन में यत्र-तत्र स्वेच्छा से भी काम लिया है। किन्तु

---

[1] इन ग्रंथों के प्रासंगिक अंशों के लिए दे. परि. १ (क), तथा रचनाकाल के लिये दे. 'प्रस्तावना'।

राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट कविप्रसिद्धियों में से, इनके द्वारा कोई छोड़ी नहीं गई है। भाषा और व्याकरण सम्बन्धी कविसमयगत शिक्षा का उल्लेख अलंकार-शेखर में पहली बार हुआ है।

(२) **अलंकार-साधन रूप—**

अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमांसा में अलंकार के अलंकारत्व अर्थात् काव्य-शोभाकर धर्म का, कविप्रसिद्धि के अनुरोध से हृदयावर्जक हो जाना माना है :

"सर्वोऽपि ह्यलंकारः कविप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलंकारतां भजते। अतः 'गोसदृशः गवयः' इति नोपमा।"[१]

(३) **दोषापहार रूप—**

इसके दो प्रकार हैं—

(१) कविसमयसिद्ध अर्थ का अदोषत्व एवं गुणत्व

(२) कविसमयविरूद्ध अर्थ का दोषत्व

(१) कविसमयसिद्ध अर्थ का अदोषत्व एवं गुणत्व—

मम्मट ने ऐसे अर्थ का जो लोकविरुद्ध होने पर भी कविसमयसिद्ध हो, अदोषत्व स्वीकार किया है। दृष्टांतरूप में, उन्होंने, अमूर्त कीर्ति को ज्योत्स्ना-वत्प्रकाशरूपा[२] कहने का उद्धरण दिया है—

सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्ति केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क्व नासि शुभप्रद।।

अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कवि-प्रसिद्धेर्नदुष्टम्।।[3]

जयदेव ने विद्याविरूद्ध अर्थ की, कविसमय के कारण, अदोषता मानी है। इसके दृष्टान्त में क्षीर सागर से उत्पन्न चन्द्रमा को कलंकित कहा गया है।

---

[१] चित्रमीमांसा, पृ. ६ (नि. सा.), [बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय साहित्य शास्त्र' खण्ड १, पृ. ८ पर उद्धृत]

[२] दे. वर्ण व. शुक्ल-गौर प्र.

[3] काव्यप्र. ७।७६

तव दुग्धाब्धि सम्भूतः कथं जाता कलंकिता ।
कवीनां समयाद्विद्याविरुद्धोऽदोषतां गतः ।।[१]

पुराणों के अनुसार अत्रिनेत्ररूप चन्द्रमा कलंकित है, क्षीरसागरोद्भुत नहीं, कविसमय में दोनों का अभेद मान्य है ।[२]

विश्वनाथ ने ख्यातार्थ में निर्हेतुता को दोष नहीं माना है—

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।[३]

और इसके उदाहरण में संध्यासमय चक्रवाक-द्वन्द्व के वियोग[४] का कथन प्रस्तुत किया है—

सम्प्रति सन्ध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयन्ति ।।[५]

उन्होंने कविसमयाख्यात अर्थ में ख्यातविरूद्धता को गुण भी कहा है—

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरूद्धता ।[६]

(२) कविसमयविरुद्ध अर्थ का दोषत्व—

मम्मट ने युवती के पादाघात से अशोक में अंकुर फूटने के कथन को कविसमयविरूद्ध होने के कारण दोष कहा है, क्योंकि कविसमय के अनुसार पादाघात से अशोक में पुष्पोद्गम होता है[७], अंकुरोद्गम नहीं—

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवाद्भरिहेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवांकुर कंचुकः ।।

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरंकुरोद्गमः ।[८]

---

[१] चन्द्रालोक २।४२

[२] दे. स्वर्ग्य व. चन्द्रमा प्र.

[३] साहित्यदर्पण ७।२२

[४] दे. पक्षि व. चक्रवाक मिथुन प्र.

[५] साहित्यदर्पण ७।२२

[६] वही ७।२२

[७] दे. वनस्पति व. (२), अशोक प्र.

[८] काव्यप्र. ७।७८

जयदेव ने प्रसिद्धिविरूद्ध अर्थ का निदर्शन प्रताप को धवल कहने के उदाहरण से किया है—

प्रसिद्धया विद्यया वाऽपि विरुद्धं द्विविधं मतम् ।
न्यस्तेयं पश्य कन्दर्प प्रतापधवलद्युतिः ।।[१]

कविसमय के अनुसार प्रताप रक्तवर्ण है ।[२]

(४) **ध्वनिव्यंजना रूप**—

ध्वनिवादियों के अनुसार अर्थशक्ति से उद्‌भूत संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) के बारह भेदों में से आठ भेद कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्ताप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु एवं अलंकार पर आधृत हैं। जहाँ कवि ही वक्ता होता है वह पहला रूप है। जहां पात्र वक्ता होता है वह दूसरा रूप है। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद माने गये हैं—

(१) वस्तु से व्यंग्य वस्तु ।
(२) वस्तु से व्यग्य अलंकार ।
(३) अलंकार से व्यग्य वस्तु ।
(४) अलंकार से व्यंग्य अलंकार ।

दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

साहित्यदर्पण में वस्तु से व्यंग्य वस्तु के उदाहरण में, शरकार वसन्त, योद्धा कामदेव, और युवतियों को लक्ष्य करने वाले आम्रमंजरियों के बाण, कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु हैं[३], उनसे मदन-विजृम्भण (कामोद्दीपन-काल) रूप वस्तु व्यंग्य है—

सज्जेइ सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजण लक्खमुहे ।
अहिणवसरआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणस्स सरे ।।
[संजयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजन लक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्रलाननंगस्य शरान् ।।]

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यं, पुष्पाणि शरा, इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु, प्रकाशीभवन्मदनविजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति ।[४]

---

[१] चन्द्रालोक २।३४–३५

[२] दे. वर्ण व., पीत-रक्त प्र.

[३] दे. स्वर्ग्य व. कामदेव प्र.

[४] साहित्यदर्पण ४।९

वस्तु से व्यंग्य अलंकार के उदाहरण में भुवनमण्डल को सतत प्रकाशित करने वाली धवल कीर्ति[१] कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है, केवल रात्रि में प्रकाशित करने वाली चन्द्रकिरणों से उनके उत्कर्ष में व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है—

रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम् ।।

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनवस्तुना कीर्ति संततेश्चन्द्रकरजालादधिककालप्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालंकारो व्यंग्यः ।[२]

(५) **औचित्य रूप**—

अल्लराज ने रसरत्नदीपिका में कविसमयस्वीकृत अर्थ को रसपोषक माना है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगंस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्पुरा ।।[३]

इति पुराणाचार्याः पठन्ति । अस्यायमर्थः । यत्रौचित्यं वर्तते कविसमयस्वीकृतं तदेव रसपोषं कुरूते । अन्यथा रसवैरस्यमेव ।[४]

निष्कर्ष

कविसमय के उपर्युक्त विविधपक्षीय महत्व के आधार पर कहा जा सकता है कि यह काव्य-रचना का अत्यन्त उपयोगी तत्व है । रससाधना में यद्यपि इसका सीधा योग नहीं होता, किन्तु काव्य के रससाधक उपादानों का व्यापक आधार यह अवश्य बनता है ।

काव्य के उद्भव-हेतु में शिक्षा का भी स्थान है—

---

[१] दे. वर्ण व. शुक्ल-गौर प्र.

[२] साहित्यदर्पण ४।९

[३] ध्वन्यालोक का मूल श्लोक इस प्रकार है—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् पुरा ।।

—[भारतीय साहित्य शास्त्र, खण्ड १, पृष्ठ २८६ से उद्धृत]

[४] रसरत्नदीपिका ६।४३.

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।
—काव्यप्र. १।८

अत: शिक्षारूप कविसमय का काव्यहेतु होना सिद्ध है ।

प्राय: सभी काव्यशास्त्रियों ने निर्दोष और सगुण होना काव्य का लक्षण माना है;[१] कविसमय का अदोषत्व तो मान्य है ही, विश्वनाथ के अनुसार उसमें ख्यातिविरूद्धता गुण भी है। दोष का अभाव भी गुण माना गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के मत से दोष का विपर्यय अथवा अभाव ही गुण है; उत्तरध्वनिकाल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण माना है।"[२] इस आधार पर कविसमयनिबद्ध अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थोपनिबन्धन के काव्यगुण होने में सन्देह नहीं रहता ।

प्राचीनतर आचार्यों को अर्थगुणों की स्थिति मान्य थी, और अलंकार के व्यापक अर्थ में उनका समावेश था। दण्डी ने काव्यशोभाकर सभी धर्मों को अलंकार कहा था।[3] वामन ने अलंकारों से गुणों का पार्थक्य किया। उन्होंने गुणों को काव्य का नित्य शोभाकर धर्म, तथा अलंकारों को काव्यशोभा का अतिशय (वृद्धि) हेतु अनित्य धर्म कहा।[४] बाद में ओजप्रसादादि गुणों को अंगी रस के आश्रित मान लेने पर[५] यह पार्थक्य और भी स्पष्ट हुआ, शेष अर्थगुणों का अन्तर्भाव अलंकार या दोषाभाव में हो गया। अत: अलंकार का

---

[१] भामह—काव्यालंकार १।११, १।१३; 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि'—मम्मट; 'गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ'—प्रतापरुद्रीय; शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय: सालंकारौ काव्यम्'—वाग्भट, काव्यानुशासन पृ. १४; 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च काव्यम्'—हेमचन्द्र पृ. १६, वामन १।१।१ की वृत्ति; 'काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्'—अग्निपुराण; —निर्दोषं गुणवत्काव्यारलंकारै रलंकृतम्—' सरस्वती कण्ठाभरण ।

[२] डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ. ५६

[3] काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्ष्यते । —काव्यादर्श २।१.

[४] काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: ।
तदतिशय हेतवस्त्वलंकारा ।। —वामन

[५] ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन:
उत्कर्षहेतव: ते स्यु: अचलस्थितयो गुणा: ।। —काव्यप्र.

व्यापक अर्थ ग्रहण करके, उसे चित्रमीमांसा के उपर्युक्त उद्धरण की संगति में देखने पर, कविसमय के माध्यम से काव्यशोभाकरधर्म का बोध होता है।

ध्वनिवादियों ने तो स्पष्ट ही कविसमयनिबद्ध (कविप्रौढोक्तिसिद्ध) वस्तु को उत्तम काव्य का कारण माना है। उनके अनुसार दोष वही है जो मुख्य अर्थ का ह्रास करे और मुख्य अर्थ है रस।[१] कारणरूप विभाव का उत्कर्ष प्रतिपादित करने से कविसमय, कार्यरूप रस का उत्कर्षहेतु ही है।

औचित्य के माध्यम से भी कविसमय रस-साधक है। औचित्य को रस का जीवितभूत कहा गया है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणेचारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥[२]

और, अर्थ अथवा वस्तु के सम्बन्ध से कविसमय औचित्य का आधार है। अतः इस दृष्टि से भी कविसमय का रसपोषकत्व सिद्ध है।

वक्रोक्ति से कविसमय की संगति 'आहार्य वस्तु' के सम्बन्ध से स्पष्ट है।[3]

तात्पर्य यह कि मूलतत्वरूप वस्तु अथवा अर्थ (पदार्थ) का शोभाविधायक होने से कविसमय, काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों का उपकारी है, और उनके माध्यम से काव्य के चरम प्रतिपाद्य में सहायक है। दूसरे शब्दों में, वह काव्य-मात्र का हितसाधक है। इसी में उसके 'कवि-सम्प्रदाय' जैसे व्यापक अर्थमय नाम की सार्थकता है।

---

[१] मुख्यार्थापहतिर्दोषः रसस्यमुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः। —मम्मट

[२] औचित्यविचारचर्चा, कारिका ७

[३] 'प्रमुख प्रवृत्तियां' शीर्षक के अन्तर्गत दे.

खण्ड—२

व्यावहारिक पक्ष (कविप्रसिद्धियाँ)

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य ।
तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः ॥

—राजशेखर

वनस्पति-वर्ग (१)

पद्म

पद्म के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[१]—

(१) यह नदियों और समुद्र में होता है ।

(२) केवल दिन में विकसित होता है ।

(३) हेमन्त और शिशिर को छोड़ कर अन्य सब ऋतुओं में होता है ।

(४) इसके कुड्मल हरे नहीं होते ।

कविसमय की दृष्टि से पद्म के तीन भेद प्रमुख रूप से लक्ष्य करने के हैं—(१) पद्म (सामान्य), (२) उत्पल अथवा नीलोत्पल, और (३) कुमुद । इनसे सम्बद्ध पृथक्-पृथक् कविप्रसिद्धियाँ हैं । अतः नीलोत्पल और कुमुद पर हम तत्तत् प्रकरण में विचार करेंगे । यहाँ पद्म की अन्य जातियों का विवेचन अपेक्षित है ।

पद्म के अवान्तर भेदों में पुण्डरीक (श्वेत पद्म) सौगन्धिक (पीत पद्म) और कोकनद (रक्तपद्म) को प्रमुख माना जा सकता है । पुण्डरीक विशेष श्वेत पद्म है, इस बात का समर्थन कोश और वैद्यक ग्रंथों से होता है ।[२] सौगन्धिक को अमरकोश में कल्हार कहा गया है ।[३] बल्मीकि-रामायण के एक ही प्रसंग में सौगन्धिक का पद्मोत्पल अथवा पद्मनीलोत्पल से भिन्न उल्लेख हुआ है ।[४] इससे अनुमान होता है कि नीलोत्पल के समान ही सौगन्धिक भी पद्म की विशिष्ट जाति है । महाभारत में कुबेर के सौगन्धिक-वन का अनेक बार वर्णन आता है ।[५] पांडवों के बनवास-प्रसंग में एक बार द्रौपदी को पूर्वोत्तर

---

[१] दे.—परि. १ (क), (ख)

पद्म में लक्ष्मी के वास से सम्बद्ध कविप्रसिद्धि के लिये देखिये—'लक्ष्मी' प्र.

[२] पुण्डरीकं सिताम्भोजम् । —अमर. १।१०।४१

विशेषतः सितं पद्मं पुण्डरीकमिति स्मृतम् । —भावप्र. पु. व. ५।४

[३] सौगन्धिकं तु कल्हारं । —अमर. १।१०।३५

[४] रामा. ४।१।३, ४।१।६३, ४।१।१०५

[५] अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ ।

अत्र सौगन्धिकवनं नैऋतेरभिरश्चते ।। —भारत. ५।१११।१२

वायु द्वारा उड़ा कर लाया हुआ एक सौगन्धिक पुष्प प्राप्त हुआ। वह सहस्त्र पत्रों का, अत्यन्त गन्धयुक्त और सूर्य की प्रभा के समान था। द्रौपदी ने भीम से उसी प्रकार के अन्य पुष्प लाने की मांग की।[1] भीम ने पुष्करिणी में जिन सौगन्धिक पुष्पों को देखा वे भी उसी प्रकार सुनहले रंग के और परम गंधयुक्त थे।[2] वैद्यक के ग्रंथों में प्राप्त सौगन्धिक के विवरण से इसका इतना ही साम्य है कि सौगन्धिक विशेष गंधयुक्त होता है। रंग के विषय में अधिक प्रमाण सौगन्धिक के पीत होने के पक्ष में ही हैं।[3] कोकनद का रक्तपद्म होना अमरकोश और भावप्रकाश से समर्थित है।[4]

मूल, नाल, दल और फल सहित सम्पूर्ण पद्म को पद्मिनी कहा जाता है।[5]

जल में उत्पन्न होने वाले पद्म के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त कहीं-कहीं स्थल-कमल का भी उल्लेख मिलता है।[6]

जल, पंक और जलाशय वाची शब्दों के साथ उत्पन्न होने का बोध कराने वाले अनेक प्रत्ययों और शब्दों के योग में पद्म के पर्यायों का व्युत्पत्त्यर्थ निहित रहता है। जल में होने वाले सभी पदार्थों का बोध उन पर्यायों से साधारणतः होना चाहिए, किन्तु पद्म के अर्थ में वे योगरूढ़ हो गये हैं।[7]

---

[1] भारत. ३।१४६।३–६

[2] तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृतां।
जातरूपमयैः पद्मैश्चन्नां परमगन्धिभिः॥ —भारत ३।१५३।६

[3] बृहन्नि. पृ. ११२९ टी.; धन्नि.

[4] रक्तोत्पलं कोकनदम्। अमर. १।१०।४१
रक्तं कोकनदं ज्ञेयं। भावप्र. पु. व. ५।४

[5] मूलनाल दलोत्फुल्ल फलैः समुदितः पुनः।
पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्विसिन्यादि च सा स्मृता॥ —भावप्र. पु. व. १।६

[6] स्थलकमलगंजनं मम हृदयरंजनं जनितरतिरंगपरभागम्।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं सरसलसदक्तकरागम्—गीतगो. १०।६
थलकमलपत्त समान नत्तहिं, मत्तकुंजरगामिनी।
कीर्ति. २, पंक्ति ८७

[7] पर्यायों के लिए दे.—शब्दकल्प. 'कमल' शब्द, राजनि.; करवीरादि व.

भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा में पद्म का महत्वपूर्ण स्थान है। कला, साहित्य, दर्शन, योग आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में इसकी व्याप्ति है। सुकुमार सौन्दर्य का अप्रतिम आधार होने के साथ ही इसकी बड़ी विशेषता यह है कि जल में रहते हुए भी इसके पत्ते जल से निर्लिप्त रहते हैं। भारतीय आध्यात्मिक जीवन का आदर्श—संसार में रहते हुए भी संसार की विषय-वासनाओं से असम्पृक्त रहने का भाव—इसमें पूर्णतया चरितार्थ होता है।[१] हठयोग में शरीर के मूलाधार से ललाट तक भिन्न-भिन्न स्थानों में आठ कमलों की स्थिति मानी गई है। इस प्रकार, चिन्तकों और कलाकारों के लिए पद्म व्यापक प्रतीकार्थ से समन्वित है। साहित्य में यह सौन्दर्य का बहुप्रचलित उपमान है। रूप-वर्णन में कोई भी अवयव सहज ही इसका उपमेय हो जाता है।[२] कहीं-कहीं तो एक साथ ही अनेक अंगों को पद्म के समान कह दिया जाता है, काव्य में इस प्रवृत्ति ने रूढ़ि का सा रूप धारण कर लिया है।[3]

(१) नदियों और समुद्र में पद्म का होना।

पुराने कर्दमभरे जलाशयों के बँधे हुए जल में ही पद्म की उत्पत्ति होती है। नदियों और समुद्र के प्रवाहयुक्त जल में वह सम्भव ही नहीं है। इस कवि-प्रसिद्धि के मूल का अनुमान अनेक आधारों पर किया जा सकता है। पहले तो इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि समान रूप से जल के आश्रय होने के कारण समुद्र, नदी और वापी आदि में तात्विक एकता का भाव है। ऋग्वेद, अथर्ववेद और महाभारत में 'सिन्धु' शब्द समुद्र और नदी दोनों के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है।[४] महाभारत के जिस प्रसंग का सौगन्धिक के सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया गया है, उसमें पुष्करिणी और नदी शब्दों का

---

[१] ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ —गीता. ५।१०

[२] दे. परि. २ 'प्रसिद्ध उपमान'

[3] नयन चख कर मुख उरज विकसत कमल अकार —सं. रासो ७।२६८
नवकंज लोचन कंज मुख पद कंज कर कंजारुणम्। —मानस.

[४] नदी के अर्थ में ऋक्. १।९७।८, १।१२५।५, अथर्व. ३।१३।१, ४।२४।२
क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः।
सिन्धवः शोभयांचक्रुः काननानि तणत्यये ॥ भारत. ३।१८२।६

4

समानार्थी प्रयोग हुआ है ।[१] आदिम धारणा के अनुसार सूर्य का उदय समुद्र (जल के सिमटाव) से होता है ।[२] सूर्य और कमल में काव्य-सुलभ दृष्टि से साम्य देखा गया है ।[3] अतः सर्वत्र जल में कमल की कल्पना सहज ही हो जाती है । पुराणों में आकाशगंगा के स्वर्णकमलों का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है । वास्तव में, वहाँ नक्षत्रों की लम्बी पंक्ति में नदी अथवा गंगा का रूपक है, और नक्षत्रों में स्वर्णकमलों का । पार्थिव नदियों में कमलों की कल्पना का यह भी एक कारण हो सकता है । पौराणिक परम्परा में ही बाल्मीकि ने देवताओं के उद्यान में विचरण करने वाली स्वर्गङ्गा को देवपद्मिनी कहा है,[४] कालिदास ने देवनदी के उन स्वर्णकमलों का वर्णन किया है जिन्हें सप्तर्षि चुनते हैं ।[५] देवताओं के शत्रु तारकासुर ने वे स्वर्णकमल ले जाकर अपने घर की वापियों में लगा लिये थे ।[६]

तुलसीदास ने गंगा के कमलों का वर्णन किया है । लोककल्याणकारिणी गंगा भी बाढ़ आने पर उग्र रूप धारण कर लेती है, और उसके कमल विच्छिन्न हो जाते हैं—

तुलसी तोरत तीर तरु बक हित हंस बिडारि ।
बिगत-नलिन अलि, मलिन जल, सुरसरिहू बढ़ियारि ।।

—दोहा० ४९८

---

[१] तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम् । —भारत ३।१५३।६
सक्रोधं स्तब्धनयनं संदष्ट दशनच्छदम् ।
उद्यम्य च गदां दौर्म्यां नदीतीरेष्ववस्थितम् ।। —वही ३।१५५।२६

[२] ऋक्. ७।५५।७

[३] इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुण सूर्यवत् ।। रामा. १।४।६२

[४] देवा क्रीडशताकीर्णां देवोद्यानयुतां नदीम् ।
देवार्थमाशगतां विख्याता देवपद्ममिनीम् ।। —रामा. १।५०।१५

[५] अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षि हस्तोद्धत हेमपद्माम् ।
प्रवर्तयाभास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बक मौलिमालाम् ।।
रघु. १२।५१

[६] मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्वारणमयाविलम् ।
हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्योधाम साम्प्रतम् ।। —कुमार. ४।२२

नदियों में पद्म आदि की कल्पना का काव्यात्मक कारण यह भी माना जा सकता है कि नदियों की शोभा के आदर्शपरक वर्णन में, सौन्दर्य को पूर्णतर समृद्धि प्रदान करने वाले उपादानों के रूप में, पद्म प्रतिष्ठित हुए हैं। जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब में कमल का भान होता है। सूर्य का प्रतिबिम्ब सर्वत्र जल में पड़ता है। पन्त ने गंगा में कमल का वर्णन इसी भाव से किया है। संध्याकालीन सूर्य-प्रतिबिम्ब को ही उन्होंने 'किरणों के रक्तोत्पल' के रूप में देखा है—

अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन
सब वर्ण्य वस्तु से विश्व दीन
गंगा के चल जल में निर्मल
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल। –पंत, पृ० ५३.

प्राचीन मनीषियों ने संसार की उत्पत्ति जल से मानी है,[१] इस कारण पृथ्वी की कल्पना जल (समुद्र) में स्थित कमल के रूप में की गई।[२] महाभारत में पश्चिम-दिशा-वर्णन के प्रसंग में समुद्र को स्वर्णकमलों से युक्त कहा गया है।[3] जायसी ने भी समुद्र में कमल का उल्लेख किया है; प्रसंग है रत्नसेन के प्रेमपत्र का पद्मावती द्वारा उत्तर—

जौ रवि होहु कँवल दधि माहाँ। –पद्मा. २३४।७

(२) **केवल दिन में विकसित होना।**

पद्म-कोश संध्या समय संकुचित हो जाता है। रात भर उसी दशा में रह कर प्रातः पुनः पूर्ण विकास पाता है। इस प्रकृत सत्य का अतिरंजित रूप कवि-सम्प्रदाय में गृहीत हुआ है। रात्रि के आगमन पर पद्म की पंखुड़ियों के पूर्णतया मुँद जाने की कल्पना कर ली गई है। मधुलोलुप भौंरा रात भर कमल-कोश में बन्दी रहता है, यह बात भी इसी आधार पर प्रसिद्ध हुई है।

---

[१] आपोमयाः सर्वरसाः **सर्वमापोमयं जगत्।** –भारत १।१७९।१८
लोका ह्यापोमयाः स्मृताः। वही १।१७९।१९

[२] शतब्रा. ७।४।१।८

[3] अत्रकांचन शैलस्य **कांचनाम्बुरुहस्य** च।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः॥ –भारत ५।११० ३०

पहले कहा गया है कि पद्म के रूप में सूर्य का आरोप कविसुलभ भावना से हुआ है। इसमें वर्णसाम्य की अपेक्षा आभा-साम्य का भाव ही अधिक है। सूर्योदय के साथ कमल के क्रमशः खिलने और सूर्यास्त के साथ मुँद जाने का भाव इससे सहज ही सम्बद्ध हो जाता है।

सूर्य से पद्म के मित्र-भाव और चन्द्रमा से उसके द्वेष की कल्पना की गई है। इसका आधार यही कविप्रसिद्धि है। अनन्य प्रेम की व्यंजना के लिए पद्म और सूर्य के अनुराग को उपमान रूप में ग्रहण करने की परम्परा रही है। हर्ष और विषाद, उत्कर्ष और अपकर्ष आदि परस्पर विरोधी स्थितियों का बोध सूर्योदय और सूर्यास्त के समय के पद्म की भिन्न दशाओं के उपमान द्वारा कराने की प्रवृत्ति रही है।

इन्दुमती के स्वयंवर में कालिदास ने अज का उत्कर्ष इसी आधार पर व्यंजित किया है—

प्रमुदित वरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपति मण्डलमन्यतोवितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्ल पद्मं कुमुदवन प्रतिपन्नमुदासीनम्॥

—रघु. ६।८६

इसी प्रकार, तुलसी ने सीता-स्वयंवर में राम के सौन्दर्य और प्रताप की व्यंजना की है—

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल-पतंग।
विकसे संत-सरोज सब हरषे लोचन-भृंग॥ —मानस १।२५४

अक्षय दिव्य सौन्दर्य-समन्वित भगवत्-चरण भक्त कवियों के ध्यान में पद्म के रूप में आये हैं। पार्थिव कमलों के विकास और म्लानता के क्रम से वे अलौकिक चरण-कमल परे रहते हैं। मनरूप भौंरे को सदैव उन नित्य प्रफुल्ल कमलों का आनन्दरसपान करने को कहा गया है—

भृंगी रे भजि श्याम-कमल-पद, जहाँ न निसि को त्रास।
जहँ बिधि भानु समान एक रस, सो बारिज सुखरास॥

—सूर. १।३३९

परोक्ष दिव्य रूप की कल्पना ऐसे सरोवर के रूप में की गई है, जहाँ के कमल सूर्य के बिना ही विकसित रहते हैं—

चलि सखि तिहिं सरोवर जाहिं
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना विकसाहिं॥

—सूर. १।१३८

आधुनिक काव्य में भी इस कवि-प्रसिद्धि का प्रयोग विरल नहीं है। साकेत में आदि कवि का स्मरण 'करुणा-कंजारण्य-रवे' सम्बोधन द्वारा किया गया है। छायावाद-युग में भी पन्त और महादेवी ने इस कविप्रसिद्धि को याद रखा है। पन्त ने पद्म के प्रातः खिलने और संध्या को मुँदने के अलग-अलग दृश्य उपस्थित किये हैं—

मलिन उर छू कर तिमिर का अरुण कर।
कनक आभा में खिलाते हैं कमल ॥ —पन्त. पृ. २१
उदित शुक्र अब अस्त भानु-बल।
स्तब्ध पवन नत नयन कमलदल ॥ —वही पृ. ४६

विरह-गायिका महादेवी प्रियतम की स्मिति के प्रात से जीवन-जलजात के विकास की आकांक्षा रखती हैं—

विरह का जलजात, जीवन विरह का जलजात !
जो तुम्हारा हो सके लीला-कमल यह आज,
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मिति का प्रात ॥

—महादेवी. पृ. ५३

(३) हेमन्त और शिशिर को छोड़ कर अन्य ऋतुओं में होना।

वास्तव में हेमन्त और शिशिर में कमल रहता तो है, किन्तु पाले से आहत उसका रूप जर्जरित हो जाता है। केवल नाल भाग शेष रह जाता है। वाल्मीकि ने हेमन्तकालीन पद्म के इस रूप का वर्णन किया है—

जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसर कर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥ —रामा. ३।१६

काव्यमीमांसा के हेमन्त-प्रसंग में भी इस प्रकार की कमललता का उल्लेख है—

नालाब्जशेषाब्जलता त्विदानीम्। —काव्यमी. अ. १८

वस्तु के पूर्ण सौन्दर्य-समृद्ध रूप को ग्रहण करने की आदर्शपरक वृत्ति ही इस कविप्रसिद्धि के मूल में माननी होगी।

शीतकाल में कवियों की दृष्टि यदि कमल की ओर जाती भी है तो उसकी तुषार-जनित विपत्ति पर खेद ही उत्पन्न होता है—

किं बान्धवेण रविणा परिणाथ किंवा
लक्ष्म्या च किं च जलजोदरजेन किंवा

एतस्य शुद्धचरितस्य सरोरुहस्य
नैषा तुषारजनिता शमिता विपत्तिः ।

—सुभाषित. २५६।२३१

अन्य ऋतुओं में से शरद् में विकसित पद्म विशेष आकर्षक होता है। काव्य-मीमांसा में शरद् को पद्म का विकास करने वाली कहा गया है—

द्रागगर्जयन्ती विमदान्मयूरा—
न्प्रगल्भयन्ती कुररद्विरेफान्
शरत्समभ्येति विकास्य पद्मा—
नुन्मीलयन्ती कुमुदोत्पलानि । —काव्यमी. अ. १८

हिन्दी में इस विषय में संस्कृत की परिपाटी गृहीत जान पड़ती है। साकेत की विरहक्षीणा उर्मिला हेमन्त में नालशेष पद्मिनी से अपनी समता स्थापित करती है—

एक अकेली मैं ही क्या दुबली हो गई इस घर में ।
देख पद्मिनी भी तो आज हुई नालशेष निज सर में ॥

—साकेत, स. ९

(४) मुकुल हरे न होना

ईषत् उन्मीलित नेत्रों के लिए कमल-मुकुल उपयुक्त उपमान हैं। अलंकार-शेखर में सुरत-वर्णन में आँखों को कुड्मल के समान कहने का विधान किया गया है।[1] गीतगोविन्द में राधाकृष्ण के विलास-प्रसंग में इसका उदाहरण भी है।[2] आकार-साम्य तो इसमें है ही, वर्णसाम्य के उद्देश्य से उपमान-रूप कमल मुकुल की हरिमा का अस्वीकार हुआ है, ऐसी सम्भावना इस कवि-प्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है। कविसमय के अनुसार हरित और कृष्ण वर्णों में अभेद माना जाता है।[3] मीलितप्राय नेत्रों के सौन्दर्य में कालिमा व्याघात उत्पन्न करेगी, क्योंकि वह अस्वास्थ्य-सूचक है।

---

[1] सुरते सात्विका भावाः शीत्कारः कुड्मलाक्षता । —अलंशे. १६

[2] रतिसुखसमय रसालसया दरमुकुलितनयनसरोजम्
निःसहनिपतित तनुलतया मधुसूदनमुदितमनोजम् —गीतगो. २

[3] दे. वर्ण व.

राजशेखर ने इस प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें आदिवराह की दाढ से पुण्डरीक-मुकुल की भ्रांति उत्पन्न होने का उल्लेख है—

उद्दण्डोदर पुण्डरीकमुकुल भ्रांतिस्पृशा दंष्ट्रया
मग्ना लावणसैन्धवेऽम्भसि महीमुद्यच्छतो हेलया
तत्कालाकुल देवदानवकुलरुत्तालकोलाहलं
शौरेरादिवराहलीलमवतादभ्रंलिहाग्रं वपुः ।

—काव्यमी. अ. १५

श्वेत दाढ का सटीक उपमान पुण्डरीक तभी हो सकता है, जबकि उसकी हरिमा को अनदेखा कर दिया जाए ।

नीलोत्पल

नीलोत्पल के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]—

(१) यह नदियों और समुद्र में होता है।

(२) दिन में विकसित नहीं होता।

पद्म के अन्य अनेक भेदों का बोध भी 'उत्पल' द्वारा कहीं-कहीं मिलता है। कुमुद को धवलोत्पल और कोकनद को रक्तोत्पल इसी कारण कहा गया है। किन्तु उत्पल से प्रधानतः नीलोत्पल का ही अर्थ लेने की प्रवृत्ति है। कविप्रसिद्धियों का उल्लेख करने वाले अलंकारशास्त्रियों में से किसी-किसी ने ही 'नीलोत्पल' कहा है अन्यथा 'उत्पल' कहकर ही नीलोत्पल का भाव व्यक्त किया है। सबसे पुष्ट प्रमाण राजशेखर का है। 'नदीषु पद्मोत्पलादीनि' कहकर, आगे उसी प्रसंग में उन्होंने क्रमशः पद्म और नीलोत्पल के ही उदाहरण दिये हैं। वैद्यक के ग्रंथों से भी इस बात का समर्थन होता है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने नीलोत्पल को ही उत्पल माना है।[2] इन्दीवर, कुवलय, कृष्णकमल, और नीलोफर आदि इसके अन्य नाम हैं। धारणा यह है कि नीलोत्पल मूलतः भारतवर्ष का पुष्प नहीं है। किन्तु वाल्मीकि ने अनेक स्थलों पर इसका वर्णन किया है।[3]

(१) नदियों और समुद्र में होना।

इस कविप्रसिद्धि के कारण भी बहुत कुछ वे ही हैं जिनके अनुसार पद्म की नदियों में स्थिति की कल्पना की गई है, क्योंकि मूलतः यह पद्म का ही भेद है। यों, काव्य में इसके उदाहरणों की प्रचुरता नहीं है। कुमुद की भाँति इसका भी तद्विषयक बोध पद्म के व्यापक अर्थ के पर्यायों से ही हुआ समझना चाहिये। आदिकवि ने गंगा में नीलोत्पल का वर्णन किया है।[4] राजशेखर द्वारा उद्धृत उदाहरण में भी गंगा में नीलोत्पल (कुवलय) का वर्णन है—

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] सुश्रुत, सूत्रस्थान १३।१३ टी.

[3] उदा. एष प्रसन्नसलिला पद्म नीलोत्पलायुता —रामा. ४।१।६३
अन्य उदा. के लिए दे. रामा. ४।१

[4] क्वचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम्।
क्वचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित्पद्मवनाकुलाम्॥ —रामा. २।५०।२०

गगन गमन लीलान् लम्भितान् स्वेद विन्दून्
मृदुभिरनिलचारैः खेचराणां हरन्ती
कुवलयवन कान्त्या जाह्नवी सोऽभ्यपश्यत्
दिनपतिसुतयेव व्यक्तदन्तांकपालीन् ।।

—काव्यमी. अ. १४

(२) दिन में विकसित न होना ।

नीलोत्पल रात्रि में पूर्ण विकसित होता है, किन्तु दिन के समय इसका कोश पूरी तरह मुँद नहीं जाता, वल्कि ईषत् विकसित रहता है। इस कविप्रसिद्धि के मूल में भी प्रकृत तथ्य का उतना ही अतिरंजन है, जितना कि पद्म और कुमुद के सम्बन्ध में।

काव्य में इसके अधिक उदाहरण नहीं मिलते। राजशेखर द्वारा उद्धृत पद में चन्द्रोदय पर नीलोत्पल (कुवलय) के पुनः विकसित होने का उल्लेख है—

आलिख्य पत्रमसिता गुरूणाभिरामं
रामामुखे क्षण सभाजित चन्द्रबिम्बे
जाता पुर्नविकसनावसरोऽयमस्ये-
त्युक्त्वा सखीं कुवलयं श्रवणे चकार। —काव्यमी. अ. १४

मतिराम ने कृष्ण के सम्बन्ध में गोपियों की संयोग-शृंगार-जन्य चेष्टाओं की व्यंजना के लिए इस कविप्रसिद्धि का आधार लिया है। कृष्ण के मुखचन्द्र से गोपी का मुखकुवलय मुदित होता है—

हरि-मुख लखि लोचन सखी, मुख तें करति विनोद ।
प्रकट करति कुबलयनि कौं, चन्द्रोदय तें मोद ।।

—मति सत. ४०९

आधुनिक युग में महादेवी को इस कविप्रसिद्धि का ध्यान रहा है। विकसित इन्दीवर में कवियित्री ने रात्रि के खुले नेत्रों की उत्प्रेक्षा की है, सरोवर के दर्पण में अन्धकार के अंजन से उन्हें आँजने का दृश्य सामने आया है—

मृदुल अंक धर, दर्पण सा सर,
आँज रही निशि दृग-इन्दीवर ।। —महादेवी. पृ. ४९

कुमुद

कुमुद के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[१]—

(क) नदियां और समुद्र में होता है।

(ख) केवल रात्रि में विकसित होता है।

अमरकोश के अनुसार कुमुद श्वेत होता है और 'कैरव' इसका पर्याय है।[२] भावप्रकाश से इसका समर्थन होता है। वहाँ इसका लोकनाम 'कमोदनी' कहा गया है।[3] शब्दकल्पद्रुम में दिये हुए शशिकान्त, इन्दुकमल और चन्द्राब्ज आदि पर्याय[४] इसके रात्रि में विकसित होने की सूचना देते हैं। वनौषधिदर्पणकार के अनुसार कई वैद्य एक लाल कुमुद भी मानते हैं।[५] मूल आदि सर्वावयव सम्पन्न कुमुद को कुमुदिनी कहा जाता है।[६]

कुमुद के विकसित होने का समय विशेषतः शरद ऋतु है। कालिदास और भारवि के वर्णनों से इस बात का समर्थन होता है।[७]

(१) नदियों और समुद्र में होना।

नदियों और समुद्र में कुमुद की कल्पना के प्रधान कारण वे ही हैं जो पद्म के विषय में हैं।[८] मूलतः कुमुद पद्म की ही एक जाति है। विशेषता इसमें यही है कि यह सामान्य पद्म की भाँति दिन में विकसित नहीं होता।

प्रस्तुत कविप्रसिद्धि से अवगत रहने पर भी राजशेखर को इसका कोई उदाहरण कदाचित् नहीं मिल सका। लक्ष्य करने की बात यह है कि उन

---

१ दे. परि. १ (क), (ख)

२ सिते कुमुद कैरवे। —अमर. १।१०।३८

3 भावप्र. पु. व. ५।१५

४ दे. शब्दकल्प. 'कुमुद' शब्द

५ वनौषधिदर्पण पृ. ४०१ (पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३८६।)

६ कुमुद्वती कैरविकातथा कुमुदिनीति च।
स तु मूलादि सर्वाङ्गैरुक्ता समुदिता बुधैः॥ —भावप्र. पु. व. ५।१७

७ ऋतु. ३।२, किराता. १०।२५

८ दे. पद्म प्र.

अन्य सभी कविप्रसिद्धियों के उदाहरण राजशेखर ने प्रस्तुत किये हैं जिनका उल्लेख काव्यमीमांसा में है। वास्तव में, इस कविप्रसिद्धि का प्रचुर प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि कुमुद के प्रसंग में, उसके रात्रि में विकसित होने के गुण पर ही कवियों ने अधिक ध्यान दिया है, नदियों आदि में वर्णन करने के अवसरों पर व्यापक अर्थ वाले पद्म के पर्यायों से ही उसका बोध करा दिया है। तो भी, नदी में कुमुद-वर्णन के उदाहरण विरल नहीं हैं।

आदिकवि ने गंगा के कुमुद का वर्णन किया है—

क्वचित्कुमुदषण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित् ।।

—रामा. २।५०।२१

महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में कुमुद का नदी में वर्णन है—

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणश्चैव ददृशुः समलंकृताः ।।

—भारत ३।१०२।१३

भट्टि ने प्रातःकाल के वर्णन में नदीतट के पेड़ों से गिरते ओस-कणों में उत्प्रेक्षा की है कि वे पेड़ कुमुदिनी के दुःख से रो रहे हैं—

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः ।
उपारुरोदेव नदत्पतंग कुमुद्वती तीरतरुर्निनादौ ।।

—रावणबध २।४

(२) रात्रि में विकसित होना

चन्द्रमा के साथ कुमुद के अनन्य अनुराग की वैसी ही कल्पना की गई है जैसी कि सूर्य के साथ कमल की। प्रकृत तथ्य की अतिरंजना की मात्रा दोनों में समान है। प्रातः सायं, दिन और रात्रि के सन्धि-कालों में क्रम-क्रम से एक खिलता है और दूसरा मुँदता है। एक का सौन्दर्य नवीन आभामय होता है, दूसरे का मलिन। परस्पर विरोधी पक्षों के उद्भव और पराभव की व्यंजना इससे की जाती है। तुलसीदास ने सूर्योदय पर, अन्य पुष्पों के विकास के समय, कुमुद के रोने की उत्प्रेक्षा की है—

सबै सुमन विकसत रवि निकसत, कुमुद विपिन विलखाई ।

—गीतावली १।१०

उनके राम-'चन्द्र' रविकुल-कैरव का विकास करने वाले हैं—

पिता जनक भूपालमनि, ससुर भानुकुल-भानु।
पति रविकुल-कैरव-विपिन-बिधु गुन-रूप-निधानु ॥

—मानस. २।२८

किन्तु अन्य प्रसंग में, राम के तेज और प्रताप की व्यंजना के लिए तुलसीदास उन्हें सूर्य मान कर, विरोधी पक्ष में कैरव की उत्प्रेक्षा करते हैं—

अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडगन जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भए नृपति बलहीन ॥

—मानस. १।१३८

चन्द्रमा के साथ कुमुद का घनिष्ठ प्रेम-भाव मानने की परम्परा काव्य में बहुत प्राचीन है। वाल्मीकि ने सचन्द्र कुमुद का उल्लेख किया है—

सचन्द्र कुमुदं रम्यं सार्ककारण्डव शुभम्।
पुष्पश्रवण कादम्ब भ्रशैवल शाद्वलम् ॥ —रामा. ५।५५

कबीर ने आकाश और धरती के बीच की अनन्त दूरी को उस प्रेम के आगे नगण्य घोषित किया है—

कमोदनी जलहर बसै, चन्दा बसै अकास।
जो जाही का भावता सो ताही के पास ॥ —कबीर.

आधुनिक युग में महादेवी के काव्य तक इस परम्परा का विस्तार देखा जा सकता है। अपने काव्य की केन्द्रस्थ भावना—वेदना को महादेवी ने दिन भर मुँदे रहने वाले कुमुद पर घटित किया है। रात्रि के आगमन पर चन्द्र की रश्मियाँ ही कुमुद की वेदना को शांत करती हैं—

कुमुददल से वेदना के राग को
पोंछतीं जब आंसुओं से रश्मियाँ,
चौंक उठतीं अनिल के निःश्वास पर
तारिकाएँ चकित सी अनजान सी,
तब बुला जाता मुझे उस पार से
दूर के संगीत सा वह कौन है ?

—महादेवी, पृ. ३१

कुन्द

कविप्रसिद्धि है कि कुन्द के कुड्मल लाल नहीं होते।[1]

कुन्द को 'माघ्य पुष्प' भी कहा जाता है।[2] यह नाम उसके शिशिर में विकसित होने का संकेत करता है। किरातार्जुनीयम् (१०।२८) की टीका में मल्लिनाथ ने बताया है कि यद्यपि कुन्द शिशिर का पुष्प है, किन्तु हेमन्त में ही उसका प्रादुर्भाव होता है।[3] काव्यमीमांसा में शिशिरकाल में कुन्द को सब पुष्पों का सिरमौर कहा गया है,[4] और शिशिर-वसन्त की संधि में उसके पुष्पों के गिर जाने का उल्लेख है।[5] वाल्मीकि ने वसन्त में ही कुन्द का वर्णन किया है।[6] केशवदास ने शरद् के मानवीकरण में कुन्द को उसकी दन्तावली माना है।[7]

कुन्द के कुड्मल विशुद्ध श्वेत नहीं होते। मूल के पास से पंखुड़ियों का ऊपरी भाग ईषत् रक्ताभ होता है, किन्तु विकसित होने पर फूल एकदम श्वेत दिखाई देता है।

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] अमर. २।७।४३, शब्दरत्नावली ५।५३

[3] शैशिराणामपि कुन्दानां हेमन्ते प्रादुर्भावादविरोधः

[4] पुष्पक्रिया मरुवके जलकेलिनिन्दा
कुन्दान्यशेष कुसुमेषु धुरि स्थितानि
सौभाग्यमेणतिलकाद्भजतेऽर्कबिम्बं
काले तुषारिणि दहन्ति च चन्दनानि।

—काव्यमी. अ. १८. शिशिरवर्णन

[5] च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे गिरन्ति न कोकिलाः
अथ च सवितु शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम्।

—वही, शिशिरवसन्तसन्धिवर्णन

[6] मातुलिङ्गाश्च पूर्णाश्च कुन्द गुल्माश्च सर्वशः। —रामा. ४।१।७७

[7] दंतावलि कुन्द समान गनौ। —रामचन्द्रिका. १३।२४

नवग्रह स्तोत्र में भार्गव (शुक्र) की श्वेतता का बोध हिम और मृणाल के साथ कुन्द से भी कराया गया है।[१] तुलसीदास ने शंकर की देह को कुन्द और इन्दु के समान कह कर उसके गौरवर्ण की व्यंजना की है—

कुन्द इन्दु सम देह उमारमन करुना अयन।

—मानस. बालकाण्ड, मंगलाचरण

क्योंकि कविसमय के अनुसार गौर और श्वेत समानार्थी वर्ण हैं।[२] इसी प्रकार उन्होंने लक्ष्मण के गौरवर्ण को भी कुन्द के समान सुन्दर कहा है—

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिवलौ विज्ञानधामावुभौ।

—मानस, किष्किधा काण्ड, मंगलाचरण

इस कविप्रसिद्धि के मूल का संकेत इस बात में मिलता है कि अलंकार-शास्त्रियों ने कामियों के दाँतों और कुन्द-कुड्मलों की रक्तिमा के वर्णन का निषेध साथ-साथ किया है।[3] कुन्द-कुड्मल सुन्दर दाँतों के उपमान हैं। आकारसाम्य इसमें निहित है। आदर्शपरक कविदृष्टि के लिए दाँतों की रक्तिमा उनके पूर्ण सौन्दर्य में व्याघात उत्पन्न करती है, अतः उसके वर्णन का निषेध किया गया है। उपमेय और उपमान में वर्णसाम्य स्थापित करने की भावना से ही कुन्द-कुड्मल की भी रक्तिमा को आस्वीकार किया गया है, ऐसा जान पड़ता है। राजशेखर द्वारा इस प्रसंग में उद्धृत माघ के श्लोक में भगवान् कृष्ण के दांतों को कुन्द-कुड्मल के समान कहा गया है।[४] तुलसीदास ने बालक राम की दंतपंक्ति को कुन्दकली से उपमा दी है—

बर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच मनौ, छवि मोतिनमाल अमोलन की।।

—कवितावली १।५

---

[१] हिमकुन्दमृणालाभं दैत्यानां परमं गुरुम्।
सर्वशास्त्रप्रवक्तारं भार्गवं प्रणमाम्यहम्।।

[२] दे. वर्ण-प्रकरण, शुक्ल-गौर

[3] दे. परि. १ (क)

[४] द्योतितान्तः सभैः कुन्दकुड्मलाग्रतः स्मितैः।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती।।

—शिशु. २।७, काव्यमी. अ. १६

कुन्द पुष्प हँसी का भी प्रसिद्ध उपमान है।[२] हँसी का रंग कविसम्प्रदाय में श्वेत माना गया है।[३] दाँतों की स्वच्छ आभा ही उसका प्रधान कारण है।

आधुनिक काव्य में भी कुन्द हँसी का उपमान है—

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है।
भुवन तो मन के अनुरूप है॥
हँसित पुष्प रहे कवि का कहा।
सखि, मुझे वह दाँत दिखा रहा॥ —साकेत, नवम सर्ग

कुन्द-मन्दिर सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बाँट।
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध-कपाट॥
—कामायनी, वासना सर्ग

अट्टहासक, वनहास और रुद्रस्मित पर्याय[३] कुन्द के इसी महत्व के सूचक हैं।

---

[२] दे. परि. २, प्रसिद्ध उपमान, हास्य।

[३] दे. वर्ण-प्रकरण।

[४] राजनि. करवीरादिवर्ग ११३

मालती

मालती के विषय में कविप्रसिद्धि है कि बसन्त ऋतु में यह नहीं होती।[1]

अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में 'मालती' और 'जाती' शब्द पर्यायरूप आये हैं। अमरकोश, भावप्रकाश और राजनिघंटु में इसका समर्थन है।[2]

वास्तव में, मालती बसन्त में होती है। कवियों ने भूरिशः इसका वर्णन किया है। इस कविप्रसिद्धि के आधारगत कारण का विचार और काव्य में उसके पालन की परम्परा को लक्ष्य करने से पहले, बसन्त में मालती के वर्णन की परम्परा की झाँकी पा लेना अप्रासंगिक न होगा।

वाल्मीकि ने वसन्त के प्रसंग में मालती का वर्णन किया है—

पम्पातीररुहाश्चेमे संसक्ता मधुगंधिनः।
मालती मल्लिकाषण्डाः करवीराश्च पुष्पिताः॥

—रामा. ४।१।७३

सुभाषितावली के वसन्त-प्रसंग में भी इस आशय का श्लोक उद्धृत है।[3]

हिन्दी-कवियों में विद्यापति, जायसी और घनआनंद के काव्यों में इसके उदाहरण मिलते हैं—

आयल उनमद समय वसन्त।
अति मत्त मधुर रव कर
मालती मधु संचिते॥ —विद्या. पदा. २१५

कँवल कली पदमावति रानी।
होइ मालति जानौं बिगसानी॥ —पद्मा. २०१२

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] अमर. १।७।७२, भावप्र. पु. व. ५।२६, राजनि. करबीरादि व. ७४

[3] नम्राननना नमोद्भूत रजसास्तवकस्तनी।
मालती यौवनवती कन्येवोच्छ्वसिनी वभौ॥

—सुभाषितावली १६५८

चैत बसंता होइ धमारी । मोहि लेखे संसार उजारी ।
सहस भाव फूली बनफती । मधुकर फिरे सँवरि मालती ॥

—वही. ३०।१३।१-५

साँचे रस रंग अंग फूलि फैलि फबि दबि
देखि देखि मालती लतानि उलसति हैं
कौन धौं अनूठो रस प्यावै जिय ज्यावै ध्यावै
ए री तेरी हँसनि बसन्त कौं हँसति हैं ।

—घनग्रं. पृ. २१३

अन्य ऋतुओं में से शरद् और वर्षा में मालती का वर्णन अधिक हुआ है ।

वाल्मीकि ने वर्षा में[१] और कालिदास ने वर्षा[२] तथा शरद्[३] दोनों में इसका वर्णन किया है । काव्यमीमांसा में शरद् को मालती में पुष्पनिवेश करने वाली कहा गया है ।[४] सेनापति ने कार्तिक (शरद्) की रात में फुल्ल मालती का वर्णन किया है—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं ।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं ॥

—कवित्तरत्ना. ३।४०

वस्तुस्थिति यह है कि मालती वर्ष में दो बार फूलती है, एक बार वसन्त में और दुबारा वर्षा-शरद् में । वर्षा-शरद् में उसकी आभा विशेष मनोहर होने के कारण ही, कदाचित् कवियों का उसकी ओर रागात्मक पक्षपात रहा

---

[१] रामा. ४।२८।५२

[२] ऋतु. २।२४

[३] वही. ३।२

[४] स भाति पुष्पाणि निवेशयन्ती
बन्धूकबाणासन कुंकुमेषु
शेफालिका सप्तपलाशकाश
भाण्डीर सौगन्धिक मालतीषु ॥ —काव्यमी. अ. १८

है। उसके वसन्तकालीन अपेक्षाकृत हीन सौन्दर्य को अनदेखा कर देने की भावना ही इस कविप्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है।

इसी कारण, राजशेखर ने चैत्र को श्लेष के आधार पर 'जातिहीन' कहा है और उसके फूल देवताओं को प्रिय हैं, इस बात पर आश्चर्य किया है—

मालती विमुखश्चैत्रो विकासी पुष्पसम्पदाम् ।
आश्चर्यं जातिहीनस्य कथं सुमनसः प्रियः ।।

—काव्यमी. अ. १४

सुभाषितरत्नभाण्डागार में भी एक ऐसा श्लोक संगृहीत है जिसमें वक्रोक्ति के सहारे यह भाव व्यक्त किया गया है कि मालती के विकसित न होने से अन्य पुष्पों के वैभव वाले वसन्त की रम्यता में कमी थोड़े ही रह गई—

अस्मिन् केलिवने सुगन्धपवने क्रीडत्पुरंध्रीजने
गुंजद्भृंगकुले विशाल बकुले कूजत्पिकी संकुले
उन्मीलन्नव पाटला परिमले मल्लीप्रसूनाकुले
यद्येवापि न मालती विकसिता तत्किं न रम्यो मधुः ।

—सुभाषित. २५०।८८

शेफालिका

कविसमय के अनुसार शेफालिका के पुष्प रात्रि समाप्त होने से पहले ही झर जाते हैं।[1]

शेफालिका सामान्य परिचित पुष्प है। यत्र-तत्र उद्यानों में इसके झाड़ दिखाई देते हैं। इसका लोक-प्रचलित नाम 'परिजाता' है। हरसिंगार भी इसी को कहते हैं। कोशग्रंथों में निर्गुण्डी को शेफालिका कहा गया है;[2] किन्तु, वैद्यक-ग्रंथों में निर्गुण्डी से इसका पृथक् उल्लेख है।[3] निर्गुण्डी प्रायः नील होती है। शेफालिका के पुष्प श्वेत होते हैं, पुष्पनाल केसरी रंग के बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं।

शेफालिका प्रायः वर्षा और शरद् में खिलती है। काव्य में इसका वर्णन अधिकतर शरद् में ही हुआ है। ऋतुसंहार में कालिदास ने इसका वर्णन शरद् में किया है।[4] काव्यमीमांसा के शरद्-प्रसंग के अनेक पदों में शेफालिका का उल्लेख है।[5]

शेफालिका के पुष्प रात को विकसित होते हैं; किन्तु सूर्योदय से पहले ही उनका झरना समाप्त नहीं हो जाता, विरल अवश्य हो जाता है। निःसन्देह उन कोमल आकर्षक और गन्धयुक्त पुष्पों के झरने का दृश्य अत्यन्त मनोरम होता है। सूर्योदय से पूर्व के झुटपुटे में जब वे सघन रूप से झरते होते हैं, उनका वही दृश्य उत्कृष्ट होता है। बाद में वृन्तों से छिटफुट गिरते रहने के

---

१ दे परि. १ (क), (ख)

२ अमर. २।४।७०

३ राजनि. शताह्वादि व., १५३–५५

४ शेफालिका कुसुमगंध मनोहराणि
स्वस्थ स्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि
पर्यन्तसंस्थित मृगीनयनोत्पलानि
प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥ —ऋतु. ३।१४

५ सा भाति पुष्पाणि निवेशयन्ती बन्धूकबाणासन कुंकुमेषु।
शेफालिका सप्त पलाश काश भाण्डीर सौगन्धिक मालतीषु ॥
—काव्यमी. अ. १८

उषः सु ववुराकृष्ट जडावश्यायशीकराः।
शेफालीकलिकाकोश कषायामोदिनोऽनिलाः ॥ वही

क्रम में कोई विशेष आकर्षण नहीं होता। सौन्दर्य के घनीभूत रूप पर केन्द्रित रहने वाली आदर्शपरक वृत्ति ही इस कविप्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है।

कुमुद और नीलोत्पल के समान ही शेफालिका का चन्द्रमा से अनुराग कल्पित हुआ है। इसमें यह भाव भी निहित है कि प्रियतम से विछोह होने से पूर्व ही प्रेयसी शेफालिका अपना सौन्दर्य-वैभव विच्छिन्न कर देती है। चन्द्रमा उसके विकास का कारण तो बनता ही है।

विद्धशालभंजिका में राजशेखर ने चन्द्र के बिना शेफाली के कुसुमित न होने का वर्णन किया है।[1] इस कविप्रसिद्धि के आधार पर शेफालिका के प्रातः झरने में मार्मिक उत्प्रेक्षा की गई है कि पुष्पाश्रुओं में रोती हुई शेफालिका चन्द्र से निवेदन करती है कि तुम से बिछुड़ जाने पर दिन में मुझे सूर्य अपनी उग्र किरणों से दग्ध करेगा—

त्वद्विप्रयोगे किरणैस्तयोग्रैर्दग्धास्मि कृत्स्नं दिवसं सवित्रा
इतीव दुःखं शशिने गदन्ती शेफालिका रोदति पुष्पवाष्पैः

—काव्यमी. अ. १४

मध्ययुग के हिन्दी-काव्य में शेफालिका के रोचक वर्णन के उदाहरण विरल हैं। आधुनिक युग में प्रसाद और महादेवी के काव्यों में शेफालिका ने इस कविप्रसिद्धि के साथ प्रवेश पाया है। कामायनी में निर्वेदग्रस्त मनु की उक्ति है—

अरुण उषा प्याला भर लाती सुरभित छाया के नीचे
मेरा यौवन पीता सुख से अलसाई आँखें मीचे
ले मकरन्द नया चू पड़ती शरद् प्रात की शेफाली
बिखरातीं सुख ही संध्या की सुन्दर अलकें घुंघराली।

—कामा. निर्वेद स.

महादेवी के मधुर रहस्य भाव में प्रियतम के स्वागतार्थ ही शेफालिका की तैयारी है—

तारक लोचन से सींच सींच नभ करता रज को विरज आज
बिखराता पथ में हरसिंगार, केशर से चर्चित सुमन लाज

—महादेवी, पृ. ८२

---

[1] शा विणा चंदं सेहालि विअसंति कुसुमाइं। —विद्धशालभंजिका २।१९

भूर्जपत्र

कविसमय के अनुसार भूर्जपत्र की उत्पत्ति हिमालय तक ही परिमित मानी गई है।[१]

इस कविप्रसिद्धि का उल्लेख करने वाले अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में 'भूर्ज' 'भूर्ज-त्वक्' 'भूर्जद्रुम' और 'भुजपात' पर्याय प्रयुक्त हुए हैं।[२] अमरकोश में चर्मी और मृदुत्वच् इसके अन्य पर्याय हैं।[३]

ब्रैण्डिस के अनुसार यह वृक्ष साठ फुट तक लम्बा होता है। इसके ऊपरी सिरे का आकार झाड़ी जैसा दिखाई देता है। इसकी छाल कोमल होती है और उस पर बेड़ी चित्तियाँ रहती हैं। बाहरी छाल कागज जैसी अनेक पर्तों के चौड़े और बेड़े कुण्डलों के आकार की होती है। कुरम की घाटी में दस हजार से ग्यारह हजार फुट तक की ऊँचाई पर ये वृक्ष मिलते हैं। हिमालय में दस हजार से चौदह हजार फुट तक और पंजाब में सात हजार फुट तक की ऊँचाई पर भी ये पाये जाते हैं। भीतरी शुष्क प्रदेश में भी इन्हें देखा गया है। चीन और जापान के पर्वतों पर ये होते हैं।[४]

उक्त विवरण से यह बात स्पष्ट है कि भूर्जद्रुम ऊँचे पहाड़ी स्थलों पर ही होते हैं और भारत में हिमालय के अतिरिक्त उसके आसपास के प्रदेशों से ही इनका सम्बन्ध है। काव्यमीमांसा में भूर्जद्रुमों का उल्लेख लम्पाक, वाह्लाक, कुलूत पर्यन्त उत्तरी पर्वती प्रदेशों के साथ हुआ है।[५] सहज अनुमेय

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] दे. परि. १ (क)

[३] अमर. २।५।४६

[४] इंट्री, पृ. ६२२

[५] लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचनां रल्लकांल्लासयन्तः
चुम्बन्तश्चन्द्रभागासलिलमविकलं भूर्जकाण्डैकचण्डाः
एते कस्तूरिकैणप्रणयसुरभयो वल्लभा वाह्लावीनां
कौलूतीकेलिकाराः परिचयितहिमं वायवो वान्त्युदीच्याः

—काव्यमी. अ. १८

है कि इतने दीर्घ आकार के वृक्षों की शोभा हिमालय के उच्चतर शिखरों पर ही सबसे अधिक मोहक होगी। सौन्दर्य के घनीभूत उत्कृष्ट रूप को ग्रहण करने की वृत्ति द्वारा ही अन्य स्थलों के भूर्जद्रुमों के अपेक्षाकृत हीन सौन्दर्य को अनदेखा कर देने का आग्रह है। यही इस कविप्रसिद्धि का मूल जान पड़ता है।

भूर्जद्रुम का महत्व भारतीय जीवन में आदिकाल से रहा है। इस वृक्ष की दीर्घ और कोमल छाल जितनी सुन्दर होती है, उतनी ही उपयोगी भी। प्राचीन आश्रम-प्रधान संस्कृति में बल्कल वस्त्रों के रूप में विशेषतः इसी वृक्ष की छाल का उपयोग होता था। लेखन के आधुनिक साधनों के अभाव में कागज की तरह इसकी छाल ही उपयोग में लाई जाती थी। प्राप्त प्राचीन हस्तलेखों में "ताड़पत्र के बाद भोजपत्र का स्थान है।"[१] ब्रैण्डिस के अनुसार आज भी भूर्जवृक्ष की बाहरी छाल का लिखने और पैकिंग के लिए कागज़ के समान उपयोग होता है। छातों को मढ़ने और मकानों की छतें ढकने के लिए भी वह काम में आती है।[२]

हिमालय की शोभा-वर्णन के प्रसंग में कालिदास ने भूर्जत्वक् पर अंकित चित्तियों का उल्लेख किया है, वे हाथी की सूँड पर बनी लाल बुँदकियों का स्मरण कराती थीं। विद्याधरियाँ भूर्जत्वच् पर प्रेमपत्र लिखती थीं—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुंजरविन्दुशोणाः
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनंगलेख क्रिययोपयोगम्

—कुमार. १।७

'भूर्जपत्र' और उसके छदपत्र, रक्षापत्र, मृदुपत्र, विद्यादल आदि अनेक पर्याय[3] भूर्जद्रुम की छाल के महत्व को ही सूचित करते हैं। स्पष्ट ही इन शब्दों में पत्रवाची शब्द पत्रों के लिए न होकर छाल के लिए है। ब्रैण्डिस के विवरण से ज्ञात होता है कि इस वृक्ष की पत्तियाँ विशेष महत्व की नहीं होतीं।

---

[१] हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. १५७

[२] इंट्री, पृ. ६२२

[3] दे. शब्दकल्प. 'भूर्ज' शब्द

रघु के विजय-अभियान में कालिदास ने हिमालय के ही भूर्जद्रुमों का वर्णन किया है।[१] उदीच्य वायु के प्रसंग में उद्धृत काव्यमीमांसा के पद में हिमालय के तटों पर उत्पन्न कठोर त्वचा वाले भूर्जद्रुमों का वर्णन है।[२]

---

[१] भूर्जेषु मर्मरीभूता कीचकध्वनिहेतवः ।
गंगाशीकरणो मार्गे मरुतस्तं गिरेरिव ॥ —रघु. ४।४३

[२] भंजन भूर्जद्रुमालीस्तुहिनगिरितटेषूद्गतास्त्वक्कराला:
रेवाम्भः स्थूलवीची चयचकितचलच्चात्कान् व्याधुनानः
पाश्चात्यो वाति वेगाद् द्रुत तुहिनशिला शीकरासारवर्षी-
मातंगक्षुण्णमान्द्रस्तुत सरलतरत्सारसारी समीरः

—काव्यमी. अ. १८

चन्दन

चन्दन-वृक्ष के विषय में दो कविप्रसिद्धियाँ हैं।[१]

(१) चन्दन की उत्पत्ति मलय पर्वत तक ही परिमित है।

(२) इसमें पुष्प और फल नहीं होते।

'चन्दन' 'चन्दनद्रुम' और 'गन्धसारद्रुम' पर्यायों का उल्लेख इन कवि-प्रसिद्धियों का उल्लेख करने वाले ग्रंथों में हुआ है।[२] कोश और वैद्यक के ग्रंथों में[3] और भी अनेक पर्याय हैं जो इसकी अनेक जातियों और गुणों को इंगित करते हैं।

चन्दन की जातियाँ—वृक्ष से काष्ठ-प्राप्ति की पद्धति के आधार पर चन्दन के दो प्रमुख भेद हैं। आर्द्र कच्चे वृक्ष से प्राप्त चन्दन को वेट्ट और स्वयं शुष्क हो जाने वाले वृक्ष से प्राप्त चन्दन को सुक्कडि कहा जाता है।[४] एक मत यह भी है कि मलय के निकटस्थ वेट्ट नामक पर्वत पर होने वाला चन्दन ही वेट्ट कहलाता है।[५] भावप्रकाश में ग्रंथिकोटरसंयुक्त चंदन श्रेष्ठ माना गया है।[६]

रंग के आधार पर भी चन्दन के कई भेद किये गये हैं। भावप्रकाश में श्वेत, रक्त और पीत चन्दनों का उल्लेख है।[७] प्रायः श्वेत और पीत चन्दनों

---

[१] दे. परि. १ (ख)

[२] दे. परि. १ (क)

[3] दे. शब्दकल्प. 'चन्दन' शब्द; राजनि. चन्दनादि वर्ग, आदि.

[४] चन्दनं द्विविधं प्रोक्तं वेट्टसुक्कडिसंज्ञिकम्।
वेट्टं तु सार्द्रविच्छेदं स्वयं शुष्कं तु सुक्कडि॥
—राजनि. चन्दनादि व., १०

[५] मलयाद्रि समीपस्थ पर्वता वेट्टसंज्ञकाः।
तज्जातं चन्दनं यत्तु वेट्टवाच्यं क्वचिन्मते॥ —वही ११

[६] ग्रंथिकोटर संयुक्तं चन्दनं श्रेष्ठमुच्यते। —भाव प्र. कर्पूरादि व. ३।१२

[७] वही १४।१६

को एक ही माना जाता है। राजनिघंटु में रक्त और पीत से भिन्न कैरात चन्दन को 'नातिपीत' बताया गया है।[1] कदाचित् यही श्वेत चन्दन है, क्योंकि दैनिक व्यवहार में आने वाला श्वेत चन्दन तनिक पीताभ होता है। पीत चन्दन को कालीयक और रक्त चन्दन को हरिचन्दन कहा गया है।[2] हरिचन्दन को इस लोक के मनुष्यों के लिए दुर्लभ बताया गया है क्योंकि वह देवताओं के नन्दनकानन से सम्बद्ध है।[3]

उत्पत्तिस्थलों के आधार पर भी चन्दन के कई भेद हैं। मलय पर्वत पर उत्पन्न होने वाला भद्रश्री, तथा तैलपर्ण, गोशीर्ष और बर्बर पर्वतों पर होने वाले चन्दन क्रमशः इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। वेट्ट का उल्लेख ऊपर हुआ है।

(१) मलय पर ही होना

पश्चिमी घाट की ओर मैसूर से ट्रावनकोर तक फैली पर्वतमाला मलय कहलाती है। प्राचीन काव्यों में चन्दन के प्रसंग में दर्दुर का उल्लेख भी मिलता है। कालिदास ने दोनों का वर्णन साथ-साथ किया है[4] राजशेखर ने पूर्व देश के पर्वतों में दर्दुर का उल्लेख किया है।[5] ऊपर भद्रश्री, तैलपर्ण, गोशीर्ष और बर्बर पर्वतों के नाम आये हैं। राजशेखर ने बर्बर का उल्लेख उत्तर दिशा में किया है।[6] अतः यह नहीं कहा जा सकता कि चन्दन से सम्बद्ध सभी पर्वत मलय के अंग हैं। ब्रैण्डिस के अनुसार चन्दन की उत्पत्ति वैस्टर्न पैनिन्सुला के अतिरिक्त उत्तरी भारत में भी होती है। सहारनपुर तक बगीचों में चन्दन वृक्ष उत्पन्न किए जाते हैं।[7] मैदान में भी इसके वृक्ष होने

---

[1] राजनि. चन्दनादि व. १४

[2] वही २१

[3] हरिचन्दनं सुरार्हं हरिगन्धमिन्द्रचन्दनं दिव्यं ।
....................तदिहं दुर्लभं मनुजैः ॥ —वही २५-२६

[4] स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीन चन्दनौ ।
स्तनाविव दिशास्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ —रघु. ४।५१

[5] काव्यमी. अ. १७

[6] काव्यमी. अ. १७

[7] इंट्री. पृ. ५५३

का कारण कदाचित् यह है कि उनकी जड़ों में सूक्ष्म रोम होते हैं जो पेड़ के बढ़ जाने पर अदृश्य हो जाते हैं। एक बार लगा देने पर इसके वृक्ष स्वतंत्र रूप से जीवित रहते हैं।[१] हिमालय पर भी चन्दन वृक्ष होने का उल्लेख मिलता है। भारवि ने उनका वर्णन किया है।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चन्दन वृक्षों की उत्पत्ति मलय पर्वत तक ही परिमित नहीं है। तब इस कविप्रसिद्धि का मूल क्या है? राजशेखर ने मलय पर्वत की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया है। उसकी चार विशेषताओं में से पहली यह बताई है कि वह आमूल सर्पवेष्ठित चन्दन वृक्षों की जन्मभूमि है।[3] प्राचीन कांव्य में सर्पवेष्ठित चन्दन-वृक्षों का वर्णन प्रायः मिलता है।[४] चन्दन वृक्ष पर सर्प लिपटे होना यद्यपि वैज्ञानिक निरीक्षण से समर्थित नहीं है, किन्तु इससे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि श्रेष्ठ कोटि के चन्दन वृक्षों के लिए ही यह कल्पना की गई है। मलय के चन्दनों के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि वे इतनी तीव्र गन्ध वाले होते हैं कि आसपास के वृक्षों को अपने ही जैसा सुरभित बना लेते हैं।[५] यद्यपि वैज्ञानिक प्रमाण इस विश्वास

---

[१] वही

[२] कान्तोऽपि त्रिदशबधूजनः पुरस्ताल्लीनाहि श्वसितविलोलपल्लवगनाम्
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां सम्पर्कं परिहरति चन्दनानाम्।
—किराता. ७।२९

[3] आमूलयष्टे फणिवेष्टितानां
सच्चन्दनानां जयनन्दनानाम्
कल्लोलकैला मरिचैर्युतानां
जाती तरूणां च स जन्मभूमिः। —काव्यमी. अ. १७

[४] उ.—भोगिवेष्टन मार्गेषु चन्दनोनां समर्पितम्।
नास्रासत्कारिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि॥ —रघु. ४।४८
रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा।
अभिपेदे निदाघानां व्यालीव मलयद्रुमम्॥ —रघु. ४।५१

[५] किं तेन हेमगिरणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिता हि तरवस्त एव
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
शाखोटनिम्बकुटजाऽपि चन्दनानि। —सुभाषित. पृ. ३३९

का भी नहीं मिलता[१] किन्तु श्रेष्ठ चन्दन वृक्षों के गुण की कल्पना इससे लक्षित होती है। अतः यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि मलय के ही चन्दन उत्कृष्ट होते हैं। आदर्शपरक काव्यदृष्टि का उन्हीं पर केन्द्रित होना स्वाभाविक है। कविप्रसिद्धि का मूल इसी में जान पड़ता है।

(२) पुष्प और फल न होना

ब्रैण्डिस ने चन्दन वृक्ष के भूरे बैंगनी रंग के फूलों का उल्लेख किया है। वे फरवरी से जुलाई तक अर्थात् वसन्त और ग्रीष्म में लिखते हैं।[२] वनौषधि-दर्पणकार के अनुसार चन्दन में पहले फीके और बाद को बैंगनी हो जाने वाले रंग के छोटे-छोटे फूल लगते हैं, फल इसके गोल-गोल और चिकने होते हैं, जो पक जाने पर काले दिखाई देते हैं।[3]

स्पष्ट है कि उपयोग और सौन्दर्य की दृष्टि से चन्दन के काष्ठ का ही महत्व है, फल और फूलों का महत्व उसके आगे नगण्य है। फूलों और फलों का मूल्य उनके तृप्तिदायक गुण से होता है। चन्दन अपनी शरीरयष्टि से ही वह शीतलता और गन्ध प्रदान करता है, जिसके आगे फल और फूल हेय हैं। श्रेष्ठ की तुलना में अश्रेष्ठ को नगण्य मान लेने की आदर्शपरक वृत्ति ही इस कविप्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है।

काव्य में चन्दन के फल और फूलों की अस्वीकृति इस सीमा तक अतिरंजित हुई है कि दैव-विधान द्वारा चन्दन को फलकुसुम-वर्जित माना गया है—

यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलकुसुमवर्जितो विहितः
निज वपुषैव परेषां तथापि संतापमाहरति ॥[४] —काव्यमी. अ. १४

सिंहलदीप के वर्णन में जायसी ने भी कहा है—
पुनि फुलवारि लागि चहुँ पासा।
बिरिछ बेधि चन्दन भइ बासा ॥ —पद्मा. २।११।१

[१] ब्रैण्डिस के अनुसार चन्दन के तने का भीतरी भाग (हीर) ही तीव्रगन्ध-युक्त होता है, बाहरी भाग निर्गन्ध होता है। दे. इंट्री. पृ. ५५३

[२] इंट्री. पृ. ५५३

[3] वनौषधिदर्पण, पृ. २५२-५६. [पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत]

[४] सुभाषित. २४८।४१, भट्टादित्य के नाम से उद्धृत।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए भोजदेव ने अन्योक्ति के ढंग पर कहा है कि गन्ध की रक्षा तो चन्दन महाविषधर साँपों से करता है, यदि दैव से पुष्प और फल भी पा जाता तो वह न जाने क्या करता—

भ्रातश्चन्दन किं ब्रवीमि विटपस्फूर्जत्फणा भीषणा
गन्धस्यापि महाविषाः फणभृतो गुप्त्यै यदेते कृताः
दैवात् पुष्पफलान्वितो यदि भवानत्राभविष्यत्तदा
नो जाने किं कल्पयिष्यदधिकं रक्ष्यार्थमस्यात्मनः ।।

—सुभाण्डा. २४९।५४

वनस्पति-वर्ग (२)

वृक्षदोहद

वृक्षदोहद

(१)

राजशेखर (दसवीं शताब्दी) ने कविसमय में वृक्षदोहद का समावेश नहीं किया। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा कविसमय का विचार ही नगण्य सा मिलता है, वृक्षदोहद के उल्लेख का कहीं पता नहीं। राजशेखर के परवर्ती आचार्यों में से विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) ने साहित्य-दर्पण में यद्यपि 'वृक्षदोहद' का उल्लेख नहीं किया, तो भी उनके द्वारा अशोक और बकुल की दोहद-वृत्तियों को कविसमय माना गया।[1]—इसके बाद केशवमिश्र (सोलहवीं शताब्दी) द्वारा भी इसी प्रकार केवल उक्त दो वृक्षों की दोहद-वृत्तियों का उल्लेख कविसमय के असत्-निबन्धन में किया गया।[2] अन्य किसी लक्षण-ग्रंथकार द्वारा वृक्षदोहद का उल्लेख नहीं मिलता।

कालिदास के काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने मेघदूत २।१८ में वर्णित अशोक और बकुल से सम्बद्ध वृक्षदोहद[3] को 'कविप्रसिद्धि' कहा है। उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है जिससे अन्य आठ वृक्षों की दोहद-वृत्तियों का परिचय मिलता है।[4] उसके अनुसार स्त्रियों की पृथक्-पृथक् चेष्टाओं से विकास पाने की दस वृक्षों की दोहद-वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) प्रियंगु—स्पर्श से

---

[1] दे. परि. १ (क) साहित्यदर्पण का अंश

[2] दे. परि. १ (क) अलंकारशेखर का अंश

[3] रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवी मण्डपस्य
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः। —मेघ. २।१८

[4] स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः शीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणमालिंगनाभ्याम्
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटु मृदु हसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः
—उपर्युक्त ३ पर म. टी. में उद्धृत

(२) बकुल—मुख-मदिरा-सेचन से
(३) अशोक—पादाघात से
(४) तिलक—ध्यान पूर्वक देखे जाने से
(५) कुरबक—आलिंगन से
(६) मन्दार—नर्मवाक्य से
(७) चम्पक—पटु मृदु हास्य से
(८) आम्र—मुख-वायु से
(९) नमेरू—गान से
(१०) कर्णिकार—नृत्य से

कुमारसम्भव ३।२६ में व्यंजित अशोक की दोहदवृत्ति के समर्थन के लिए भी मल्लिनाथ ने एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें केवल अशोक, बकुल, कुरबक और तिलक की दोहद-वृत्तियों का उल्लेख है।[1]

काव्यमीमांसा के तेरहवें अध्याय में विधानापहार के दृष्टान्त-रूप दो श्लोकों से अशोक, बकुल, तिलक और कुरबक की दोहद-वृत्तियों का परिचय मिलता है।[2] उक्त ग्रंथ के अठारहवें अध्याय के वसन्त-प्रसंग का एक श्लोक भी उक्त चार वृक्षों की दोहद-वृत्तियों का समर्थक है।[3] इस श्लोक का भाव है कि स्त्रियों की तत्तत् चेष्टाओं के बिना भी, चैत्र में अशोक, बकुल, कुरबक और तिलक पुष्पित होते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजशेखर उक्त वृक्षों की दोहदपरक-प्रसिद्धि से परिचित थे, और अनुकूल ऋतु प्राप्त होने पर वृक्षों के स्वतः पुष्पित होने का प्रकृत तथ्य भी उनके लिए स्पष्ट था। अतः

---

[1] कुरबक कुचाघात क्रीडारसेन वियुज्यते।
बकुल विटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासव सेचनम्।
चरणघटना शून्यो यास्यत्यशोक सशोकता—
मिति निज पुरत्यागे यस्यद्विषां जगदुस्त्रियः॥

[2] मुख मदिरया पादाघातैर्विलासविलोकितै—
र्बकुल विटपीरक्ताशोकस्तया तिलकद्रुमः
जलनिधि तटीकान्ताराणां क्रमात् ककुभांजये
झगिति गमिता यद्वर्ग्यैभिविकास महोत्सवम्॥

[3] नालिंगितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो नो ताडितश्च सुदृशां चरणैरशोकः
सिक्तो न वक्त्रमधुना वकुलश्च चैत्रे चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः

वृक्ष-दोहद जैसे अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ का निबन्धन उन्होंने कविसमय क्यों नहीं माना, इसका कारण अज्ञात है। इस सम्बन्ध में दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं—(१) या तो वृक्षदोहद किसी न किसी रूप में प्रकृत सत्य रहा हो, और इस कारण राजशेखर द्वारा निर्धारित कविसमयगत अर्थ के अशास्त्रीय और अलौकिक होने के लक्षण उस पर घटित न होते हों; अथवा, (२) वृक्षदोहद की प्रसिद्धि का मूल साहित्येतर क्षेत्र में हो। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा जा सकता।

काव्य में वृक्षदोहदपरक वर्णन की दीर्घ परम्परा रही है, विश्वनाथ और केशवमिश्र ने उसे कविसमय माना है, और मल्लिनाथ ने उसे कविप्रसिद्धि कहा है, इन आधारों पर और मुख्यतः इस कारण कि कविसमय के स्वीकृत लक्षणों का वह अनुयायी है, प्रस्तुत विवेचन में उसे स्थान दिया गया है।

यह अवश्य है कि उक्त दस वृक्षों में से सभी की दोहद-वृत्तियों के उल्लेख काव्य में सरलतया उपलब्ध नहीं हैं, विरल रूप से ही कहीं-कहीं हैं; किन्तु कालिदास से लेकर हिन्दी के आधुनिक काल तक के काव्यों में वृक्षदोहद के आधार पर मार्मिक व्यंजनाएँ हुई हैं। प्रधानतः अशोक, बकुल, कुरबक और तिलक के दोहदों का उल्लेख मिलता है।

राजशेखर ने कर्पूरमंजरी सट्टक के द्वितीय अंक में कुरबक, तिलक और अशोक की दोहद-वृत्तियों का वर्णन बहुत कुछ उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार कालिदास ने मालविकाग्निमित्र के तृतीय अंक में अशोक-दोहद का।[१] युवती कर्पूरमंजरी के आलिंगन, दृष्टिदान और पादाघात से क्रमशः कुरबक, तिलक और अशोक वृक्ष सद्यः प्रफुल्ल हो जाते हैं।[२]

---

[१] दे. अशोक प्र.

[२] इस प्रसंग के मूल प्राकृत उद्धरण, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित, ये हैं—

कुरवअतिलअअसोआ आलिंगणदणग्गचलणहआ।
विअसन्ति कामिणीणं ता ताणं देहि दोहलअं॥

[सुन्दर स्त्रियों के आलिंगन से कुरबक, देखने से तिलक, और पैर के छूने से अशोक फूलता है]

णवकुरवअवच्छो कुम्भथोरत्थणीए रहसविरइएणं णिब्भरालिंगणेणं।
तह कुसुमसमिद्धिं लम्भिओ सुन्दरीए जह भसल कुलाणं एथ जत्ता समत्ता॥

चौदहवीं शताब्दी के पार्श्वनाथचरित में उक्त चार वृक्षों के अतिरिक्त चम्पक सम्बन्धी दोहद का उल्लेख भी है।[१] किन्तु उसमें सुगन्ध-जल को

बालो वि कुरवअतरू तरुणीअ गाढमुवगूढो ।
सहस त्ति कुसुम णिअरं मअणसरे विअ समुग्गिरइ ।
[करत अलिंगन ही अहो कुरबक तरु इक साथ ।
फूल्यो उमगि अनंद सों परसि पियारी हाथ ।।]
तिक्खाणं तरलाणं कज्जलकला संवहिआणं पि से
पासे पंचसरं सिलीमुहधरं णिच्च कुणन्ताण अ ।
णेत्ताणं तिलअद्दुमे णिवडिआ धाडी मअच्छीअ जं
तं सो मंजरिपुंजदन्तुरसिरो रोमांचिओव्वट्ठिओ ।।
[अहा, काजरभीनी कामनिधि दीठि तिरीछी छाय ।
भरचो मंजरिन तिलक तरु मनहु रोम उलहाय ।।]
असोअतरु ताडणं रणिअणेउरेणं हिणा
कअं च मअलच्छणच्छविमुहीअ हेलुल्लसं ।
सिहासु सहलासु वित्थवअमण्डणाडम्बरं
ठिअं च गअणंगणे जणणिरिक्खणिज्जं खणं ।।
[नूपुर-बाजत पद-कमल परसत तुरत अशोक ।
फूल्यौ तजि सब सोक निज प्रगटि कुसुम कल थोक ।।]

—कर्पूरमंजरी ३।४३–४६
भारतेन्दु-नाटकावली, कर्पूरमंजरी, अंक २

[१] अथ मल्लीरदश्चूत मंजरी केसरो वने ।
पलाशपुष्पनखरो वसन्त हरिरागतः ।।
पुष्प्यन्ति तरुणी श्लिष्टा यस्मिन् कुरुवकद्रुमाः ।
विकाशं यान्त्यशोकास्तु बधूपादप्रहारतः ।।
मृगाक्षी सीधुगण्डूषैः पुष्प्यन्ति बकुला अपि ।
चम्पकास्तु प्रफुल्लन्ति सुगन्धजल दोहदैः ।।
सुभ्रूकटाक्षिताः सद्यस्तिलका विकसन्त्यलम् ।
श्रुत्वा च पंचमोद्गारं पुष्प्यन्ति विरहद्रुमाः ।।
स्पर्शादि विषयैरेव क्रमादेकेन्द्रिया अपि ।
क्रियन्ते तत्र का वार्ता पंचेन्द्रिय विमोहने ।।

—भावदेव सूरि, पार्श्वनाथ चरित ६।७९६-७९९

चम्पक का दोहद माना गया है, जब कि मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत उक्त श्लोक में स्त्रियों का पटुमृदु हास्य चम्पक का दोहद कहा गया है। ध्यान देने की बात यह है कि पार्श्वनाथचरित जैन-काव्य है, और जैन-काव्यों में कविसमयगत प्रसिद्धियों का अनुसरण क्वचित्-कदाचित् ही हुआ है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय में वृक्ष-दोहद सम्बन्धी कविप्रसिद्धियों का व्यापक प्रसार था। मल्लिनाथी टीकाएँ चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखी गईं, और मल्लिनाथ द्वारा प्रथम बार दस वृक्षों से सम्बद्ध दोहद-वृत्तियों का परिचय मिलता है, इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि वृक्षदोहद सम्बन्धी प्रसिद्धियाँ क्रमशः अधिक रुचि का विषय बनती जा रही थीं और उनका प्रसार बढ़ रहा था।

हिन्दी के भक्तिकाल के कवियों द्वारा वृक्षदोहद सम्बन्धी कविप्रसिद्धियों को विशेष अपेक्षित नहीं समझा गया। इसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि इन कविप्रसिद्धियों का स्वभाव ही मूलतः लौकिक शृंगारपरक है। काव्य में प्राप्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इनका उपयोग प्रधानतः लौकिक दाम्पत्य रति की व्यंजना के लिए ही हुआ है। कालिदास के काव्यों और काव्यमीमांसा के उक्त उद्धरण, तथा आगे के प्रसंगों में उद्धृत वृक्ष-दोहद-परक काव्यांश इस कथन के प्रमाण हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के भक्त कवियों की अलौकिक रहस्यमयी रति-व्यंजना में इन कविप्रसिद्धियों के लिए अवकाश ही न था, सगुण भक्ति धारा के कवियों की रति-व्यंजना भी प्राकृत से परे होने का भाव धारण किये रहती थी। कृष्ण की प्रेमलीलाओं का गान करने वाले कवियों की वृत्ति का लक्ष्य यत्किंचित् लौकिक आधार पर दिव्यार्थ की अभिव्यक्ति ही था। शृंगार-काल के कवियों ने इन कविप्रसिद्धियों को अपनाया। उनकी दृष्टि में लौकिक प्रेम-व्यंजना प्रधान थी।

आधुनिक काल में द्विवेदी युग के मैथिलीशरण गुप्त ने वृक्षदोहद सम्बन्धी कतिपय कविप्रसिद्धियों को अपनाया। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-व्यंजना पूर्णतया लौकिक आधार पर है। उस पर शृंगारकाल के कवियों के भावों की छाप स्पष्ट है। साथ ही, संस्कृत-काव्य की प्रेरणा भी उसमें है। शृंगार-भाव की मर्यादा होते हुए भी वृक्ष-दोहद-परक गुप्त जी के काव्य में कविप्रसिद्धियों के प्रवेश पाने का कारण यही जान पड़ता है। छायावाद काल में भी इन कविप्रसिद्धियों का समावेश शृंगारी व्यंजनाओं के लिए हुआ है।

छायावादी स्वच्छन्द प्रेमवृत्ति का योग भी इसमें मानना होगा। पन्त ने प्रेयसी के रूप-गुणोत्कर्ष की व्यंजना तिलक, अशोक, प्रियंगु, चम्पक,कर्णिकार, मन्दार और सहकार वृक्षों की दोहद-वृत्तियों के आधार पर की है। उनके 'गुंजन' काव्य-संग्रह से मधुवन (२) कविता के एतत्सम्बन्धी. उद्धरण आगे दिये गये हैं।

कवियों द्वारा एक-एक वृक्ष की दोहद-वृत्ति का पृथक्-पृथक् उल्लेख भी हुआ है, और अनेक वृक्षों की दोहद-वृत्तियों का समुच्चयित उल्लेख भी। पृथक्-पृथक् उल्लेख के उदाहरण तत्तत् प्रकरण में द्रष्टव्य हैं। संस्कृत-काव्य से समुच्चयित उल्लेख के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, हिन्दी-काव्य से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

मतिराम ने नायिका की चितवन, स्तनालिंगन, मुखमदिरा और पादाघात से नायक के कमशः तिलक, कुरबक, बकुल और अशोक के समान विकसित होने की व्यंजना की है—

चितवनि कुच परिरंभ मुख, सीधु चरन हति केलि।
कियो तिलक कुरबक मिलित, लाल बकुल कंकेलि॥[1]

—मति. सत. ६५५

देव के निम्नोद्धृत छंद में भी समान आधार पर यही भाव व्यंजित है—

आये हौ भामिनि भेंट कुरौ, लगि फूल घरें अनुकूल उवारें,
केसरि जानि तुम्हें जो सुहागिनि, आसव लै मुख सौं मुख डारें,
कीन्हीं सनत्थ हौं नाथ मया करि मो बिन को इतनी जु बिचारें।
होय असोक सुखी तुम लौं, अबला तन को अब लातन मारें।

—शब्दरसा. पृ. २६

---

[1] श्रीकृष्णविहारी मिश्र द्वारा सम्पादित पाठ 'कियो तिलक कर बकनिलित' है, जिसमें अर्थसंगति नहीं दिखाई देती। अर्थसंगति की दृष्टि से लेखक द्वारा किया गया इसका प्रस्तुत संशोधन, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा भी मौखिक रूप से अनुमोदित है।

वृक्षदोहद का उत्स

दोहद का सामान्य अर्थ है—इच्छा, श्रद्धा अथवा लालसा।[१] अन्तस्सत्वा (गर्भवती) स्त्री की लालसा के लिए[२] इसका प्रयोग रूढ़ हो गया है। इसी अर्थ में प्रयुक्त एक शब्द दौहृद भी है।[३] यद्यपि दौहृद का व्युत्पत्त्यर्थ 'दुहृदो भावः' अर्थात् दूषित हृदयत्व अथवा हृद्रोग है,[४] किन्तु साहित्य में दोहद के ही अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः मिलता है।[५] गर्भचिह्न के लिए भी दौहृद का प्रयोग होता है।[६] कहा जाता है कि संस्कृत दौहृद का ही प्राकृत रूप दोहद है जो कालक्रम से संस्कृत में पुनः गृहीत हो गया।[७]

प्राचीन काल से विश्वास रहा है कि दोहद-प्रदान न करने अर्थात् गर्भिणी स्त्री की इच्छा पूर्ण न करने से गर्भ दूषित हो जाता है, उसका वैरूप्य अथवा मरण हो जाता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में, इसीलिए गर्भवती का प्रिय करने का आदेश है।[८] यह भी माना गया है कि दोहदप्राप्त स्त्री वीर तथा चिरायु पुत्र को जन्म देती है।[९]

---

[१] अमर. १।७।२७, हेम. ३।२०५

[२] शब्दकल्प. पृ. २७४, दोहदाकर्षं ददातीति। गर्भिण्याभिलाषः। साद इति भाषा।

[३] हेम. ३।२०५

[४] उदा. दुर्भाषिणो मन्युवशानुगत्य।
कामात्मनो दौहृद भावितस्य॥ —भारत ५।२६।१४

[५] शब्दकल्प पृ. २७४

[६] उदा. सुदक्षिणा दौहृद लक्षणं दधौ। —रघु ३

[७] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका आषाढ़ १९९३, पृ. ३६८

[८] दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयाम्।
वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियाः॥
—याज्ञवल्क्य संहिता, ३।७९

[९] लब्ध दौहृदादि वीर्यवन्ते चिरायुश्च पुत्रं जनयति। —सुश्रुत
[शब्दकल्प. पृ. ७५४]

भारतीय साहित्य में दोहद एक अभिप्राय (Motif) के रूप में मिलता है। प्रधानतः लोक-साहित्य में अत्यन्त अप्रत्याशित स्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए इसका उपयोग हुआ है। विद्वान् पेंजर ने 'ओशन आव् स्टोरी' की विस्तृत टिप्पणियों में कथासरित्सागर में प्रयुक्त इस अभिप्राय का विचार करते हुए, साहित्य में प्राप्त दोहद के अन्य रूपों का भी उल्लेख किया है। वृक्षदोहद भी उनमें है। पेंजर के अनुसार कथासरित्सागर में मानव-दोहद और पशु-दोहद[1] प्रायः मिलते हैं, वृक्षदोहद नहीं। पेंजर ने दोहद का अर्थ 'दो हृदय होने का भाव (two heartedness)' किया है, और इस आधार पर कहा है कि अन्तस्सत्वा (गर्भवती) स्त्री के दो हृदय, और तदनुसार दो इच्छाएँ होती हैं। वह जो इच्छा करती है, उसमें गर्भस्थ शिशु की इच्छा सम्मिलित रहती है। शिशु ही माता को वह पदार्थ माँगने की प्रेरणा देता है, जिसे वह अपने शुभ जन्म के लिए आवश्यक समझता है।

पेंजर के अनुसार वृक्षों के सम्बन्ध में 'दोहद' का वही अर्थ है, जो मानवों और पशुओं के सम्बन्ध में। 'वृक्षदोहद' में पुष्पप्रसव के लिए वृक्ष-विशेष के आवश्यक उपचार अथवा नियम का भाव निहित है।

अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वनस्पति-विशारदों को ऐसे कुशल उपायों का ज्ञान था जिनसे वृक्षों में समय से पूर्व पुष्पोद्गम सम्भव हो। मल्लिनाथ ने मेघदूत २।१८ की टीका में जो श्लोक उद्धृत किया है उसके अनुसार दोहद वह क्रिया है जिसमें कुशल व्यक्तियों द्वारा तरुगुल्मलता आदि का अकाल में पुष्पोद्गम कराया जाता है।[2] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार दोहद का अर्थ 'पुष्पोद्गमक औषध' भी है, इसके समर्थन में वह श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें इन्दुमती के निधन पर विलाप करते हुए अज कहते हैं कि जिस अशोक वृक्ष में तुमने दोहद किया था, वह जब विकसित होगा तो मैं तुम्हारे केशों को सजाने वाले उसके फूल अपनी जलदान की अंजलि में कैसे ले सकूँगा।[3]

---

[1] संसुमार नामक प्रसिद्ध जातक (संख्या २०८) में मगरमच्छ की भार्या के मन में बन्दर का मांस खाने के दोहद की कथा है।

[2] तरु गुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्।
पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया॥
—मेघ. २।१८ पर मल्लि. टी.

[3] रघु. ८।३३, उद्धरण के लिए दे. अशोक प्र.

नैषधीयचरित में एक स्थल पर कहा गया है कि वृक्ष भी दोहदबल से समय से पूर्व कलियाँ देते हैं[१]। उसमें अन्यत्र, दोहद-क्रिया से धूपयुक्त दाडिम वृक्ष का उल्लेख भी है।[२] मोनियर विलियम्स ने दोहद का अर्थ 'खाद की भाँति प्रयुक्त होने वाला एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य'[3] भी दिया है, और इसके समर्थन में नैषध के उक्त श्लोक का संकेत किया है।

उपर्युक्त विवेचन से केवल इतना स्पष्ट है कि वृक्षों के वास्तविक पुष्पोद्‌गम से दोहद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ तक अकाल पुष्पोद्‌गम की बात है, उसके विषय में काव्य में दो प्रकार के संदर्भ मिलते हैं। एक के अनुसार बिना समय या अकाल में विकसित पुष्प दुर्भिक्ष और उपद्रव के सूचक समझे जाते हैं। हिन्दीशब्दसागर में इस भाव के समर्थन के लिए तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत हैं[४]—

भयदायक खल की प्रिय बानी।
जिमि अकाल के कुसुम भवानी।।

दूसरे के अनुसार पुष्पों और फलों का अकाल उद्‌गम विशेष हर्ष एवं अनुग्रह का सूचक है। रामायण में वन को गये राम के विषय में सोचते हुए अयोध्या के निवासी कहते हैं—

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद्‌गिरयो राममागतम्।।

—रामा. २।४८।१३

और तुलसीदास का कथन है—

बिनु ही ऋतु तरुवर फरत, सिला द्रवसि जलजोर।
राम लखन सिय करि कृपा, जब चितवत जेहि ओर।।

—दोहा. १७३

---

[१] महीरुहादोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्‌गिरन्ति। —नैषध ३।२१

[२] विदर्भसुभ्रूस्तन तुंगताप्तये घटा निवापश्यदलं तपस्यतः
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान्स दाडिमे दोहदधूपनिद्रुमे।। —नैषध १।८२

[3] A kind of fragrant substance used as manure.
मोनियर. पृ. ४९९

[४] शब्दसागर पृ. ८३

कामदेव की प्रजनन-शक्ति का बोध कराने के लिए, उसके सहयोगी वसन्त के असमय आगमन पर वृक्षों में तत्काल पुष्पोद्गम का वर्णन भी काव्य-परम्परा में होता रहा है। कालिदास ने कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग में कामदेव द्वारा शिव की समाधि-भंग किए जाने के प्रसंग में[1], और तुलसीदास ने मानस के बाल-काण्ड के समान प्रसंग में[2], इस प्रकार के वर्णन किये हैं।

वृक्षदोहद के सम्बन्ध में अकाल-पुष्पोद्गम का उपर्युक्त द्वितीय संदर्भजनित अर्थ ही ग्राह्य है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि रूप एवं सौन्दर्य के उत्कर्ष की व्यंजना के लिए अकाल-पुष्पोद्गम का कथन होता है। वृक्षदोहद के सम्बन्ध में यदि इसका यही भाव माना जाए तो पृथक्-पृथक् वृक्षों की दोहद-वृत्तियों द्वारा स्त्रियों की चेष्टाओं की उत्कर्ष-व्यंजना ही प्रधान जान पड़ती है। काव्य में वृक्षदोहद-परक प्रसिद्धियों के उपयोग का जो रूप मिलता है, वह भी इसका समर्थक है। उपर्युक्त दस वृक्षों की दोहद-वृत्तियों की व्याख्या इस आधार पर सहज ही हो जाती है। स्त्रियों की चेष्टाओं तथा उनसे विकसित होने वाले तत्तत् वृक्ष अथवा उसके पुष्पों में वर्ण, गंध, आकार, और गति आदि के साम्य का आधार ही इसमें प्रमुख मानना होगा। उदाहरणार्थ, पादाघात से अशोक के फूलने में, चरणतल की रक्तिमा का अशोक-पुष्प के रक्त वर्ण से साम्य व्यंजित होता है, मुख-मदिरा से बकुल के फूलने में दोनों का गंध-साम्य व्यंजित होता है, नृत्य से कर्णिकार के फूलने में कर्णिकार के पुष्प-गुच्छों का चांचल्य व्यंजित होता है। आलिंगन से कुरबक के फूलने में शारीरिक पुलक का कुरबक के कंटकित रूप से साम्य व्यंजित होता है। इसी प्रकार, शेष के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। वृक्षों में दोहदाकांक्षा का आरोप करके स्त्रियों की चेष्टाओं द्वारा उनकी पूर्ति के कथन से, स्त्रियों के रूप-गुण आदि का उत्कर्ष व्यंजित करने का उद्देश्य सहज ही सिद्ध होता है।

वृक्षदोहद का मूल खोजने का एक और मार्ग भी है। हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से वृक्ष-पूजा की प्रथा रही है। जातककथाओं में वृक्ष-देवताओं

---

[1] कुमार. ३।२४-३२

[2] प्रगटेसि तुरत रुचिर ऋतुराजा।
कुसुमित नव तरुराजि विराजा॥ —मानस १।८६

का उल्लेख मिलता है।[1] अन्य स्रोतों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि यक्ष और नाग वृक्षों के अधिष्ठातृ देवता माने जाते थे। गन्धर्वों और अप्सराओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध विदित होता है। वरुण इन सब के अधिपति थे। जल के देवता होने के कारण वरुण मूलतः उर्वरता और वृष्टि के देवता के रूप में पूज्य थे। पुराणों के अनुसार कामदेव वरुण के अवतार हैं। इस प्रकार, कामदेव का यक्षों, नागों, गन्धर्वों और वृक्षों से निकट सम्बन्ध है। यक्षिणियों द्वारा वृक्षों में दोहद-संचार के अनेक दृश्य प्राचीन मूर्तियों में पाये गये हैं। यक्षिणियाँ स्त्री-सौन्दर्य की प्रतीक मानी जाती थीं। अतः अनुमान होता है कि मूलतः यक्षिणियों से सम्बद्ध वृक्षदोहद सुन्दरी स्त्री मात्र से सम्बद्ध हो गया। मुख्यतः, अशोक वृक्ष में यक्षिणियों द्वारा दोहद-संचार के दृश्य की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[2] अशोक से आरम्भ होकर अन्य वृक्षों तक दोहद का प्रसार क्रमशः हुआ होगा। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में, इस विषय में बहुत निश्चित् निष्कर्षों पर पहुँचना सम्भव नहीं दिखाई देता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यक्षिणियों द्वारा वृक्ष-दोहद-संचार में भी सौन्दर्योत्कर्ष-व्यंजना की काव्यात्मक वृत्ति ही प्रधान रही होगी।

———

[1] उदा. दे. कुण्डकपूव जातक (संख्या १०९) और सेग्गु जातक (संख्या २१७)

[2] इस सम्बन्ध के अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन के लिए दे. पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी का लेख, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३७०–७६।

प्रियंगु

प्रियंगु के विषय में निम्नलिखित दो कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]—

(१) इसके पुष्पों को पीला न कहना।

(२) स्त्रियों के स्पर्श से यह लता विकसित होती है।

काव्य में प्राप्त प्रियंगु के वर्णनों से विदित होता है कि इसके फूल सुगन्ध-युक्त होते हैं, और इसमें गोल-गोल फल लगते हैं। कालिदास ने उदित होते हुए फलों की उपमा पक्व प्रियंगु फल से दी है—

पश्य पक्व फलिनी फलत्विषा बिम्बलांछित वियत्सरो भासा।

—कुमार. ८।६१

अमरकोश (२।४।५५) के अनुसार 'फलिनी' प्रियंगु का पर्याय है। भारवि ने हेमन्त के प्रसंस में सुगन्धित पुष्पों के साथ प्रियंगु का उल्लेख किया है—

अविरलफलिनी वन प्रसून, कुसुमित कुन्द सुगन्ध गन्धिवाहः

—किरात. १०।२८

राजशेखर ने हेमन्त-आगमन पर प्रियंगु में पाँच-छः पुष्पों के उद्गम को लक्ष्य किया था।[2] बृहन्निघंटु में हेमन्त-ऋतु-वर्णन में पुष्पित प्रियंगु का उल्लेख है।[3]

बृहत्संहिता (५५।३) से ज्ञात होता है कि प्राचीन युग में महलों और बगीचों के अग्रभाग में प्रियंगु की लताएँ लगाई जाती थीं।

(१) पुष्प को पीला न कहना

प्रियंगु का एक नाम श्यामा भी है। श्यामा तपे हुए सोने के रंग की उस षोडष वर्षीया नारी को कहा जाता है जिसे संतान न हुई हो। प्रियंगु पुष्प

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] **द्वित्रिमुचुकुन्द कलिकस्त्रिचतुरमुकुलः क्रमेण लवलीषु।**
पंचषट् फलिनीकुसुमो जयतु हिमत्तुर्नवावतारः॥ —काव्यमी. अ. १८

[3] **विस्तीर्णशालिकेदारा नील धान्योज्ज्वलामही।**
लोध्रप्रियंगु पुन्नागाः पुष्पिता हिमसाह्वये॥ बृहन्नि. पृ. ४८०

ऐसी नारी का उपमान है। उपमान का पीलापन अस्वीकार करने में यही भाव जान पड़ता है कि उपमेय में उसके आरोप का निराकरण हो सके, क्योंकि नारी-शरीर में पीलापन रोग का लक्षण होगा। राजशेखर ने इस कविप्रसिद्धि का जो उदाहरण दिया है उसमें प्रियंगु को श्याम कहा गया है—

प्रियंगुश्याममम्भोधिरन्ध्रीणां स्तनमण्डलम् ।
अलंकर्तुमिव स्वच्छाः सूते मौक्तिकसंपदः ॥ —काव्यमी. अ. १५

(२) स्त्रियों के स्पर्श से विकसित होना

काव्य में इस कविप्रसिद्धि के उदाहरण प्रचुरता से प्राप्त नहीं हैं, तो भी इसके मूल के विषय में पता लगाना कठिन नहीं है। चरक में प्रियंगु और चन्दन से युक्त स्त्री के स्पर्श को दाह की महौषध बताया गया है—

प्रियंगुकाचन्दन रूषितानां स्पर्शाः प्रियाणांच वरांगनानाम् ।
—चरक, दाह-चिकित्सा ।

पन्त ने इस कविप्रसिद्धि के आधार पर निम्नलिखित शृंगारी व्यंजना की है, प्रेयसी के स्पर्श से तत्काल प्रियंगु-विकास होता है—

तुम्हारे चल-पद चूम निहाल
मंजरित अरुण अशोक सकाल ,
स्पर्श से रोम-रोम तत्काल
सतत-सिंचित प्रियंगु की बाल । —पन्त, गुंजन, मधुवन (२)

बकुल

कविसमय के अनुसार स्त्रियों की मुखमदिरा से सिंचकर बकुल विकसित होता है।[१]

बकुल का लोक-प्रचलित नाम 'मौलसिरी' (मौलश्री) है।[२] अमरकोश में इसका पर्याय केसर अथवा 'केशर' माना गया है।[3] भावप्रकाश के अनुसार 'बकुल' और 'वृद्ध बकुल' उसके दो भेद हैं।[४]

अपने विशाल आकार और घनी छाया के कारण मौलसिरी का वृक्ष अन्य वृक्षों की अपेक्षा सहज ही अधिक आकर्षक होता है। ब्रैंडिस के अनुसार भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में कंडाल घाट तथा पूर्व की ओर उत्तरी सर्कार के निचले भागों में इसके वृक्ष पाए जाते हैं। अंडमान, निकोबार और तेमासेरिम (Temasserim) में भी ये मिलते हैं। उत्तर भारत में लाहौर तक ये सामान्यतः लगाए जाते हैं। जनवरी से अप्रैल तक अर्थात् प्रधानतः वसन्त में इसके फूल खिलते हैं। इसमें पीले रंग के अंडाकार फल भी आते हैं।[५]

बकुल के पुष्प भूरापन लिये हुए श्वेत रंग के होते हैं। उनमें मादक सुगन्ध होती है, जिसकी तुलना मदिरा की गन्ध से की गई है। उन्हें 'शीधुगंध' और 'मद्यगंध' नाम[६] इसी आधार पर दिये गये जान पड़ते हैं।

काव्य-परम्परा में प्रधानतः बसन्त के प्रसंगों में बकुल पुष्पों का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि ने पम्पातीर के अनेक पुष्प-वृक्षों के साथ बकुल का उल्लेख किया है।[७] कालिदास ने यद्यपि ऋतुसंहार में बकुल का वर्णन वर्षा

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] भावप्र. पुष्प व. ५।३२.

[3] अमर. २।४।६४

[४] भावप्र., पुष्प व. ५।३२-३३

[५] इंट्री पृ. ४२५

[६] राजनि. करवीरादि व. ६३–६४

[७] चिरबिल्वा मधूकाश्च बंजुला बकुलास्तथा। —रामा. ४।१।७८

में किया है,[१] किन्तु रघुवंश में वसन्त के प्रसंग में ही उनके द्वारा इसका वर्णन हुआ है।[२] जयदेव ने बसन्त के रागपूर्ण वातावरण में भौरों के समूह से युक्त बकुल पुष्पों के सौन्दर्य का गान किया है[3]। तुलसीदास ने बसन्त के मानवीकरण में बकुल और रसाल के पल्लवों में उसके हाथों की उत्प्रेक्षा की है।[४] महादेवी वर्मा ने मधुबयार में प्रियतम के स्वागत को उत्सुक प्रेयसी के मंडन के लिए बकुल पुष्पों का स्मरण किया है।[५]

बकुल के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोहदपरक कविप्रसिद्धि के मूल का ज्ञान बहुत दूर नहीं जान पड़ता। इसके फूलों की गन्ध में मदिरा की गन्ध का आभास मिलता ही है। कालिदास ने दशरथ की पत्नियों द्वारा पिये जाते हुए मद्य को कामदेव का सखा और सुरभि में बकुल को पराजित करने वाला कहा है।[६] रमणी के श्वास-गन्ध से भी बकुल पुष्प की गन्ध की समानता कालिदास ने लक्ष्य की है।[७] स्त्रियों की मुख-मदिरा की मादक गन्ध का उत्कर्ष व्यंजित करने का भाव ही इस कविप्रसिद्धि में जान पड़ता है।

[१] शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां
विकसित नवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च
विकचनव कदम्बैः कर्णपूरं बधूनां
रचयिति जलदौघः कान्तवत्काल एष ॥ —ऋतु. २।२५

[२] दे. रघु. ९।३६

[3] उन्मद-मदन-मनोरथ पथिक-वधूजन-जनित-विलापे।
अलिकुल-संकुल-कुसुमसमूह निराकुल-बकुल-कलापे ॥ —गीतगो. सर्ग १

[४] कर बकुल नवल पल्लव रसाल।
श्रीफल कुच कंचुकि लता जाल ॥ —विनय. १४

[५] जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आती मधु-बयार !
पाटल के सुरभित रंगों से रँग दे हिम सा उज्ज्वल दुकूल।
गूँथ दे रशना में अलि-गुंजन से पूरित झरते बकुल फूल ॥
—महादेवी, पृ. ८२

[६] ललित विभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ —रघु. ९।३६

[७] तवनिःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥ —रघु. ८।६४

काव्यपरम्परा में बकुलदोहद का वर्णन अविरल रूप से मिलता है। प्रायः शृंगारी व्यंजनाओं के लिए ही वह गृहीत हुआ है।

रघुवंश में अपनी पत्नियों का जूठा आसव पीने वाले राजा अग्निवर्ण की तुलना कालिदास ने दोहदावस्था के बकुल से की है—

सुवदना वदनासव संभृतस्तवनुकूल गुणः कुसुमोद्गमः।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपंक्तिभिः॥ —रघु. ९।३०

मतिराम ने नायिका की मुख-मदिरा से हर्षित होने वाले नायक में विकसित बकुल की स्थिति का आरोप किया है—

प्रीतम पिया पियाइकै, मुख-सुख सुधा अनूप।
पुलक मुकुल केसर पटल, करि केसरि अनुरूप॥ —मति. सत. ६५२

मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला के पक्ष में वियोग-शृंगार की व्यंजना के लिए इस कविप्रसिद्धि का आधार लिया है। यद्यपि विलास-विरक्ता उर्मिला का मुख आसव-रहित है, फिर भी प्रियतम लक्ष्मण के बकुल-समाज को सुमन-संकुल देखने की आकांक्षा उसमें है—

सूखा है यह मुख यहाँ, रूखा है मन आज।
किन्तु सुमन-संकुल रहे, प्रिय का बकुल-समाज॥ —साकेत, सर्ग ९

अशोक

अशोक के विषय में निम्नलिखित दो कविप्रसिद्धियाँ हैं[१]—

(१) इसमें फल नहीं होते।

(२) स्त्रियों के पादाघात से यह विकसित होता है।

अशोक सामान्यतः परिचित वृक्ष है। विशेषतः इसकी तरंगायित पत्रों वाली जाति ही आजकल अधिक लक्ष्य की जाती है, क्योंकि उत्सवों आदि में इसके सुन्दर पत्रों की बन्दनवारों से मण्डप और तोरण सजाये जाते हैं। इस जाति का लोकप्रचलित नाम 'सोक वीरो' है। किन्तु काव्य-परम्परा में जिस अशोक का वर्णन मिलता है, वह इससे भिन्न प्रकार का है। उसकी पत्तियाँ तरंगायित नहीं होतीं, वे रामफल के समान होती हैं।

पत्तियों के अतिरिक्त दोनों कोटि के अशोक वृक्षों में यह भी भेद है कि 'सोक वीरो' के फूल सफेद रंग के होते हैं और बरसात में निकलते हैं, तथा दूसरे प्रकार के अशोक के फूल विशेषतः लाल रंग के होते हैं और बसन्त तथा ग्रीष्म में फूलते हैं।

ब्रैंडिस ने भी दो प्रकार के अशोक वृक्षों का विवरण दिया है। उसके अनुसार एक प्रकार का अशोक वृक्ष दीर्घ आकार का होता है। उसमें भाले के आकार की चिकनी तरंगायित पत्तियाँ होती हैं। लम्बे कोमल वृन्तों पर पीताभ हरे रंग के फूल आते हैं। फरवरी से मई तक अर्थात् बसन्त से ग्रीष्म तक वे विकसित होते हैं। इस प्रकार के अशोक वृक्ष लंका में बहुतायत से मिलते हैं। भारत के अधिकांश भागों में भी वे उद्यानों में लगाये जाते हैं।[२] दूसरे प्रकार का अशोक वृक्ष सदाबहार होता है। उसमें तीन चार इंच व्यास के बड़े-बड़े घने गुच्छों वाले फूल लगते हैं, जिनका नारंगी रंग क्रमशः गहरे लाल रंग में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के अशोक वृक्ष खासी की पहाड़ियों, अराकान, तेनासेरिम (Tenasserim) भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग, उत्तरी सर्कार, कोंकण, तथा कनारा के सदाबहार जंगलों में होते हैं।[3]

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] इंट्री. पृ. १५

[3] इंट्री. पृ. २५

मांगल्य वृक्ष के रूप में उपवनों और प्रासादों के अग्रभाग में अशोक के लगाए जाने का उल्लेख बृहत्संहिता (५५।३) में है।

काव्यपरम्परा में कई रंग के अशोक-पुष्पों का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि ने अंगार-समान स्तवकों वाले (अर्थात् लाल) और नीले अशोक पुष्पों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है।[१] कालिदास ने अधिकतर तो अशोक के लाल फूलों का ही वर्णन किया है, किन्तु ऋतुसंहार के शरद् प्रसंग में कंकेलि (अशोक का पर्याय) के श्वेत पुष्पों की व्यंजना भी दाँतों के उपमान के आधार पर की है।[२] मल्लिनाथ ने मेघदूत (२।१७) में वर्णित लाल अशोक पुष्पों की व्याख्या करते हुए अशोककल्प से एक श्लोक उद्धृत करके बताया है अशोक पुष्प श्वेत और लाल दो प्रकार के होते हैं।[3] उसमें यह भी कहा गया है कि अशोक के श्वेत पुष्प बहुसिद्धिकर तथा लालपुष्प स्मरबर्द्धक होते हैं। काव्यमीमांसा के एक श्लोक से लाल, पीले और नीले, तीन रंग के अशोक पुष्पों का परिचय मिलता है।[४] पीत को ही स्वर्णाशोक कहा गया है।

अशोक पुष्पों के रागोद्दीपक गुण का वर्णन काव्य में भूरिशः हुआ है।[५] इस दृष्टि से अशोक के पुष्पों के समान ही उसके पत्तों का भी महत्व है।

---

[१] स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानंग प्रदीपकः
अशोकस्तवकांगारः षट्पदस्वन निःस्वनः ॥ —रामा. ४।१।२९
पद्माश्चैव शोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः । —वही ४।१।७९

[२] दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्ति
कंकेलिपुष्परुचिरा नवमालती च । —ऋतु. ३।१८

[3] प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतोरक्त इति द्विधा ।
बहु सिद्धिकरा श्वेतो रक्तोत्र स्मरवर्द्धकः ॥

[४] चैत्रे चित्रौ रक्तनीलावशोकौ स्वर्णाशोकस्तत्तृतीयश्च पीतः ॥
—काव्यमी. अ. १८

[५] कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।
स्तवकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ —रामा. ४।१।५९
आमूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः ।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥
—ऋतु. ६।१८

सुन्दरियाँ इसके किसलयों को श्रवणमूल में धारण करती थीं,[१] और फूलों को अलकों में लगाती थीं।[२] अशोक के पुष्पस्तवकों से अलंकृत रमणी को कालिदास ने अशोकलता कहा है।[3] जयदेव ने भी गीतगोविन्द में यही भाव व्यक्त किया है।[४] सम्भव है, प्राचीन काल में अशोकलता का भी अस्तित्व रहा हो।

रमणियों के प्रसाधन के रूप में अशोक का उल्लेख आधुनिक काव्य में भी हुआ है। महादेवी वर्मा ने अशोक के अरुण पराग से चरणों को रंजित करने का भाव व्यक्त किया है—

रंजित करदे ये शिथिल चरण
ले नव अशोक का अरुण राग —महादेवी, पृ. ८२

(१) फलों का अभाव

अशोक की तरंगायित पत्रों वाली जिस जाति को ऊपर 'सोक बीरो' कहा गया है, उसमें छोटे-छोटे मटर के आकार के फल लगते हैं, जो क्रमशः पकने पर काले पड़ते जाते हैं। दूसरे प्रकार के अशोक में भी बादाम के आकार के सफेद से फल लगते हैं। पकने पर वे भी काले पड़ जाते हैं। किन्तु अशोक के इन फलों का कोई विशेष उपयोग नहीं है। सौन्दर्य की दृष्टि से तो ये हेय ही होते हैं। काव्यसुलभ सौन्दर्य-वृत्ति द्वारा इनके प्रति उपेक्षा इस कारण और भी बढ़ जाती है कि अशोक के पल्लवों, पुष्पस्तवकों आदि की सौन्दर्य-समष्टि में ये व्याघात उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि काव्य में अशोक के फलों का वर्णन नहीं किया जाता। कवियों की वृत्ति ने अशोक के फलों के वर्णन का निषेध करके ही सन्तोष नहीं कर लिया, अपितु श्रेष्ठ गुणों से युक्त अन्य अवयवों की संगति में आ सकने योग्य फलों के अभाव पर अनेक प्रकार से खेद भी व्यक्त किया है। काव्यमीमांसा में इस प्रसंग में जो श्लोक उद्धृत है, उसमें अद्वितीय सुन्दर पल्लवों से युक्त अशोक में फलों के अभाव को दैवाधीन विवशता

---

१ कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता श्रवणार्पितः॥ —रघु. २।९

२ कर्णेषु योग्यं नव कर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकः। —ऋतु. ६।६

3 इयं तवाशोकलता स तन्वी स्तनाभिराम स्तवकाभिनम्रा। —रघु. १३।२

४ दूरालोकस्तोकस्तवकनवकाशोकलतिका। —गीतगो. २

मान कर सन्तोष किया गया है [१] भोजदेव-रचित एक पद में अशोक की इस आधार पर भर्त्सना की गई है कि उत्कंठित पथिक को उससे सुस्वादु और कोमल फलों की प्राप्ति नहीं होती।[२]

(२) सुन्दरियों के पादाघात से विकसित होना

कालिदास के काव्य में इस कविप्रसिद्धि का उपयोग सबसे अधिक हुआ है। मालविकाग्निमित्र के तृतीय अंक के कथानक का सम्पूर्ण सम्भार इसी कविप्रसिद्धि पर आधारित है। मालविका द्वारा पादाघात से अशोक वृक्ष को पुष्पित कर देने की क्रिया उस कथानक का केन्द्र है।[3] रघुवंश और कुमारसम्भव में भी अनेक स्थलों पर शृंगारपरक वर्णनों में इस कविप्रसिद्धि का आधार लिया गया है। इन्दुमती के वियोग में अज की दृष्टि बार-बार उस अशोक पर जाती है जिसे उनकी प्रिया ने दोहद-प्रदान द्वारा पुष्पित किया था।[४] कुमारसम्भव में वर्णन है कि शिव की समाधि भंग करने को उद्यत कामदेव के सहयोगी वसन्त के प्रभाव से अशोक स्कन्ध पर से ही पल्लवित और पुष्पित हो उठा, उसने सुन्दरियों के चरण-सम्पर्क की अपेक्षा न की।[५]

---

१ दैवायत्ते तु फले किं क्रियतामत्र तु वदामः ।
नाशोकस्य किशलयैर्वृक्षान्तर पल्लवास्तुल्याः ॥ —काव्यमी. अ. १८

२ किं ते नम्रतया किमुन्नततया किं वा घनच्छायया
किं वा पल्लवलीलया किमनया वाशोक पुष्पश्रिया
यत्वन्मूलनिपण्णखिन्नपथिकस्तोमः स्तुवन्नन्वहं
न स्वादूनि मृदूनि खादति फलान्युत्कण्ठमुत्कण्ठितः। सुभाषित. २५०।७७

३ नव किसलय रागेणाग्रपादेन बाला
स्फुरित नखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन
अकुसुमितशोकं दोहदापेक्षया वा
प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥—मालविका. ३।१२

४ कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं न तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥
स्मरतेव शब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्य दुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥—रघु. ८।६२-६३

५ असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जित नूपुरेण ॥—कुमार. ३।२६

कालिदास के उक्त वर्णनों से इतना स्पष्ट होता है कि अशोक को पुष्पित करने के लिए सुन्दरियों के नूपुरयुक्त चरणों का आघात अपेक्षित है। मल्लिनाथ ने अपनी टीका में इसका समर्थक श्लोक भी उद्धृत किया है।[१] कालिदास की एक अन्य उक्ति से यह भी परिचय मिलता है कि इस प्रसंग में स्त्री के वाम पाद का महत्व है![२] राजनिघन्टु द्वारा उल्लिखित अशोक का 'वामांघ्रिघातन' नाम इसका समर्थक जान पड़ता है[३], यदि 'वामांघ्रि' पद से श्लेष के आधार पर वामा (स्त्री) का चरण और वाम (बायाँ) चरण दोनों अर्थ लिए जाएँ तो। "उत्कीर्ण मूर्तियों में अशोक-दोहद-समुत्पादिनी यक्षिणियों के वाम पैर ही वृक्ष में अघात देने के लिए उठे हुए हैं।"[४]

कालिदास के परवर्ती संस्कृत-काव्य में भी इस कविप्रसिद्धि का प्रभूत उपयोग हुआ है। राजशेखर द्वारा काव्यमीमांसा में इसकी पुष्टि के अनेक श्लोक उद्धृत हैं।[५] कर्पूरमंजरी में तिलक और कुरबक के साथ अशोक के दोहक का भी वर्णन राजशेखर ने किया है।[६] श्री-हर्ष की रत्नावली नाटिका में भी इसका वर्णन मिलता है।[७] सुभाषितरत्नभाण्डागार में संगृहीत अशोक की अन्योक्तिपरक उक्तियों में से कई में इस कविप्रसिद्धि का आधार लिया गया है।[८]

---

[१] सनूपुर रवेण स्त्री चरणेनाभिताऽनम्।
दोहदं यदशोकस्य ततः पुष्पोदगमो भवेत्॥—कुमार. ३/२६ पर मल्लि. टी.

[२] रक्ताशोकश्चल किसलयः केशरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवी मण्डपस्य
एकः सख्यास्तव सहमया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः।—मेघ. २।१७

[३] राजनि., करबीरादि व.

[४] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका आषाढ़ १९९३, पृ. ३८०

[५-६] दे. 'वृक्षदोहद' प्र.

[७] रत्नावली १-१५

[८] (क) गर्वायसे विकच कोरक मंजुगुंजदुद्वृत्तषट्पदघटाविभवेन किं नु।
वामभ्रुवां चरणताडन दोहदानि किं नाम न स्मरसि तावदशोकतानि॥

(ख) उन्मीलयन्ति कुसुमानि मनोरमाणि के नामनात्र तरवः समयोचितानि।
कस्येदृशं कथय दोहदमस्ति तस्य यद्दृग्विनिर्मितमशोकमहीरुहस्य॥

हिन्दी-काव्य में भी शृंगारकाल से आधुनिककाल तक इस कविप्रसिद्धि की परम्परा लक्ष्य की जा सकती है। मतिराम ने शृंगार-चेष्टा के रूप में नायिका के चरणस्पर्श से नायक का उसी प्रकार हर्षित होना व्यंजित किया है, जिस प्रकार अशोक वृक्ष प्रफुल्लित होता है—

तेरो सखी सुहाग वर, जानत हैं सब लोग
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन असोक—मति. सत. ६५१

पद्माकर ने इस कविप्रसिद्धि का उपयोग वियोगिनी के दुःखातिरेक की व्यंजना के लिए किया है—

अन्योन्य हु अपकार जहँ, अन्योन्य अवलोक
तिय जु हनत ही जाहि, सो तिय को हनत असोक ॥—पद्माभरण, १६१

मैथिलीशरण गुप्त ने अशोक के इस दोहदपरक गुण को लक्ष्मण और उर्मिला के बीच मधुर विनोद का विषय बनाया है। साकेत के नवम सर्ग में विरहिणी उर्मिला उस विनोद-प्रसंग की याद करके कहती है—

आई हूँ अशोक में सशोक आज तेरे तले
आती है तुझे क्या हाय सुध उस बात की ?
प्रिय ने कहा था—'प्रिये, पहले ही फूला यह,
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की।'
देवी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर
वक्ष भर मैंने भी हँसी यों अकस्मात् की
'भूलते हो नाथ, फूल फूलते ये कैसे यदि
ननद न देतीं प्रीति पद-जलजात की।'

पंत ने इस कविप्रसिद्धि का उपयोग प्रेयसी के स्तवन में किया है। प्रेयसी के चल-पद-चुम्बन से अशोक तुरन्त मंजरित हो उठता है—

तुम्हारे चल-पद चूम निहाल,
मंजरित अरुण अशोक सकाल। —पन्त, गुंजन, मधुवन (२)

(ग) मृदूनां स्वादूनां लघुरपि फलानां न विभव—
स्तवाशोकस्तोकः स्तवकमहिमा सोऽप्यसुरभिः
यदेतन्नोतन्वीकरचरणलावण्यसुभगं
प्रवालं बालं स्यात्तरुषु स कलंकः किमपरः ॥ [सरस्वतीकुटुम्बस्य]
—सुभाषित २५०।७४-७६

तिलक

कविसमय के अनुसार स्त्रियों द्वारा ध्यानपूर्वक देखे जाने से तिलक विकसित होता है।[1]

मोनियर विलियम्स ने तिलक का लैटिन नाम Symplocos Racemosa दिया है।[2] हिन्दीशब्दसागर में तिलक को लोध कहा गया है।[3] लोध के लिए भी मोनियर विलियम्स ने Symplocos Racemosa नाम दिया है।[4] ब्रैंडिस द्वारा भी Symplocos Racemosa का हिन्दी नाम लोध दिया गया है।[5] अतः निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि लोध ही तिलक है।

ब्रैंडिस के अनुसार यह छोटे आकार का सदाबहार वृक्ष है। इसमें पीले सुगन्धित और कुछ-कुछ रोएँदार स्तवकों से युक्त फूल लगते हैं। वे लगभग आध इंच लम्बे और नलिकाकार होते हैं। नवम्बर से फरवरी तक अर्थात् शीतकाल और उसके अन्त में वे खिलते हैं। इसके वृक्ष सिंहभूमि, दून की घाटी, छोटा नागपुर, खासी पर्वतमाला, मणिपुर, और ब्रह्मदेश में होते हैं।[6]

काव्यपरम्परा में वसन्त के प्रसंग में तिलक-पुष्पों के प्रति भौंरे के विशेष अनुराग का वर्णन प्राप्त होता है। बाल्मीकि ने बसन्त में तिलकमंजरियों के प्रति भौंरे के उत्कट अनुराग का वर्णन किया है।[7] कालिदास ने अनेक स्थलों पर तिलक-पुष्प को सुन्दरियों की तिलकक्रिया के समान कह कर भौंरों द्वारा

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] मोनियर. पृ. ४४८

[3] दे. शब्दसागर. 'तिलक' शब्द.

[4] मोनियर. पृ. ९०८

[5-6] इंट्री. पृ. ४३८

[7] निक्षिप्तां पवनैनेतामसौ तिलकमंजरीम्।
षट्पदः सहसाभ्येति मदोद्धूतमिव प्रियाम्॥ —रामा. १।४।४८

उसके आक्रान्त होने का वर्णन किया है।[१] भ्रमरयुक्त तिलक-मंजरी की उपमा महाकवि ने अलकजाल पर धारण की हुई मौक्तिकमाल से दी है।[२]

सुन्दरियों द्वारा देखे जाने से तिलक के विकसित होने के उदाहरण काव्य-परम्परा में विरल नहीं हैं। अन्य वृक्षों के दोहद के साथ तिलक के उक्त दोहद का वर्णन प्रायः हुआ है।[3] मतिराम ने एक दोहे में अलग से इसके आधार पर शृंगारी व्यंजना की है। राधा (अथवा अन्य गोपिका) की चितवन से श्रीकृष्ण के तिलक वृक्ष के समान अह्लादित हो जाने का भाव उसमें निहित है—

करि चख चारु चितौनि सौं, सुमन कलित अनुकूल।
तरुन तिलोकी तिलक कौं, तरुनि तिलक तरु तूल॥ —मति. सत. ३५४

राजनिघंटु में प्राप्त तिलक का 'तरुणीकटाक्षकामी' पर्याय[४] इस कविप्रसिद्धि के आधार पर ही जान पड़ता है। उक्त निघंटुग्रंथ में तिलक का 'भाल विभूषण' नाम[५] भी दिया है। केशवदास ने पंचवटी में सुन्दरी स्त्री की कल्पना करके, तिलक पुष्प को उसका तिलक कहा है—

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुरकौ तिलकावलि रूरी।
—रामचन्द्रिका ११।२१

छायावाद—काल में पन्त ने इस कविप्रसिद्धि का आश्रय लेकर प्रेयसी का गुणोत्कर्ष इन शब्दों में व्यंजित किया है—

एक चंचल चितवन के व्याज,
तिलक को चारु छत्र-सुख-लाभ। —पन्त, गुंजन, मधुवन (२)

---

१ आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफांजनैः। —मालविका. ३।५
अलिभिरंजनबिन्दु मनोहरैः कुसुमपंक्तिनिपातिभिरंकितः
न खलु शोभयति स्म वनस्थली न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव।
—रघु. ९।४१

२ उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी।
सदृश कान्तिरलक्ष्यत मंजरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः॥
—रघु. ९।४४

3 दे. 'वृक्षदोहद' प्र. (३)

४—५ राजनि. करबीरादि व. ४३

कुरबक

कविसमय के अनुसार स्त्रियों के आलिंगन से कुरबक विकसित होता है।[1]

कोशग्रंथों और निघंटुग्रंथों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि लाल झिंटी ही कुरबक कहलाती है।[2] झिंटी के अन्य दो भेद नीले और पीले फूलों वाले भी हैं। उन्हें कुरबक नहीं कहा जाता। कुरबक का भाषानाम 'कटसरैया' और पीली झिंटी (कुरण्टक) का 'पियवासा' है।

काव्यपरम्परा में बसन्त के प्रसंग में कुरबक के लाल फूलों का उल्लेख बराबर मिलता है। बाल्मीकि ने पम्पातीर के पुष्पवृक्षों के साथ इसका उल्लेख किया है।[3] कालिदास ने ऋतुसंहार के वसन्त-प्रसंग में कुरबक-मञ्जरियों की शोभा को सुन्दरियों की मुखद्युति के समान कहा है। उनकी रागोद्दीपक शक्ति कामदेव के बाणसदृश है।[4] विक्रमोर्वशीय के वसन्त-प्रसंग में विकसित कुरबक-पुष्प के रंग का महाकवि ने सूक्ष्म विवरण देते हुए उसके अग्रभाग को स्त्री-नख के समान पाटल (अरुण) और दोनों छोरों को श्याम कहा है।[5] अन्यत्र, कुरबक-पुष्प को उन्होंने 'श्यामावदातारुण' कहा है।[6] भारवि ने

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] सहाकुमारी तरुणीरम्लानस्तु महासहा।
तत्रशोणेकुरबकस्तत्र पीते कुरण्टकः॥
सैरेयकस्तु झिंटी स्यात् तस्मिन् कुरबकोरुणे। —अमर. १।४।७३-७४
कुरण्टको झिंटी सा गन्धसहचरी तु सा पीता।
शोणी कुरबकनाम्नी कुरण्टनी शोणझिंटिका चैव॥
—राजनि. करबीरादि व. १३८

[3] शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरबकस्तथा। —रामा. ४।१।८२

[4] कान्तामुखद्युतिजुषामचिरोद्गतानां
शोभां परां कुरबकद्रुममंजरीणाम्
दृष्ट्वा प्रिये सहृदस्य भवेन्न कस्य
कंदर्पबाण पतनव्यथितं हि चेतः। ऋतु. ६।२०.

[5] अग्रे स्त्रीनख पाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः। —विक्रमो. २।७

[6] प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्। —मालविका. ३।५

वसन्तश्री में कुरबक-वृक्ष-पंक्ति में बधू का आरोप करके, उसके विकसित फूलों को बधू के (लाल) अधर कहा है।[1]

केश-अलंकरण के रूप में भी कुरबक-पुष्पों का वर्णन काव्य में हुआ है। कालिदास ने रमणियों के वसन्तकालीन सौन्दर्य के वर्णन में और जयदेव ने गोपांगनाओं के रूपवर्णन में इसका उल्लेख किया है।[2]

स्त्रियों के आलिंगन से कुरबक के विकसित होने की दोहदपरक कविप्रसिद्धि का उपयोग काव्य में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। कालिदास के काव्य, राजशेखर की रचनाएँ, पार्श्वनाथचरित, देव, पद्माकर और मतिराम की उक्तियाँ इसके प्रमाण हैं। अन्य वृक्षों के दोहद प्रसंग के साथ ही कुरबक के दोहद का वर्णन अधिक मिलता है। इस प्रकार के उद्धरण पहले प्रस्तुत किये जा चुके हैं।[3] मतिराम ने अलग से भी एक दोहे में इसके आधार पर शृंगारी व्यंजना की है। नायिका के आलिंगन से उल्लसित होने वाले नायक में ही कुरबक की उत्प्रेक्षा हुई है—

पिय के मन मनभाँवती और बात नहिं फूल।
कुच परिरंभन सों तरुनि करि कुरबक तरु तूल॥

—मति. सत. २५३

आधुनिक युग में यद्यपि कुरबक-दोहद का उल्लेख किसी कवि ने नहीं किया है, किन्तु निराला को कुरबक-पुष्प का स्मरण अवश्य रहा है। सांस्कृतिक-ह्रास-ग्रस्त भारत की स्थिति की व्यंजना का उन्होंने इसे आधार बनाया है—

निःशेष सुरभि कुरबक समान
संलग्न वृन्त पर चिन्त्य-प्राण
बीता उत्सव ज्यों, चिह्न म्लान छाया-श्लथ।

—'तुलसीदास'

---

[1] विकसित कुसुमाधरीं हसन्तीं कुरबकराजिबधूं विलोकयन्तम्।
ददृशुरिव सुरांगना निषण्णं सशरमनंगमशोकपल्लवेषु॥—किरात. १०।३२

[2] मधुसुरभिमुखाब्जं लोचनेलोध्रताम्रे
नवकुरबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः। —ऋतु. ६।३३
घनचयरुचिरे रचयति चिकुरे तरलित तरुणानने।
कुरबक कुसुमं चपलासुषमं रतिपतिमृगकानने॥ —गीतगो. ७

[3] दे. 'वृक्षदोहद' प्र. (३).

मन्दार

कविसमय के अनुसार स्त्रियों के नर्मवाक्य से मन्दार पुष्पित होता है।[१]

मोनियर विलियम्स ने मन्दार का लैटिन नाम Erythina Indica दिया है, और उसे Indian Coral Tree बताया है।[२] उनके अनुसार मन्दार धतूरे के पौधे (Calotropis Gigandea) को भी कहते हैं, किन्तु नन्दनकानन के पाँच देवतरुओं[3] में जिस मन्दार की गणना है वह भारतीय 'कोरल ट्री' ही है। ब्रेंण्डिस ने भी Erythina Indica को 'कोरल ट्री' और मन्दार कहा है।[४]

ब्रेंडिस के अनुसार मन्दार वृक्ष नातिदीर्घ आकार का और शीघ्र बढ़ने वाला होता है। कई वर्ष पुरानी होने पर इसकी शाखाएँ गिर जाती हैं। फरवरी और मार्च अर्थात् वसन्त में पत्तियाँ गिर जाने के अनंतर इसमें घने गुच्छों के रूप में गहरे लाल रंग के फूल लगते हैं। सिंहभूमि से मलय प्रायद्वीप तक के तटवर्ती प्रदेश में यह बड़े-बड़े वृक्षों के रूप में बहुतायत से होता है। अंडमन और निकोबार में भी यह पाया जाता है। भारत भर में इसकी उत्पत्ति की जाती है, और यह स्वयं भी उगता है। बंगाल में काँटेदार हँवाव, (घिराव, बारी) के लिए, तथा दक्षिण में पान मरिच और अंगूर की बेलों को सहारा देने के लिए इसका उपयोग होता है।[५]

काव्य में वर्णित मन्दार-पुष्पों के रंग और आकार का समर्थन ब्रेंडिस के उपर्युक्त उल्लेख से होता है। कालिदास ने अनेक स्थलों पर मन्दार के पुष्प-स्तवकों का वर्णन किया है। आकार की दृष्टि से अलकापुर के बाल-मन्दार को केवल इतना ऊँचा कहा गया है कि उसके झुके हुए पुष्पस्तवक हाथ से तोड़े जा

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] मोनियर. पृष्ठ ७८८

[3] पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
संतानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥—अमर. १।१।५०

[४–५] इंट्री. पृ. २२६

सकते थे ।[१] मन्दार-पुष्प के लाल रंग और बड़े आकार का संकेत अलंकार-शेखर में उद्धृत उस श्लोक से भी मिलता है जिसमें उदित होते हुए सूर्य (अरुण) को मन्दार पुष्प कहा गया है ।[२]

कालिदास ने मन्दार की लाल पुष्प-रज का भी उल्लेख किया है ।[3] केशों के अलंकार-साधन के रूप में भी मन्दार-पुष्पों का वर्णन काव्य में यत्र-तत्र मिलता है । रघुवंश में इन्द्राणी की अलकों में, और गीतगोविन्द में कृष्ण के मुकुट में, मन्दारपुष्पों के शोभित होने का वर्णन है ।[४]

सुन्दरियों के नर्मवाक्य से मन्दार के विकसित होने के उदाहरण काव्य में प्रचुर नहीं हैं । पुनरुत्थानपरक छायावादी काव्य में पन्त द्वारा इस कवि-प्रसिद्धि का उपयोग प्रेयसी के गुणोत्कर्ष की व्यंजना में हुआ है । मन्दार सुन्दरी के नर्मवाक्य का मर्मज्ञ है, अतः नर्मवाक्य पर मुग्ध होकर वह पुष्प-पूर्ण हो उठता है—

हृदय फूलों के लिए उदार,
नर्म मर्मज्ञ मुग्ध मन्दार ।—पन्त, गुंजन, मधुवन (२)

— ———

[१] तत्रागारं धनपति गृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन
तस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥—मेघ. २।१५

[२] अयमुदयपि मुद्राभंजनः पद्मनीना—
मुदयगिरिवनाली बालमन्दारपुष्पम्
विरहविधुरचक्रद्वन्द्वबन्धुर्मिलिन्द—
न्कुपित कपि कपोल क्रोडताम्रस्तमांसि ॥—अलंशे. १५

[3] असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणांगुली ॥-कुमार.५।८०

[४] क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बामन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥—रघु ६।२३
अन्तर्मोहन मौलिघूर्णमचलन्मन्दारविस्रंसनः ।—गीतगो. ९

चम्पक

कवि समय के अनुसार सुन्दरी स्त्रियों के पटु-मृदु हास से चम्पक विकसित होता है।[1]

चम्पक सामान्यतः परिचित पुष्प वृक्ष है। पुष्प के रंग के आधार पर इसके दो भेद हैं। सुनहरे फूल वाला 'कनक-चम्पा' कहलाता है, और हरिमा-युक्त फूल वाले को 'कटहरी चम्पा' कहते हैं। राजनिघंटु में दो प्रकार के चम्पक-पुष्पों का उल्लेख इसका समर्थक है।[2] चम्पा की कली को 'गन्धकली' कहा जाता है।[3]

ब्रैंडिस के अनुसार चम्पा के वृक्ष पश्चिमी घाट और भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में बहुतायत से होते हैं। सिक्किम में तीन हजार फुट की ऊँचाई तक और ब्रह्मदेश के निचले भागों में भी ये मिलते हैं। ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में इनमें फूल लगते हैं।[4]

राजशेखर ने ग्रीष्म में वर्णन किये जाने वाले पुष्पों में चम्पा की गणना की है।[5] वास्तव में, चम्पा के पुष्पों का उद्गम शिशिर में ही हो जाता है। काव्यमीमांसा के शिशिर-प्रसंग में उद्धृत एक पद में कहा गया है कि शिशिर-काल का पथिक विकच चम्पक से आँखें चुराता हुआ जा रहा है।[6]

---

१ दे. परि. १ (क), (ख)

२ स्थिरपुष्पो हेमपुष्पः पीतपुष्पस्तथाऽपरः। राजनि. करबीरादि व. ५८

३ अमर. २।४।६२, भावप्र. पुष्पवर्ग. ५।३, राजनि. करवीरादि व. ५८

४ इंट्री., पृष्ठ ८

५ विचकिलकेसरपाटलिचम्पकपुष्पानुवृत्तयो ग्रीष्मे। —काव्यमी. अ. १८

६ कुन्दे मन्दस्तमाले मुकुलिनि विकलः कातरः किंकिराते
रक्ताशोके सशोकेश्चिरमतिविकचे चम्पके कुंचिताक्षः
पान्थः खेदालसोऽपि श्रवणकटुरटच्चक्रमभ्येति धुन्वन्
सोत्कण्ठः षट्पदानां नवमधुपटली लम्पटं कर्पटेन। —वही।

काव्य-परम्परा में प्रधान रूप से वसन्त में ही चम्पा के पुष्पित होने का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि[१] और कालिदास[२] के काव्य इसके पोषक हैं।

उत्कृष्ट रूप गुण और गंध के कारण चम्पक-पुष्प काव्य-व्यंजना का महत्व-पूर्ण उपादान रहा है। कनकचम्पा का महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक है। देह के सुवर्णाभ गौर वर्ण का वह प्रसिद्ध उपमान है।[3] उसकी तीव्र मादक गंध को भौंरा सहन नहीं कर सकता। कहा जाता है कि यदि भौंरा उस पर जाता भी है तो मर जाता है।[४] यही चम्पा का एक अवगुण माना गया है।[५] मूल्यवान् पदार्थ की उपलब्धि में अयोग्य व्यक्ति के असमर्थ होने की व्यंजना इस आधार पर की जाती है।[६]

स्त्रियों के पटु-मृदु हास से चम्पा के विकसित होने के उदाहरण संस्कृत और हिन्दी काव्यों मे अधिक नहीं हैं। पन्त ने प्रेयसी की प्रशंसा में, इस कवि प्रसिद्धि के आधार पर, उत्प्रेक्षा की है कि चम्पक सुन्दरी प्रेयसी की स्मिति के प्रति कृतज्ञता के कारण ही भौंरे को अपने पुष्पों के पास नहीं आने देता—

स्वर्ण-कलियों की रुचि सुकुमार
चुरा चम्पक तुमसे मृदु-वास,
तुम्हारी शुचि स्मिति से साभार
भ्रमर को आने दे क्यों पास ?

---

[१] चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः —रामा. ४।१।७८

[२] ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यं सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः। —ऋतु. ६।३

[3] दे. परि. २, प्रसिद्ध उपमान 'देह'

[४] दे. 'कामदेव' प्र.

[५] भंवरहि मीचु नियर जब आवा।
चम्पा बास लेइ कहँ धावा॥ —पदमा. २७।१६।६

[६] चम्पा तुझमें तीन गुण रुप गन्ध औ बास।
अवगुण तुझमें एक है, भँवर न आवै पास॥

[७] भ्रमर यहाँ मत भटकना, ये खट्टे अंगूर।
लेना चम्पक-गंध तुम, उधर दूर ही दूर॥ —साकेत, सर्ग ९
रूपसौरभसमृद्धिसमेतं चम्पकं प्रति ययुर्न मिलिन्दः
कामिनस्तु जगृहुस्तदशेषा ग्राहका हि गुणिनां कति न स्युः।
—सुभाषित. २३९।६६

सहकार (आम)

कविसमय के अनुसार सुन्दरियों के मुख की वायु से सहकार विकसित होता है[१]।

वसन्त-श्री में अन्य सभी पुष्पवृक्षों की अपेक्षा सहकार तरु कवियों को अधिक प्रेरणादायक रहा है। कारण यह है कि सहकार सर्वांग सुन्दर और उपयोगी वृक्ष है। इसके पल्लवों का आकर्षक सौन्दर्य, पुष्पों (मंजरियों, बौरों) की रागोद्दीपक मादक गन्ध और फलों का मधुरास्वाद, सभी अद्वितीय हैं। इन सभी का काव्य में भूरि-भूरि वर्णन हुआ है। मांगल्य द्रव्यों में सहकार वृक्ष से प्राप्त पल्लवों, फलों और काष्ठ की गणना है।

भारतवर्ष का यह विशिष्ट वृक्ष है। उत्तरी पश्चिमी प्रान्त को छोड़ कर सारे भारतवर्ष में इसकी विभिन्न जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। हिमालय पर भूटान से कुमायूँ तक इसके जंगली पेड़ पाये गये हैं।[२]

आम में पुष्पोद्गम वसन्त से कुछ पहले ही आरम्भ हो जाता है। फागुन में इसके वृक्ष मंजरियों से लद जाते हैं, जिनकी भीनी सुगन्ध समस्त वातावरण को आप्यायित कर देती है। चैत के आरम्भ में मौर झरने लगते हैं और नन्हे-नन्हे फल दिखाई देते हैं, जिन्हें सरसई (सरसों के आकार का) कहा जाता है। कच्चे फल, बेर के बराबर हो जाने पर टिकोरे कहलाते हैं। लोकगीतों में आम के टिकोरों का प्रतीकात्मक वर्णन बहुत मिलता है। ग्रीष्म के आरम्भ से ही इसके फल पक कर सुस्वादु रस से पूर्ण होने लगते हैं।

आम की लता भी कही जाती है। कालिदास द्वारा उसका वर्णन हुआ है।[3]

---

[१] दे. परि. १ (क) (ख)

[२] शब्दसागर पृ. २५३

[3] अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता
मलय-मारुत-कम्पित-पल्लवा
अमदयत् सहकार-लता मनः
सकलिका कलिकामजितामपि। रघु. ९।३३

आदिकवि ने वसन्त के प्रसंग में कुसुमशाली आम्रवृक्ष को अंगरागयुक्त पुरुष के समान कहा है।[१] कालिदास का तो यह अत्यन्त प्रिय वृक्ष जान पड़ता है। वसन्त के रागोद्दीपक वातावरण में लाल-लाल कोंपलों और स्तवकों से झुकी हुई आम की पुष्पयुक्त सुन्दर शाखाएँ जब पवन द्वारा हिलाई जाती हैं तो उनसे अंगनाओं की उत्सुकता बढ़ती है।[२] वियोगी पथिकों को बौर से लदे आम्रवृक्ष बेचैन कर देते हैं।[३] कामदेव के पुष्पवाणों में आम्रमंजरियों का प्रधान स्थान है।[४] वियोगियों को तो वे निश्चय ही घायल करते हैं।[५]

मनुष्य के साथ ही कोकिलों[६] और भ्रमरों की मादकता भी आम्रमंजरियों के आस्वाद से अनेक गुनी बढ़ जाती है। कामदेव के धनुष की प्रत्यंचा रसमत्त भौरों की पंक्ति मानी गई है।[७] इस प्रकार आम्र कामदेव का सर्वतः सहायक है। उसके सहकार नाम की सार्थकता भी कवियों ने इसी में देखी है। पुष्पकेतु कामदेव के वसन्तकालीन विश्वविजय-अभियान में वही एक मात्र

---

[१] अभी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः सांगरागा नरा इव ॥ —रामा. ४।१।६०

[२] ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः।
कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमंगनानाम् ॥
—ऋतु. ६।१७

[३] नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं
घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः
कान्तावियोगपरिखेदित चित्रवृत्ति—
र्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान्। —ऋतु. ६।२८

[४] दे. 'कामदेव' प्र.

[५] रुचिरकनककान्तीन्मुंचतः पुष्पराशी-
न्मृदुपवनविधूतान्पुष्पिताँश्चूतवृक्षान्
अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे
मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी ॥ —ऋतु. ६।३०

[६] दे. कोकिल प्र.

[७] दे. कामदेव प्र.

सहकारी है।[1] जयदेव ने कृष्ण के प्रति निवेदन कराया है कि विरहपीड़ित राधिका प्रफुल्ल आम्रशाखाओं को देखकर कैसे जीवित रह सकती है।[2]

स्त्रियों की मुख-वायु से आम के विकसित होने का वर्णन काव्य में अधिक नहीं है। किन्तु इसका मूल खोज लेना कठिन नहीं जान पड़ता। सुन्दरी युवतियों की मुख-वायु की गन्ध की आम्रमंजरी की गन्ध से समानता का भाव इसमें प्रधान जान पड़ता है। कालिदास ने सहकार में बसे हुए वायु को मनस्विनी स्त्रियों के हृदय को भी विचलित कर देने वाला कहा है।[3]

हिन्दी के आधुनिक काव्य में छायावादी कवि पन्त ने प्रेयसी का गुणोत्कर्ष इस कविप्रसिद्धि के आधार पर व्यंजित किया है। प्रेयसी की मुखवास-तरंग का पान करके सहकार मंजरित हो उठा है—

तुम्हारी पी मुख-बास तरंग,
आज बौरे भौंरे सहकार।

—पन्त, गुंजन, मधुवन (२)

---

[1] कति पल्लविता न पुष्पिता वा
तरवः सन्ति समन्ततो वसन्ते
जगती विजये तु पुष्पकेतोः
सहकारी सहकार एक एव। सुभाषित २५१।१०६

[2] क्षणमपि विरहः पुरा न सेहे
नयननिमीलन खिन्नया यया ते
श्वसिति कलमसौ रसालशाखां
चिरविरहेण विलोक्य पुष्पिताग्रम्॥ गीत गो. ५

[3] आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां
वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः॥ ऋतु. ६।३४

नमेरु

कविप्रसिद्धि के अनुसार सुन्दरियों के गान से नमेरु-वृक्ष विकसित होता है।[१]

मोनियर विलियम्स ने नमेरु का लैटिन नाम Eleaocarpus Ganitrus दिया है।[२] ब्रैंडिस ने Eleaocarpus Ganitrus का हिन्दी नाम रुद्राक्ष कहा है।[3] शब्दकल्पद्रुम में भी नमेरु को रुद्राक्ष कहा गया है।[४] इससे नमेरु और रुद्राक्ष का एक होना सिद्ध होता है।

ब्रैंडिस ने इस वृक्ष का जो विवरण दिया है, उसके अनुसार यह साठ फुट तक लम्बा होता है, इसके फूल सफेद और गुच्छों के रूप में होते हैं। इस वृक्ष में नीलाभ बैंगनी रंग के फल भी लगते हैं। नेपाल, आसाम, चटगाँव, मलयप्रायद्वीप तथा दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में यह पाया जाता है।[५]

कालिदास के काव्यों में हिमालय पर नमेरु का वर्णन मिलता है। रघु के विजय-अभियान में थके हुए सैनिक नमेरु-वृक्षों की छाया में बैठ कर विश्राम करने लगे थे।[६] इससे नमेरु के सघनच्छाय होने का अनुमान होता है। कुमार-सम्भव में वर्णन है कि हिमालय के जिस स्थल पर शिव ध्यानस्थ बैठे थे, उसके प्रांत-भाग में नमेरु की शाखाएँ झुकी हुई थीं।[७] इससे नमेरु के

---

१ दे. वृक्षदोहद प्र., तथा परि. १ (क), (ख)

२ मोनियर, पृ. ५२८

३ इंट्री. पृ. १०२

४ शब्दकल्प. 'नमेरु' शब्द

५ इंट्री. पृष्ठ १०२

६ विशश्रमुर्नमेरुणां छायास्वाध्यास्य सैनिकाः।
दृषदो वासितोत्संगा निषण्णमृगनाभिभिः॥ —रघु. ४।७४

७ दृष्टि प्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे।
प्रान्तेषु संसक्त नमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेष॥
—कुमार ३।४३

नातिदीर्घ होने का संकेत मिलता है।[1] शिव के गण नमेरु-पुष्पों के आभूषण धारण करते थे।[2] सम्भव है, जिस प्रकार अशोक कर्णिकार और तिलक के पुष्प सुन्दरियों के आभूषण बनते थे, उसी प्रकार नमेरु के पुष्प पुरुषों के आभूषण बनते हों।

काव्य में नमेरु का अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता। स्त्रियों के गीत से इसके विकसित होने का उदाहरण लेखक को कहीं नहीं मिला।

---

[1] शब्दकल्प. में 'नमेरु' की व्युत्पत्ति 'नम्यते इति। नम + वाहुलकात् रुरुः' दी है।

[2] गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥

—कुमार. १।५५

कर्णिकार

कविसमय के अनुसार सुन्दरियों द्वारा सम्मुख नाचे जाने से कर्णिकार विकसित होता है।[१]

राजनिघंटु में आरग्वध को कर्णिकार कहा गया है।[२] मोनियर विलियम्स ने कर्णिकार और आरग्वध दोनों के लिए लैटिन नाम क्रमशः Cathartocarpus Fistula और Cathartocarpus (Cassia) Fistula दिए हैं।[3] ब्रेंडिस ने Cassia Fistula को अमलतास कहा है। हिन्दी-शब्दसागर में भी कर्णिकार को अमलतास कहा गया है।[४] अतः कर्णिकार अमलतास ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी राजनिघंटु और वनौषधि-दर्पण के प्रमाणों के आधार पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कर्णिकार छोटा अमलतास (क्षुद्र आरग्वध) है। उन्होंने बताया है कि बंगाल में यह 'सोनालु गाछ' या 'सुनहला वृक्ष' कहलाता है।[५] सामान्य अमलतास और कर्णिकार में यष्टि-भाग की दीर्घता के आनुपातिक अन्तर के साथ ही, यह भी भेद है कि अमलतास बैसाख जेठ में फूलता है, और कर्णिकार कुछ पहले ही फूल जाता है। वाल्मीकि रामायण,[६] ऋतुसंहार[७] और काव्यमीमांसा[८] में वसन्त में कर्णिकार के पुष्पित होने का वर्णन है।

---

[१] दे. परि. १ (क) (ख)

[२] राजनि., प्रभद्रादि व. ४६

[3] मोनियर. पृ. १३९ और २५३

[४] शब्दसागर १, 'कर्णिकार' शब्द

[५] विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३८०

[६] सौमित्र पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुषु ।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं परम शोभनम् ॥—रामा. ४।१।७३

[७] किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं
किं कर्णिकार कुसुमैर्न कृतं नु दग्धम्
यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभि-
र्यूनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति । ऋतु. ६।२२
समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः
कुसुमित सहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः

कर्णिकार के पुष्प सन के पुष्पों के समान पीले रंग के होते हैं। काव्य में उनके सुनहरे रंग का भूरि-भूरि वर्णन हुआ है।[१] फूलों के रूप से ही यह मादक होता है, अन्यथा इसमें सुगंध का अभाव रहता है। इसके गुणों के इस अन्तर्विरोध को कवियों की वृत्ति ने भिन्न-भिन्न प्रकार से लक्ष्य किया है। कालिदास ने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की पराङमुखी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करने का इसे आधार बनाया है, फिर भी इसका वर्णप्रकर्ष उन्हें रोचक है।[२] भावदेव सूरि को उज्ज्वलवर्ण होने पर भी कर्णिकार, गन्धाभाव के कारण, शोभित होता नहीं दिखाई दिया।[3]

ब्रैंडिस ने कर्णिकार का विवरण कैसिया (Cassia) जाति के अन्तर्गत दिया है।[४] इस आधार पर यह अशोक का समवर्गी है। अशोक और कर्णिकार का उल्लेख काव्य में प्रायः साथ-साथ मिलता है।[५] अलकों और श्रवणों के अलंकरण में दोनों के पुष्प समान रूप से प्रयुक्त होते थे।[६]

इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां
तुदति कुसुममासो मन्मथोद्दीपनाय।—ऋतु. ६।२९

८ अयं प्रसूनोद्धत कर्णिकारः पुष्पप्रपंचांचित कांचनारः।
विजृम्भणा कोविदकोविदारः कालो विकासोद्यत सिन्दुवारः॥
—काव्यमी. अ. १८। (वसन्त-प्रसंग)

१ सुपुष्पितांस्तु पश्यैतान् कर्णिकारान् समन्ततः।
हाटक प्रति संछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव॥—रामा. ४।१।२१
अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्ट हेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥—कुमार. ३।५३

२ वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्य विधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥
—कुमार ३।२८

3 वर्णोज्ज्वलेऽगन्धत्वात् कर्णिकारे न रेमिरे।
भृंगारुपेण किं छेका रंज्यते ह्यन्तरै गुणैः॥—पार्श्व. ६।८००

४ इंट्री. पृ. २५३

५ उ. कर्णिकारैरशोकैश्च केशरैरतिमुक्तकैः। —भारत १।१२५।२

६ कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम्। ऋतु. ६।६

ब्रैंडिस के अनुसार भारतवर्ष और ब्रह्मदेश के अधिकांश भागों में यह वृक्ष पतझड़ के जंगलों (decideous forests) में होता है। सिन्धु के परे पेशावर के पास की पहाड़ियों पर भी यह पाया जाता है। हिमालय के बाहरी भागों में चार हज़ार फुट की ऊँचाई तक यह देखा गया है। नितान्त पल्लवहीन यह कभी नहीं होता। इसमें पुष्पोद्गम अप्रैल और मई के महीनों अर्थात् वसन्त में होता है। इसके पके हुए फल की गुद्दी तीव्र रेचक होती है।[१] इसके फूलों का भी औषधिक उपयोग इसी प्रकार का है। इसके फूलों का गुलकंद गुलाब के गुलकंद से अधिक रेचक माना जाता है।[२]

स्त्रियों के नृत्य से कर्णिकार के विकसित होने का वर्णन काव्य में प्रचुर नहीं है। संस्कृत के प्रमुख काव्य-ग्रंथों में इसका कोई उदारहण प्राप्त न हो सका। हिन्दी-कवियों ने कर्णिकार का उल्लेख कम किया है। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त का ध्यान इस ओर गया, किन्तु उन्होंने इसके गन्धाभाव को ही व्यंजना का आधार बनाया। साकेत के नवम सर्ग में उन्होंने उर्मिला से कहलाया है कि यद्यपि कर्णिकार अपनी जननी पृथ्वी के गन्धगुण का सहज ही भागी था, किन्तु उसने कदाचित् गुण-वैभिन्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए उसका त्याग कर दिया। स्पष्ट ही, कैकेयी के स्वभाव से भिन्न भरत के शीलाचार की व्यंजना इसमें निहित है।

सहज मातृ-गुण गन्ध था कर्णिकार का भाग।
विगुण रूप-दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग॥

छायावाद-काल में पन्त ने प्रेयसी का गुणगान इस कविप्रसिद्धि के आधार पर किया है। नृत्यनिरत सुन्दरी प्रेयसी का पद-संचार देखकर कर्णिकार विकसित होकर अपने स्वर्ण-पुष्पों को लुटाने लगता है—

देख चंचल मृदु पटु पद-चार,
लुटाता स्वर्ण राशि कनियार। —पन्त, गुंजन, मधुवन (२)

---

[१] इंट्री. पृ. २५३

[२] शब्दसागर. पृ. १४३

पक्षि-वर्ग

हंस

इस पक्षी के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]

(१) हंस वर्षाकाल में मानसरोवर को चले जाते हैं।

(२) ये जलाशय-मात्र में होते हैं।

(३) इस पक्षी में नीर को क्षीर से पृथक् कर देने की क्षमता है।

(४) यह पक्षी केवल मोती चुगता है।

भारतीय संस्कृति और साहित्य में आदिम काल से हंस का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उत्कृष्ठ सुरुचि और शुचिता से सम्पन्न होने के साथ ही हंस आध्यात्मिक प्रतीक भी है। दर्शन में इसे आत्मा का प्रतीक माना गया है और परम आध्यात्मिक तत्व को भी 'हंस' की संज्ञा दी गई है। जीवन्मुक्त वीतराग पुरुष की पदवी 'परमहंस' कही जाती है। आर्यों के आदिदेव सूर्य का एक नाम 'हंस' है। पुराणों में विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा दोनों का वाहन यही पक्षी प्रसिद्ध है। प्राचीन आख्यानों में प्रणय के सन्देशवाहक के रूप में इसकी ख्याति है।[2] सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का करुणाभाजन होने का श्रेय भी इसे प्राप्त हुआ था। रघुवंश के अनेक स्थलों पर राजसी वस्त्रों के प्रसंग में हंस की छाप छपे दुपट्टों का वर्णन है।

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] उदाहरणार्थ, महाभारत के नलोपाख्यान में मनुष्य की वाणी में बोलने वाले स्वर्णहंस का समावेश है—

स ददर्श ततो हंसान् जातरूपपरिष्कृतान्
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम्
ततोन्तरिक्षगोवाचं व्याजहार नलं तदा
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम्—भारत ३।५३।१९-२०
दमयंती तु तं हंसं समुपाधावदन्तिके
स मानुषीं गिरां कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् —भारत ३।५३।२६

पृथ्वीराजरासो में शशिव्रता और पृथ्वीराज के प्रसंग में भी सन्देशवाहन का कार्य हंस द्वारा ही हुआ है।

ऋग्वेद[१] तक इस पक्षी की प्राचीनता व्याप्त है। श्यावाश्व सूत्र के आठवें मंत्र में इसका उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद[२] और अथर्ववेद[3] में भी इसका उल्लेख है।

हंस पक्षी के विषय में निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसका अस्तित्व वास्तविक है, अथवा केवल काल्पनिक।[४] कुँवर सुरेशसिंह के मत से कश्मीर के इधर के प्रदेश में हंस काल्पनिक पक्षी ही है, क्योंकि असली हंस कश्मीर के इधर आते ही नहीं।[५]

हंस की अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है। अमरकोश और राजनिघंटु में सफेद शरीर और लाल रंग की चोंच और पैर वाले राजहंस कहे गये हैं, धूसर (मलिन) रंग वालों को मल्लिकाक्ष तथा उनमें अपेक्षाकृत धवल रंग वालों को धार्तराष्ट्र कहा गया है।[६] कुंवर सुरेशसिंह ने फ्लैमिंगो (Flamingo) को राजहंस या हंसारव माना है। उनके अनुसार कलहंस 'बार हेडेड् गूस् (Bar headed goose)' है, और बत'ग्रे लैग गूस् (Grey lag goose)' उसी की एक जाति है।[७] Flamingo (Phoenicopterus ruber) लम्बी चौंच और टाँगों वाली बतख की जाति है। खड़े होने पर इसकी

---

[१] दे. ऋक्. ८।३५

[२] दे. यजु: २४।२२

[3] दे. अथर्व. ८।७।७४

[४] हंस—Sometime a mere poetic or mythical bird

—मोनियर. पृ. १२८६

[५] दे. श्री महारावल-रजतजयंती-अभिनन्दन-ग्रंथ, 'प्राचीन कवि और चिड़ियाँ' शीर्षक लेख।

[६] राजहंसास्तु ते चंचुश्चरणैर्लोहितैः सिताः।
मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते धार्तराष्ट्राः सितेतरैः ॥ —अमर. २।५।२४
एतेषु चंचुचरणेष्वरणेषु राज—
हंसोऽपि धूसरतरेषु च मल्लिकाक्षः
कालेषु तेषु धवलः किल धार्तराष्ट्रः
सोऽप्येष धूसरतनुस्तु भवेदभव्यः। —राजनि. सिंहादि व. १३५

[७] हमारी चिड़ियाँ पृ. १११ और पृ. ११७

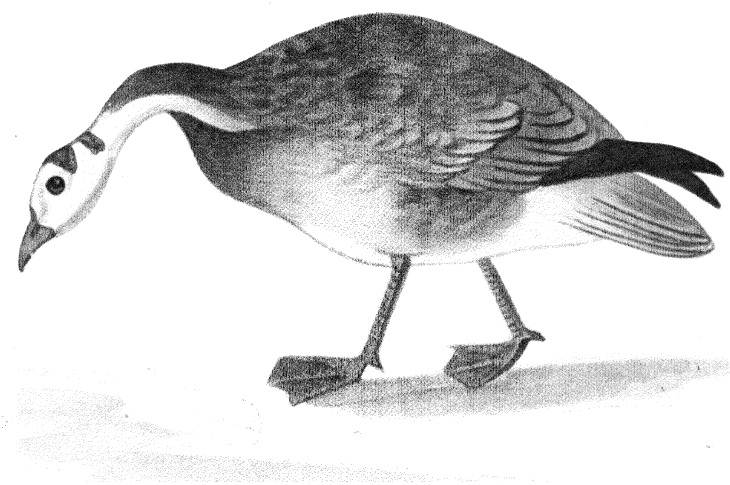

कलहंस

लम्बाई सिर तक लगभग चार फुट होती है। रंग इसका सारस (क्रौंच) के समान पीताभ गुलाबी होता है। टाँगें फ़ालसई लाल होती हैं। फ़ालसई रंग की भारी लम्बी चोंच लगभग बीच से मुड़ी होती है। नर और मादा के रूप-रंग में कोई अन्तर नहीं होता।[१] बार हेडेड् गूस (Bar headed goose) एन्सर इंडिकस (Anser indicus) का रंग धूमिल और भूरापन लिये सफेद होता है। सिर और गर्दन के पार्श्वभाग सफेद होते हैं। गर्दन के पिछले भाग पर दो चौड़ी काली धारियाँ रहती हैं। Gray lag (anser anser) में केवल इतनी विशेषता होती है कि उसके पंख का पिछला भाग धूसर होता है, नाखून सफ़ेद और चोंच मांसल-गुलाबी रंग की होती है।[२] कादम्ब और कारण्डव भी हंस की जातियाँ हैं। सुश्रुत के अनुसार अति धूसर रंग के कलहंस कादम्ब होते हैं, और कारण्डव एक जाति के शुक्ल हंस हैं।[3]

(१) वर्षा काल में मानसरोवर को प्रस्थान

हंस के अनेक पर्याय जैसे, मानसालय, मानसौकस, मानसचारिन् आदि, मानसरोवर से इसका सम्बन्ध सूचित करते हैं। मानसरोवर की अवर स्थिति हिमालय के उस पार है। विशालता, स्वच्छता और सौन्दर्य की दृष्टि से यह संसार के सरोवरों में अद्वितीय है। भारत के लिए इसका बड़ा आध्यात्मिक महत्व रहा है। इसका एक नाम 'ब्रह्मसर' भी है। शिव का निवास कैलास-शिखर इस के उत्तर में स्थित है। इसी कारण कैलास के साथ इसका नाम प्रायः सम्बद्ध रहता है। भारत की पवित्र नदी गंगा का उद्गम इसी सरोवर से माना गया है। इसका मूलनाम 'मानस-सरोवर' है। रामचरितमानस के बालकांड में रामचरित का सांग रूपक इसी के आधार पर खड़ा किया गया है। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा मनसा निर्मित होने पर इसका नाम मानससरोवर पड़ा।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने कैलास-मानसरोवर की अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि यद्यपि अंग्रेज पर्यटकों ने मानसरोवर की परिधि पैंतालीस मील बताई है, किन्तु वह सत्तर मील है। इस झील के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"चारों ओर उच्च पर्वत शृंखलाओं से घिरे

---

[१] Salim Ali : The Book of Indian Birds p. 403

[२] वही, पृ. ४०८

[3] सुश्रुत, सूत्रस्थान ४६।१०५, टीका।

होने के कारण, नीले पर्वतों और हिममंडित शिखरों के प्रतिबिम्ब से इस झील के नील स्वच्छ जल का सौन्दर्य और भी नयनाभिराम हो जाता है। जल के तल पर झुंड के झुंड बिल्कुल श्वेत राजहंस क्रीड़ा करते हुए दिखाई देते हैं, जो कि मनुष्यों की तरह बातें करते हैं।—"[१] स्वामी प्रणवानंद ने भी प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर मानसरोवर में हंस और उसकी जाति के पक्षियों का वर्णन इस प्रकार किया है—'सरोवर में तीन प्रकार के पक्षी पाये जाते हैं, जिनमें से एक श्वेत और भूरे रंग का होता है, जिसे तिब्बती भाषामें 'ङ ङ बा' कहते हैं। यही हंस है। इसके पैर और चोंच लाल रंग के होते हैं। तिब्बतियों का कहना है कि यह मछली, सीप और घोंघों को नहीं खाता, प्रत्युत् घास सिवार आदि ही खाकर रह जाता है। यहाँ के निवासी इसे पवित्र मानकर खाने के लिए नहीं मारते। यह मानसरोवर की अपेक्षा राक्षस-सरोवर में अधिक पाया जाता है। लताची के ऊपर के हंस शीतकाल' में, जब कि राक्षसताल जमा रहता है, घास और सिवार खाने के लिए सतलज के किनारे चले आते हैं। दूसरी जाति का 'ङ रू सिरचुङ' नामक पक्षी बादामी रंग की बत्तख जैसा होता है। तीसरी जाति वाला '—चरमटा—' कहलाता है। सिर पूंछ और पंखों को छोड़कर, इसका सारा शरीर श्वेत रंग का होता है। इन दोनों जातियों के पक्षी विशेषतः मछलियों और घोंघों को खाते हैं। ये कुछ अंशों में बत्तख और कुछ अंशों में बगुले के समान होते हैं। ···भारत के बड़े नगरों की कई जंतुशालाओं में श्वेत रंग के और आस्ट्रेलिया में काले रंग के होने के कारण, हंस केवल काल्पनिक पक्षी नहीं कहा जा सकता।[२]"

उपर्युक्त पर्यटकों के कथनों से निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मानसरोवर पर हंस जाति के पक्षी वस्तुतः होते हैं। शीतकाल में उत्तरी पर्वतीय प्रदेश के अत्यधिक शीतल हो जाने पर, वहाँ के पक्षी हिमालय को लाँघ कर कुछ दक्षिण की ओर आ जाते हैं, और सरोवरों पर कुछ समय तक रहकर, पुनः अपने स्थान को लौट जाते हैं। ह्विसलर का कहना है कि 'उत्तर और मध्य-एशिया में जब कड़ाके की सर्दी पड़ने लगती है, तो हंस जाति के अनेक पक्षी दल बाँध कर दक्षिण की ओर अक्लान्त भाव से दिवा-रात्रि उड़ते हुए हिमालय पर्वत को लाँघते हैं। ये प्रजनन और आहार की सुविधाओं के लिए जुलाई के आरम्भ

---

[१] स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : मेरी कैलासयात्रा, पृ. १०६-७

[२] स्वामी प्रणवानन्द : कैलास-मानसरोवर, पृ. ७८-७९

में ही हिमालय लाँघना शुरू कर देते हैं। सितम्बर के महीने में इन प्रव्राजकों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। हिमालय पार करते समय, ये पूर्वी और पश्चिमी दोनो सिरों से इसे पार करते हैं।[१] कई जातियों के हंस तिब्बत की लदाक झील में कैलास के पार अवस्थित मानसरोवर में अंडे देते हैं।"[२] 'हिमालय के अनेक स्थानों और मानसरोवर में भी पक्षितत्वज्ञों ने राजहंसों तथा अन्यान्य हंसों को वर्षाकाल में अवस्थान करते देखा है।'[३]

हंसों के मानसरोवर जाने का मार्ग क्रौंचरन्ध्र है। मेघदूत (१।६१)[४] के वर्णन से इसकी पुष्टि होती है। पुराणों के अनुसार परशुराम ने अपने बाण से क्रौंच पर्वत का भेदन किया था, इसी कारण कालिदास ने इसे 'भृगुपतियशोवर्त्म' कहा है। विक्रमाङ्कदेव-चरित (१८।३५) और रामायण (२।४४) में भी इसका उल्लेख है। वेदधरातलकार श्री गिरीशचंद्र अवस्थी की धारणा है कि इसकी स्थिति कनखल (हरिद्वार) के समीप से कैलास जाने के मार्ग में है। श्री अवस्थी ने अनेक आधारों पर कनिंघन के इस मत का खण्डन किया है कि क्रौंचरन्ध्र कैलास का वह भाग है, जिसमें मानसरोवर स्थित है।[५] श्री केदारनाथ शर्मा ने अपनी खोज के आधार पर बताया है कि 'यह कैलास के मार्ग में आनेवाला प्रसिद्ध नीति-दर्रा है, जो भारत को तिब्बत से मिलाता है।'[६]

कालिदास ने वर्षाकाल में हंसों के मानसरोवर-प्रस्थान का वर्णन किया है।[७] अलकापुरी के उद्यान की वापी में निवास करने वाले हंस, वर्षाकालीन

---

१ A Populai Hand bock of Indian Birds (1928) **P. XXI**, पं० ह. प्र. द्विवेदी द्वारा उद्धृत–विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३ पृ.४११

२ वही, पृ. ४१२

३ वही, पृ. ४१२

४ प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य ताँस्तान्विशेषा-
न्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौंचरन्ध्रम् ॥

५ वेद-धरातल पृ. २५१

६ काव्यमीमांसा, पृ. २९९, पं० केदारनाथ सारस्वत की टिप्पणी।

७ कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।—मेघ. १।११

मेघों को देखकर भी मानसरोवर के लिए उत्कंठित नहीं हुए, यद्यपि मानसरोवर वहाँ से निकट ही था।[१] कालिदास के वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि केवल राजहंसों का सम्बन्ध ही मानसरोवर से है, हंस की अन्य जातियों का नहीं। राजहंस के लिए उन्होंने 'प्रियमानस' शब्द का प्रयोग किया है, यद्यपि कादम्ब का उल्लेख भी उसके साथ है।[२] बृहन्निघंटुरत्नाकर में वर्षा-ऋतु-वर्णन के एक श्लोक[3] में हंसों के मानसरोवर प्रस्थान का वर्णन है। उससे स्पष्ट है कि वर्षा में जलाशयों का जल मलिन हो जाने तथा कमलों के म्लान हो जाने का कारण भी हंसों को प्रस्थान के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि हंसों की स्वच्छ जल में ही रहने की रुचि है, तथा कमलतन्तु उनका प्रधान खाद्य है। हंसों की उत्कृष्ट सुरुचि के विषय में कवियों ने यहाँ तक कल्पना की है कि कमल लताओं से युक्त पूर्ण पवित्र देवनदी गंगा का जल भी यदि कलुषित हो जाए, तो वे उसे भी त्याग कर चले जाते हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी स्मृति से इसी भाव का एक संस्कृत उद्धरण दिया है।[४]

हिन्दी-कवियों ने जहाँ हंस को उसके समान अन्य पक्षियों से (जिन्हें सामान्यतः हंस की जाति में मान लिया जाता है) अलग करके देखा है, वहाँ उसे पूर्णतया मानसरोवर पर निवास करने वाला ही माना है। तुलसीदास ने दुष्टों की अपेक्षा सज्जनों की विरलता की व्यंजना इस आधार पर की है[४]

जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल।—दोहावली ४९४

---

१ वापी चास्मिन्मरकत-शिला-बद्ध-सोपान-मार्गा
हेमैच्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
तस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥ —मेघ २।१६

२ क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्ब संसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥—रघु- १३।५५

3 केकी कूजित कानने च सरसी म्लानाम्बुपूर्णा तथा।
हंसामानसमाव्रजन्ति कमलानिम्लानतांयान्ति च॥ —बृहन्नि. पृ. ५०७

४ क्रुद्धोलूक नखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं
ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषस्तेकेचिदन्ये द्विजाः।
ये तु स्वर्गतरंगिणीविसलतालेशेन संवर्द्धिता
गांगं नीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम्॥

अन्य कवियों ने भी हंस की इस वृत्ति द्वारा उत्कृष्ट पदार्थ की विरलता व्यंजित की है—

सर सर हंस न होत बाजि गजराज न दर दर। —नरहरि
सरवर के खग एक से, बाढ़त प्रीत न धीम।
पै मराल को मानसर एकै ठौर रहीम॥ —रहीम

तुलसीदास की धारणा है कि हंस की शुद्ध और उदात्त वृत्ति का कारण मानसरोवर ही है, क्योंकि रामचरितरूप मानस में स्नान करने पर बक जैसी दुष्ट बुद्धि वाले खल भी हंस जैसी सज्जनोचित परिष्कृत वृत्ति से सम्पन्न हो जाते हैं—

मज्जन फल पेखिअ ततकाला।
काक होहिं पिक, बकउ मराला॥ —मानस १।३

वर्षाकाल में हंस के अदृश्य हो जाने की प्रसिद्धि का आधार लेकर मतिराम ने सपत्नी के विषाद की मार्मिक व्यंजना की है। हास के शुक्ल वर्ण[१] की व्यंजना भी, हंस के शुक्ल वर्ण के साथ उसकी समानता द्वारा, निम्नलिखित पद्यों में हुई है—

बाल लाल मुख सौति को सुन्यौ नाम परकास।
बरषे बादल सेन पर, उड़्यो हंस सम हास॥—मति. सत. ५४७
दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
गोरी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह से हँसि, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥ –रसराज ३९०

हंस और मानस के सम्बन्ध की धारणा आधुनिक युग तक चली आई है। वास्तव में, मानस (—मन, मानसरोवर) और हंस (—पक्षी विशेष, आत्मा) के श्लेषार्थ द्वारा इस धारणा पर आधृत व्यंजना अधिक सारगर्भित हो जाती है। तुलसीदास के समान गुप्त जी ने भी इन दोनों के श्लेष-जनित अर्थ का उपयोग किया है। साकेत के आरम्भिक मंगलाचरण में सरस्वती का आवाहन मानस-हंस पर किया गया है—

अयि दयामयि देवि सुखदे शारदे
इधर भी निज वरद पाणि पसार दे
....
बैठा आ मानस-मराल सनाथ हो। —साकेत, सर्ग १

---

[१] दे. वर्ण व. शुक्ल प्र.

और नवम सर्ग में उर्मिला की उक्ति 'मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी' का कवि के मन में उद्भूत पहला रूप था 'मेरे मानस के हंस आज वनचारी', किन्तु उसके ब्रह्म ने किसी अज्ञात कारणवश इसे स्वीकार नहीं किया।[१] कदाचित् ब्रह्मरूप हंस को मानस छोड़कर वनचारी होने की बात प्रिय नहीं जान पड़ी।

(२) जलाशय मात्र में हंसादि पक्षियों का होना

नदियों और जलाशयों आदि के वर्णन में हंसादि पक्षियों का उल्लेख काव्य-परम्परा में होता रहा है। प्रत्येक जलाशय पर ये पक्षी नहीं देखे जाते। सामान्यतः अधिक जलवाले विशाल जलाशयों पर, और वह भी अनुकूल ऋतु वाले प्रदेशों में, ये पक्षी रहते हैं।

सौन्दर्य के पूर्णतर रूप की भावना ही इस कविप्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है। अलंकार-शास्त्रियों ने सरिताओं और सरोवरों के वर्णन-विधान में हंस तथा अन्य जल-पक्षियों के वर्णन का निर्देश किया है।[२] पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी के मत से हंसों का वर्णन सर्वत्र जलाशयों में इस कारण होता है कि हंस-मिथुन यक्ष और यक्षियों के प्रतीक हैं जो जल और वृक्षों के तथा रस और उर्वरता के देवता हैं।[3]

रामायण में राम के वन-मार्ग में पड़ने वाली स्यन्दिका नाम की साधारण सी नदी को आदिकवि ने मयूर, हंसादि से युक्त कहा है।[४] कालिदास ने रघुवंश के अनेक स्थलों पर इस कविप्रसिद्धि का पोषण किया है। राजा दशरथ की सम्पन्नता का बोध कराने के लिए उन्होंने राज्य के तालों को भौंरों और हंसों से युक्त बताया है।[५] सरयू के तट पर बैठे उजले हंसों की पाँतें

---

१ साकेत, भूमिका

२ अलंकारशेखर, मरीची १६

3 विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३७६

४ गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्॥ —रामा. २।४९।१२

५ नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकाराफलं श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः॥ —रघु. ९।२

सुन्दरियों के नितम्बों पर करधनी का बोध कराती थीं।[1] काव्यमीमांसा के दो श्लोकों[2] द्वारा भी इस कविप्रसिद्धि का समर्थन होता है।

हंस से युक्त होना जलाशय का गौरव है। यद्यपि बगुला भी हंस के से रंग का होता है, किन्तु जलाशय का गौरव उससे सम्भव नहीं। जायसी ने हीरामन तोते के मुख से इस भाव की अभिव्यक्ति द्वारा पद्मावती के रूपोत्कर्ष की व्यंजना की है—

सुमिरि रूप पदमावती केरा। हँसा सुआ रानी मुख हेरा।
जेहि सरवर महँ हंस न आवा। बगुला तेहि सर हंस कहावा॥

—पदमा० २।१–२

जलाशयमात्र पर हंस की स्थिति जायसी को, फिर भी, मान्य है। विरहिणी नागमती की सखियाँ उसे ढारस बँधाती हुई कहती हैं—

दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर सोई हंसा।

—पदमा० ३०।३।७

(३) नीर-क्षीर-विवेक

वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा आजतक किसी ऐसे पक्षी का पता नहीं लगा है जो दूध अथवा दूध और जल के मिश्रण में से शुद्ध-दुग्ध-अंश को ग्रहण करके जल-अंश लो छोड़ दे। जब हंस का मूल निवास-स्थान मानसरोवर है तो यह भी कैसे सम्भव है कि वहाँ के हंसों को जल-मिश्रित दुग्ध मिलता रहे और इस प्रकार उनका पोषण हो।

मृणालतन्तु हंसों का प्रिय भोजन है। कालिदास का वर्णन इस बात का परिचायक है कि वर्षा आरम्भ होने पर जब हंस मानसरोवर को लौटते हैं तो

---

[1] सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम्।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत्॥ –रघु. १९।४०

[2] आसीदस्ति भविष्यतीह स जनो धन्यो धनी धार्मिकः
यः श्री केशववत्करिष्यति पुनः श्रीमत्कुडुंगेश्वरः
हेलान्दोलित हंस सारसकुलक्रेंकार सम्मूर्छितै–
रित्याघोषयतीव तन्नवनदी यच्चेष्टितं वारिभिः॥ —काव्यमी.अ. १४
सखंजरीटा सपयः प्रसादा सा कस्यनोमानसमाच्छिनत्ति।
कादम्बकारण्डवचक्रवाक ससारसक्रौंचकुलानुयाता॥ —काव्यमी.अ.१८

पाथेय रूप में अपनी चोंचों में मृणालतन्तुओं को ले जाते हैं।[१] यों, मानसरोवर में कमल की स्थिति नहीं देखी गई है। स्वामी प्रणवानंद ने अपने निरीक्षण के आधार पर लिखा है कि "मानसरोवर में कहीं-कहीं २०–३० फ़िट के भीतर जहाँ गहराई कम है, जल के ऊपर एक प्रकार की लता होती है। उस पर १।४ इंच के व्यास के पीले रंग के बहुत से फूल होते हैं। परन्तु नीलकमल या और किसी प्रकार का फ़ूल वहाँ कहीं नहीं दिखाई देता।···वहाँ के श्वेत और भूरे रंग के हंसों का भोजन मछली, सीप और घोंघे आदि नहीं, प्रत्युत् घास सिवार आदि है।"[२] जो हो, जल से पृथक् करके ही हंस अपना भोजन ग्रहण करते हैं।

इस विषय में पक्षि-शास्त्रियों का पर्यवेक्षण बताता है कि फ्लैमिंगो (राजहंस) अपना भोजन प्राप्त करने के लिए उथले जल में अपने सिर को डुबा देता है। उसकी चोंच की विशेष प्रकार की बनावट कींचड़ में से भोज्य पदार्थ प्राप्त करने में सहायक होती है। मुड़ी हुई चोंच के द्वारा वह ज़मीन को खुरचता है। उसका ऊपरी जबड़ा करछे के आकार का हो जाता है, और उसमें पानी के साथ कीचड़ भर जाता है। जबड़े में कंघीनुमा झालर होती है, उसके द्वारा चिपचिपा कीचड़ निचुड़ कर छन जाता है तथा भोजन के कण रह जाते हैं।[3]

जल और कीचड़ में से इस प्रकार सार-अंश के रूप में भोजन के कण प्राप्त करने की हंस की वृत्ति ही, इस कविप्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है। दूध का अर्थ लक्षणा द्वारा सार-अंश करना होगा, अर्थात् भोजन के सार अंश में दुग्धत्व की उत्प्रेक्षा की गई प्रतीत होती है।

प्रधानतः इस सारग्राहिणी वृत्ति ने ही हंस को, अन्य पक्षियों से श्रेष्ठतर तथा महत्वशाली बनाया है, रूप-रंग आदि की दृष्टि से तो उसमें कोई विशेषता होती नहीं—

हंसः श्वेतो वकः श्वेतो को भेदो वकहंसयोः।
नीरक्षीर-विभागे तु हंसो हंसो वको वकः॥

—सुभाषित. २३१।६

---

[१] आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः।
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥ —रघु.. १।११

[२] कैलास—मानसरोवर, पृ. ७८–७९

[3] Salim Ali: The Book of Indian Birds, P. 403

तुलसीदास ने इसी कारण हंस को संत का उपमान माना है कि दोनों की वृत्तियों में समान रूप से सारग्राहिता है। संत गुण को ग्रहण करके विकार का त्याग कर देते हैं, हंस दूध लेकर जल छोड़ देता है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

—दोहा. ३६९

विवेकशील बुद्धि और वाणी का प्रतीकत्व भी हंस की इस वृत्ति द्वारा सहज सम्भव है। चित्रकूट में भरत की वाणी की प्रशंसा में यह लक्ष्य है—

भरत वचन सुनि सबहिं प्रसंसी। खीर नीर बिबरन गति हंसी।

सत्य और झूँठ के पृथक्-पृथक् दर्शन का बोध भी इस कविप्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है। घनआनंद ने हंस के नीर-क्षीर-विवेक की दुहाई इसी उद्देश्य से दी है—

साँचो झूठ देखियै, सुपेखनै लौं पेखियै हो,
सोई लखि लैहै जाहि पूरी पहिचानि है।
वही घनआनँद ह्वै पोखत सुजाननि कौं
नीर ब्यौरि छीर पीबो हंसनि की बानि है।

—घनग्रं. सुजान. ४१७

उपर्युक्त भाव के समान ही निष्पक्ष न्यायवृत्ति का प्रतीकत्व भी हंस में माना गया है। 'दूध का दूध और पानी का पानी कर देना' इस लोकोक्ति में हंस के चातुर्य की अव्यक्त ध्वनि है। वृन्द ने राजहंस के अतिरिक्त अन्य किसी को इस श्रेय का अधिकारी नहीं समझा है—

राजहंस बिन को करै, नीर छीर को दोय।

अधिकतर तो हंस की यह वृत्ति उत्कृष्ट रुचि और गुण की व्यंजना के आधार-रूप में ही प्रयुक्त हुई है, किन्तु रहीम ने सवतिया डाह जैसी हीन वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए इसे अपनाया है—

प्रिय सन अस मन मिलयउँ जस पय पानि।
हंसनि भई सवतिया लै बिलगानि॥

(४) केवल मोती चुगना

हंस की मोती चुगने की वृत्ति को अलंकारशास्त्रियों ने कविसमय के रूप में ग्रहण नहीं किया है। संस्कृत काव्य में भी कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु हिन्दी-कवियों के बीच इसके वर्णन की दीर्घ परम्परा रही है। कबीरदास से लेकर जयशंकरप्रसाद तक के काव्यों में इसका प्रयोग दिखाई देता है।

इस विषय में यह उक्ति सामान्यतः प्रसिद्ध है—"कै हंसा मोती चुगै, कै लंघन मरि जायँ—।" पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने हंस के नीर-क्षीर-विवेक पर विचार करते हुए हंस की मोती चुगने की वृत्ति का भी विचार किया है। उनका मत इस प्रकार है—"कोई-कोई कवि-जन कहते हैं कि हंस मोती चुगते हैं। पर मोती भी मानसरोवर में नहीं पैदा होते। यदि उनमें मोतियों का पैदा होना मान भी लिया जाय तो हिन्दुस्तान के तालाबों में' जहाँ वे कुछ दिन रहते हैं, मोतियों का पैदा होना आज तक नहीं सुना गया। हाँ, एक बार हमने कहीं पढ़ा था कि पंजाब या राजपूताने की किसी झील में कुछ सुक्तियाँ ऐसी मिली थीं जिनमें मोती थे। पर क्या जितने हंस मानसरोवर छोड़ कर नीचे आते हैं वे सिर्फ उसी झील में जाकर रहते और मोती चुगते हैं? वहाँ भी यदि मोती बिखरे पड़े हों तभी उन्हें हंस-गण आसानी से चुगेंगे। पर यदि वे सुक्तियों के भीतर ही रहते हों तो उन्हें फोड़कर मोती निकालना हंसों के लिए जरा कठिन काम होगा। पर इन सम्भावनाओं का कुछ अर्थ नहीं। निर्मल जल की उपमा मोती से दी जाती है, और मानसरोवर का जल अत्यन्त निर्मल है। इससे उसके मोती सदृश निर्मल जल की उपमा मोती से देते देते लोगों ने जल को ही मोती मान लिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।"[१]

कबीरदास ने हंस से शुद्ध-मुक्त जीवात्मा की और मानसरोवर के मुक्ता-फलों से मुक्ति के आत्मानन्द की व्यंजना की योगपरक संगति इसी कविप्रसिद्धि के आधार पर स्थापित की है—

मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं
मुक्ताहल मुक्ता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं।

—कबीरग्रं. ५।३९

---

[१] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्रीकृष्णलाल : निबन्ध—संग्रह पृ. ६–७

जायसी ने सिंहलद्वीप के मानसरोवर का वर्णन करते हुए, उसके जल को तो मोती सदृश कहा ही है, साथ ही सीपियों के उलट जाने से जल पर उतराते मोतियों का भी वर्णन किया है, हंस उन मोतियों को चुग कर क्रीड़ा करते हैं—

मान सरोदक देखिअ काहा । भरा समुँद अस अति अवगाहा ।
पानि मोति अस निरमल तासू । अंम्रित बानि कपूर सुबासू ।
....
उलिथहिं सीप मोति उतराहीं । चुगहिं हंस औ' केलि कराहीं ।।

—पदमा. २।७। १–२, ६

तुलसीदास ने रामभक्त की जिह्वा को हंसिनी कह कर राम के गुणगान को मुक्ताफल कहा है । राम के यशरूपी विमल मानसरोवर में भक्त की हंसिनी-रूप जिह्वा राम गुणगान रूप मोतियों को चुनती है—

जस तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जिह्वा जासु ।
मुक्ताहल गुनगन चुनइ, राम बसहु हियँ तासु ।।

—मानस. २। १२८

घनआनन्द ने अनन्य प्रेम की व्यंजना के लिए प्रेमी के प्राण को हंस मान कर, प्रेमास्पद के ध्यान को उस प्राण की रक्षा करने वाली मुक्तापूर्ण सीप कहा है—

घेर्‌यौ घर आय अन्तराय-पटनि पट पै,
ता मधि उजारे प्यारे पानुस के दीप हौ ।
लोचन पतंग संग तजै न तौऊ सुजान,
प्रान-हंस राखिवे कौं भरे ध्यान-सीप हौ ।

—घनग्रं. सुजान. ७४

मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में अनेक स्थलों पर इस कवि-प्रसिद्धि का उपयोग किया है । उन्होंने जीवात्मा में हंस की, और मुक्ति में मुक्ता (मोती) की कल्पना उसी प्रकार की है जिस प्रकार कबीर ने । उनके राम अपने जीवनोद्देश्य की घोषणा करते हुए कहते हैं—

मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया ।
हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया ।

—साकेत, अष्टम स.

श्लेष के आधार पर बाल-सूर्य में हंस पक्षी की उत्प्रेक्षा करके उसके द्वारा

आकाशसरोवर के नक्षत्ररूपी मोतियों के चरने का दृश्य भी उन्होंने उपस्थित किया है—

सखि नील समस्सर में उतरा
यह हंस अहा तरता तरता ।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता चरता ॥

—साकेत, नवम स.

विरहिणी उर्मिला के आँसुओं में हंस को मोतियों का भ्रम हो जाता है—

हंस, हहा ! तेरा भी बिगड़ा क्या विवेक बन बन के
मोती नहीं, अरे, ये आँसू हैं उर्मिला जन के ।

—साकेत, नवम स.

प्रसाद जी ने प्रेयसी-रूप मराली द्वारा प्रणय के मोती चुने जाने की कल्पना की है । मनु इड़ा से विनय करते हैं—

प्रजा नहीं, तुम मेरी रानी, मुझे न अब भ्रम में डालो,
मधुर मराली ! कहो 'प्रणय के मोती अब चुनती हूँ मैं ।'

मयूर

कविप्रसिद्धि के अनुसार वर्षाकाल में ही मयूर के बोलने और नाचने का वर्णन होता है।[1]

चक्रवाक कोकिल आदि की तरह मयूर भी भारतवर्ष का प्राचीन पक्षी है। यजुर्वेद (२४।२३-३७) में इस पक्षी का उल्लेख है। केकी, वर्ही, शिखी आदि इसके अन्य नाम हैं। अमरकोश[2] में दिया हुआ इसके 'मेघनादानुलासी' नाम का शब्दार्थ प्रस्तुत कविप्रसिद्धि का पोषक है।

पक्षिशास्त्रियों ने दो जातियों के मयूर लक्ष्य किये हैं—एक नीले कंठ और शुक्ल अपांग वाला, दूसरा इन लक्षणों से रहित। भारतवर्ष में अधिकतर पहली जाति का ही दिखाई देता है। इसे नीलकंठ भी कहते हैं, किन्तु विजया-दशमी आदि अवसरों पर नीलकंठ नाम के जिस पक्षी (Blue Jay or Roller)[3] के दर्शन शुभ माने जाते हैं, वह इससे सर्वथा भिन्न है।

मयूर का नृत्य और स्वर वर्षाकाल में तो होता ही है, अन्य ऋतुओं में भी विरल नहीं है। किन्तु उसका अत्यन्त आकर्षक रूप वर्षाकाल तक ही परिमित रहता है। वर्षाकाल बीत जाने पर न तो इसके नृत्य में वह सौन्दर्य रह जाता है, और न स्वर में वह माधुर्य। वस्तुतः जून से सितम्बर तक मयूरों के लिए सहवास और गर्भाधान का काल होता है। उस समय मयूर के प्रमत्त भाव से नाचने का उद्देश्य मयूरी को लुभाना होता है।[4] वर्षाकाल के अन्त में, गर्भा-धान के पश्चात्, मयूरों के वर्ह (पुच्छ) स्खलित हो जाते हैं। उस समय यदि यह शिथिल भाव से नृत्य करता भी है तो उसकी गति और रूप में, दर्शक के लिए, आकर्षण नहीं रहता। साथ ही, उसकी वाणी का मद भी उस समय क्षीण हो जाता है। भारवि ने शरद् के प्रसंग में कहा है कि वर्षा के बाद क्षीणमद मयूरों की कर्णकटु वाणी से निस्पृह होकर कान हंसों की उन्मद ध्वनि

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] अमर. २।५।३०

[3-4] Hume & Marshall : The Game Birds of India Burma & Ceylone. Vol. III, p. 427

में रमते हैं।[1] काव्यमीमांसा से शरद् ऋतु विमद मयूरों को गर्जित करने वाली कही गई है।[2] 'विमुक्तवर्हाभरण' मयूरों का वर्णन रामायण के शरद्-प्रसंग में मिलता है।[3] काव्यमीमांसा के हेमन्त-प्रसंग के एक श्लोक में भी विमुक्तवर्ह और विमद मयूरों का उल्लेख है।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सौन्दर्य के घनीभूत और उत्कृष्ट रूप को ग्रहण करने की आदर्शपरक प्रवृत्ति ही इस कविप्रसिद्धि के मूल में है।

वर्षाकाल में मयूर के प्रमत्त भाव से बोलने और नाचने की निसर्गसिद्ध चेष्टा के आधार पर कवियों ने अनेक अनूठी कल्पनाएँ करके आलंकारिक व्यंजनाएँ की हैं। उत्प्रेक्षाजनित धारणा है कि चपला की कौंध, मेघों का गर्जन और दर्शन आदि मयूरों के नृत्य-गान के हेतु हैं। यही नहीं, इस प्रकार की उत्प्रेक्षा में भी इस सीमा तक ऊहा की गई है कि मेघगर्जन का भ्रम उत्पन्न करने वाला कोई भी स्वर मयूर को नर्तन की प्रेरणा दे सकता है। वाल्मीकि ने मुदित होते मयूर द्वारा वृष्टिमन्त मेघ के अनुकरण की उत्प्रेक्षा की है।[5] कालिदास के अनुसार मोर के शब्द द्वारा पृथ्वी मेघों का स्वागत करती है।[6]

---

[1] विहाय वांछामुदिते मदात्ययादरक्त कण्ठस्य रुते शिखण्डिनः
श्रुतिं श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥
—किरात. ४।२५

[2] द्रागगर्जयन्ती विमदान्मयूरान्प्रगल्भयन्ती कुररद्विरेफान् ।
शरत्समभ्येति विकाश्यपद्मानुन्मीलयन्ती कुमुदोत्पलानि ॥
—काव्यमी. अ. १८

[3] नभः समीक्ष्यां बुधरैर्विमुक्तं विमुक्तवर्हाभरण वनेषु ।
प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभा गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ।
—रामा. ४।३०।३३

[4] विमुक्तवर्हा विमदा मयूराः प्ररूढगोधूमयवा च सीमा ।
व्याघ्रिप्रसूतिः सलिलं सवाष्पं हेमन्तलिंगानि जयन्त्यमूनि ॥
—काव्यामी. अ. १८

[5] इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम् ।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव वर्हिणः ॥ —रामा. २।२।१७

[6] स्थली नवाम्भः पृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥
—रघु. ७।६९

कालिदास के वर्णनों में मेघगर्जन[1] मृदंग की ताल[2], मृदंग की ताल के समान जल की थपकी[3], रथों के चलने की गड़गड़ाहट[4] आदि से मयूरों के उत्कंठित होने और नाचने की व्यंजना है, क्योंकि इस प्रकार के स्वर मेघ-गर्जन का भ्रम उत्पन्न करते हैं। झरनों के गम्भीर घोष में भी मयूरों के लिए इसी प्रकार के भ्रम का वर्णन भारवि ने किया है।[5] विमलसूरि के श्रीपउमचरियम् में कहा गया है कि जब राम ने धनुष चढ़ाया तो उससे उत्पन्न घोष में मयूरों को वर्षा के नवीन मेघों की ध्वनि का भ्रम हुआ, और इस कारण वे नाचने लगे।[6]

मुरज की ध्वनि से मयूर के आनन्दित होने के आधार पर भवभूति ने बड़े कुतूहलपूर्ण और रोचक प्रसंग का चित्रण किया है। शिव के ताण्डव नृत्य के समय, जब नन्दी ने मुरज पर थाप दी तो कुमार कार्तिकेय का मयूर आनन्दित होकर पास आ गया। इस पर शंकर का सर्प भय के कारण भाग कर गजवदन गणेश के नासाग्ररंध्र में प्रवेश करने लगा। गणेश के व्यग्र होकर चीत्कार करने से दिशाएँ मुखरित हो उठीं।[7]

---

[1] धौतापांगं हरशशिरुचापावकेस्तं मयूरं ।
पश्चादद्रि ग्रहण गुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ मेघ. १।४८

[2] वृक्षेशया यष्टिनिवासभंगान्मृदंगशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ —रघु. १६।१४

[3] तीरस्थली बर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनद्यमानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूच्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम् ॥
—रघु. १६।६४

[4] स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ —रघु. १।३६
मनोभिरामाः श्रृण्वन्तौरथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसम्बादिनीः केका द्विधाभिन्नाः शिखण्डिभिः —रघु. १।३९

[5] सध्वानं निपतित निर्झरासु मन्द्रैः सन्मूछन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु
उद्ग्रीवै घनरवशंकया मयूरैः सोत्कण्ठ ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ।
—किराता. ७।२२

[6] रामेण धणुवरं तं गाढं अप्फालियं तं सद्दप्पेणं ।
जह बरहिणेहि घुट्ठं नवपाउसमेहसंकाए ॥ —पउमच. २८।१२०

[7] सानन्दं नन्दिहस्ताहतमुरजरवाहूतकौमारर्बाहिः
त्रासान्नासाग्ररन्ध्रं विशति फणयतौ भोगि संकोच भाजि ।

हिन्दी-कवियों द्वारा भी मयूर के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पनाएँ हुई हैं। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा—

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस वन मोर।
जानत हौं नन्दित करी यहि दिसि नन्दकिसोर॥ –बिहारी, ३५०

इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। कृष्ण के श्याम वर्ण और पीताम्बर से मयूरों को क्रमशः मेघ और विद्युत् का भ्रम उत्पन्न हुआ, अतः वर्षाकाल न होने पर भी वे नाचने लगे।

हिन्दी-काव्य में इस कविप्रसिद्धि का पालन अधिकतर प्रकृतिगत उद्दीपन के अंगरूप में हुआ है। कुछ उदाहरण ये हैं—

ई भर बादर माह मादर
सून मन्दिर मोर
कुलिस कत सत पात मुदित
मोर नाचत मातिया। —विद्यापति, १९९

भादव मास बरसि घनघोर।
सभ दिसि कुहुकय दादुल मोर॥ —वही, २०८

घूंटै घटा चहुँधा घिरि ज्यौ गहि काढ़ै करेजो कलापिन कूकैं।
सीरो समीर सरीर दहै, चहकै चपला चख लै करि ऊकैं
ए हो सुजान तुम्हैं लगे प्रान सु पावस यौं तजि ध्यावस सूकैं
ह्वै घनआनँद जीवनमूल घरौ चित मैं कित चातिक चूकैं॥
—घनग्रं, सुजान. ८४

किन्तु सभी कवियों ने इस कविप्रसिद्धि के पालन पर ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदास ने वसन्त के प्रसंग में मयूर के स्वर का वर्णन किया है। मयूर के स्वर में उन्होंने मानवीकृत वसन्त की वाणी की उत्प्रेक्षा है—

पिक बचन चरित बर बरहि कीर।
सित सुमन हास, लीला समीर॥ विनय. १४

गण्डोड्डीनालिमाला मुखरित ककुभस्ताण्डये शूलपाणे
वैनायक्यश्चिरं वो वदनविधुतयः पातु चीत्कारवत्यः॥ –मालतीमाधव

ध्यान देने की बात है कि कविसमय के अनुसार कोकिल और मोर के एक ही समय में बोलने का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि कोकिल का कलरव बसन्त तक[१] परिमित है, और मयूर का वर्षा तक। दोनों के बोलने का वर्णन एक ही स्थल पर करने से केवल एक के विषय में कविसमय का पालन सम्भव है। कविसमय का कठोर रूप से पालन न करने की वृत्ति द्वारा ही दोनों का साथ-साथ वर्णन हो सकता है। केशवदास के निम्नलिखित काव्यांश में इस वृत्ति का उदाहरण है—

बोलत मोर तहाँ सुख संजुत। ज्यों विरदावलि भाटन के सुत।
कोमल कोकिल के कुल बोलत। ज्ञान कपाट कुँची जनु खोलत॥

—रामचन्द्रिका ३२।३

यों, केशवदास ने बसन्त में मयूर के मुदित होने का वर्णन काल-विरोध-दोष माना है।[२]

---

[१] दे. 'कोकिल' प्र.

[१] कविप्रिया. ३।५५

कोकिल

कविप्रसिद्धि के अनुसार कोकिल के कलरव का वर्णन बसन्त में ही होता है।[1]

कोकिल सामान्य रूप से परिचित पक्षियों में से है। आदिकाल से भारतवर्ष में इसकी स्थिति रही है। आकार-प्रकार में यह जनपद (बस्ती) के कौवे के समान होता है। कौवे की अपेक्षा इसकी गठन थोड़ी पतली और दुम ज़रा लम्बी होती है। कोकिल (नर) के शरीर का रंग चमकदार काला होता है और चोंच का रंग पीताभ हरा। कोकिला (मादा) के शरीर का रंग भूरा होता है जिस पर सफ़ेद चित्तियाँ और धारियाँ रहती हैं।[2] काव्य में प्रायः पुंकोकिल ही गृहीत है।

कोकिला के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह अपने अंडे स्वयं नहीं सेती। वह उन्हें कौवे के घोंसले में रख आती है। उत्पन्न होने के बाद पक्षिशावक शीघ्र ही अपने वर्ग में जा मिलते हैं। कोकिल के लिए प्रयुक्त 'अन्यवाय' शब्द इसी भाव का सूचक है। 'अन्यभृत', 'परभृत', 'अन्यपुष्ट', 'परपुष्ट' आदि कोकिल के पर्याय भी इसी के समर्थक हैं।[3] पक्षिशास्त्रियों ने, निरीक्षण के आधार पर, कोयल का ऐसा व्यवहार तथ्य माना है। वास्तव में, कोयल बैशाख से भाद्रपद तक अंडे देती है, और कौवी के अंडे देने का भी वही समय है। कौआ अपना घोंसला कुछ पहले ही बना लेता है। कोयल के अंडे आकार में अपेक्षाकृत छोटे होने पर भी, रूप-रंग में कौवे के अंडों जैसे ही होते हैं। एक-एक कौवे के घोंसले में कोयल के ग्यारह-ग्यारह अंडे तक देखे गये हैं। पुंकोकिल कौवे को अपने पीछे उड़ा ले जाता है। उपयुक्त अवसर पाकर कोकिला अपने अंडे कौवे के घोंसले में रख देती है।[4]

प्रस्तुत कविप्रसिद्धि का मूलाधार अस्पष्ट नहीं है। इस कविप्रसिद्धि के राजशेखर द्वारा उल्लिखित रूप[5] से ही यह स्पष्ट है कि यद्यपि कोयल का

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] दे. संलग्न चित्र

[3] राजनि. हंसादिवर्ग १४२–४४; शब्दकल्प. १ 'कोकिल' शब्द.

[4] Salim Ali: The Book of Indian Birds, P. 187

[5] ग्रीष्मादौ संभवतोऽपि कोकिलानां विरुतस्य बसन्त एव निबन्धः

—काव्यमी. अ. १५ [दे. परि. १ (क)]

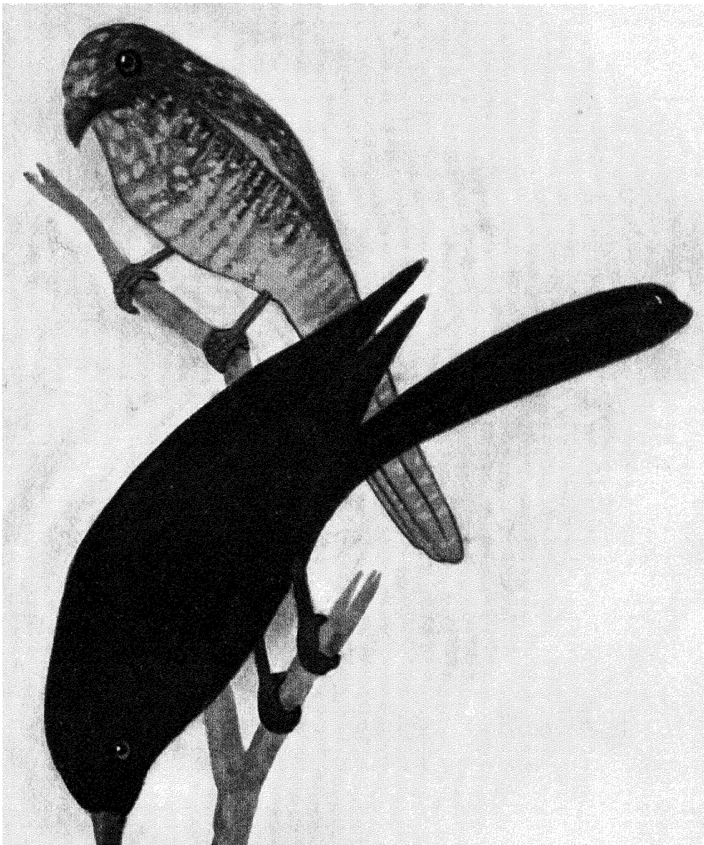

कोकिल-मिथुन

विरुत ग्रीष्म के आदि में उत्पन्न होता है, किन्तु उसका वर्णन वसन्त तक ही नियत है। ग्रीष्म और वर्षा में भी कोयल को बोलते साधारणतया सुना जाता है। शीतकाल में वह अवश्य मौन हो जाता है। कारुण यह है कि पुनर्वास के लिये कोकिल इस देश को छोड़ कर नहीं जाता। ऋतुओं की सुविधा के अनुसार स्थान-परिवर्तन करता हुआ यह अत्यधिक शीतल स्थानों के अतिरिक्त प्रायः सारे भारतवर्ष में सालभर रहता है।[१] शीतकाल में यह पत्रारन्तराल में लुक छिप कर मौनभाव से समय बिताता है। शरद् से शिशिर तक तो यह ऐसा मौन रहता है कि अनेक पक्षिशास्त्रियों को इसके देशान्तर-गमन का भ्रम हो गया है। वसन्त के आगमन पर यह पुनः मीठे स्वर में कूकना आरम्भ कर देता है।

कोयल की इस वृत्ति का समर्थन काव्य में प्राप्त है। कालिदास ने लिखा है कि विरही दुष्यन्त द्वारा वसन्तोत्सव रोक दिये जाने के कारण कोयल की कूक गले तक आकर ही रुक गई।[२] काव्यमीमांसा में शरद् और बसन्त की ऋतुसंधि के प्रसंग में कोकिलाओं की उस स्थिति का उल्लेख है, जिसमें वे मन ही मन गुनगुनाती हैं, उनका स्वर गले से बाहर नहीं निकलता।[3] हेमन्त-प्रसंग में पुंकोकिल की मूकस्थिति का उल्लेख है।[४] वास्तव में, वसन्त बीत जाने के बाद, जाड़े के आगमन तक कोकिल उद्यानों में रहकर बोलता है। जाड़े में उसकी मौन स्थिति के कथन में, प्रकृत सत्य का उल्लेख है, कविप्रसिद्धि का अनुरोध नहीं।

कोकिल के आकार-प्रकार की अपेक्षा उसका कलरव ही अधिक रुचि का विषय होता है। रूप-रंग की दृष्टि से यह पक्षी विशेष सुन्दर होता भी नहीं। कवियों ने इसके मादक स्वर को भूरि-भूरि सराहा है। वसन्त में ही इसकी मादकता सबसे अधिक होती है। अन्य ऋतुओं में कोयल के स्वर में वैसा प्रभाव नहीं रह जाता। वस्तु के उत्कृष्ट रूप के प्रति आसक्ति की आदर्शपरक भावना ही इस कविप्रसिद्धि का मूल कही जा सकती है।

---

[१] Wnistler—A Popular Handbook of Indian Birds, P. 252

[२] कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुँस्कोकिलानां रुतम्। —शाकुन्तल. ६।४

[३] मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे गिरन्ति न कोकिलाः। —कव्यमी. अ. १८

[४] उद्यानानां मूक पुँस्कोकिलत्वं भृंगस्त्रीणां मौनमुद्रा मुखेषु।
मन्दोद्योगा पत्रिणां व्योमयात्रा हेमन्ते स्यात्सर्पदर्पक्षयश्च॥
—काव्यमी. अ. १८

संगीत का पंचम स्वर कोकिल के वसन्तकालीन स्वर पर आधृत है। उसे 'काकली' कहा जाता है।[१] सुन्दरियों के मधुर कोमल कंठरव का वह प्रसिद्ध उपमान है।[२] कालिदास ने उत्प्रेक्षा की है कि वसन्त में आम्रांकुरों के आस्वाद से कषाय हो जाने के कारण ही कोकिल का स्वर इतना मधुर हो जाता है।[3] जयदेव ने भी कोयल की कुहू-कुहू हर्षध्वनि का कारण पुष्पित आम्र को माना है।[४]

कालिदास के वर्णन के अनुसार आम्ररसमत्त होकर पुँस्कोकिल अपनी प्रिया के साथ प्रेमक्रीड़ा करता है। उस दशा में उसका मधुरालाप कामोद्दीपक होता है।

हिन्दी-काव्य-परम्परा में इस कविप्रसिद्धि को प्रकृतिगत आलम्बन और उद्दीपन दोनों के अंग-रूप में ग्रहण किया गया है। आलम्बन के रूप का उदाहरण रासो में है—

याते वसन्त मासे। कोकिल झंकार अंब बन करयं।
बर बब्बूर बिरक्खं। कपोतयं नैव कलयंति॥

—सं० रासो, १।१२

विद्यापति ने वसन्तकालीन कोकिल-स्वर को इतना प्रबल उद्दीपक माना है कि उससे मनस्वी योगी भी विचलित हो जाते हैं—

आयल उनमद समय बसन्त।
आरे कुसुमित कानन कोकिल साद
मुनिहुक मानस उपज विखाद। विद्या. पदा. पृ. २८०

---

[१] कदलीदल नीलकोकिलाभिः
कृतकोलाहल काकलि प्रपंचः
मलयानिल मत्त वारणस्थो
मदनश्चात्र चकार जैत्रयात्राम्॥ —बृहन्नि. पृ. ४९२

[२] दे. परि. २ 'प्रसिद्ध उपमान'

[3] चूतांकुरास्वादकषायकण्ठः पुँस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनस्विनी मानविघातदक्ष तदेव जातं वचनं स्मरस्य॥ —कुमार. ३।३२

[४] किंचित्स्निग्धरसालमौलि कुसुमान्यालोक्य हर्षोदया-
दुन्मीलन्ति कुहूः कुहूरिति मुहुस्ताराः पिकानां गिरः॥ —गीतगो. १

जायसी ने इसके आधार पर नागमती के विरह की मार्मिकता व्यंजित की है। कोकिल का पंचमस्वर भी मानो विरह-जनित हैं, नागमती को वह काम-बाण (पंचसर) के समान आहत करता है—

चित्रा मित मीत घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा।

—पदमा. ३०।७।४

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी।
पंचम बिरह पंचसर मारै। रक्त होइ सगरो वन ढारै॥

पदमा. ३०।१३।१-२

कोकिल को वसन्त का दूत मानने में भी इस कविप्रसिद्धि का आधार है। जीवन-वसन्त में काम के चुपचाप प्रवेश पर मनु को जिज्ञासा हुई कि क्या उसे आते देख कर मतवाली कोयल बोली थी—

मधुमय वसन्त जीवन-वन के
बह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में,
क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी ?

—कामायनी. काम स.

अतिथि के रूप में आई कामायनी को, उसके कोकिल-सदृश स्वर के कारण ही मनु ने 'वसन्त का दूत' कहा—

कौन हो तुम वसन्त के दूत ? —कामायनी श्रद्धा स.

कामायनी के उत्तर में भी इस भाव की संगति है—

लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति
मिटाता उत्कंठा सविशेष
देरहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश। —वही

किन्तु इस कविप्रसिद्धि का नियमरूप में पालन सर्वत्र नहीं किया गया है। कोकिल के वर्षाकालीन स्वर की ओर भी कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। चन्द, जायसी और देव के काव्यों से इस विषय के उदाहरण दृष्टव्य हैं—

जल बद्दल बरसंत
पेम पल्हरै निरन्तर
कोकिल सुर उच्चरैं
अंग पहरंत पंचसर । —सं. रासो ७।४७

रितु पावस बिरसै पिउ पावा । सावन भादों अधिक सोहावा ।
कोकिल बैन पाँति बग छूटी । धनि निसरी जेउँ बीरबहूटी ।।
—पदमा. २९।७।१-२

नाचत मोर नचावत चातक गावत दादुर आरभटी में
कोकिल की किलकार सुने बिरही बपुरे विष घूटैं घुटी में
अम्बर नील घनी घनमालिनि, भूमि बनी बनमाल तटी में
साँवर पीत मिले झलकैं, घन दामिनि कै घनश्याम पटी में ।
—शब्दरसा.

धनआनंद ने वर्षा में कोयल के स्वरमाधुर्य को लक्ष्य किया है—

आई रितु सुखदाई पावस की सुहाई
बोलत मधुर पिक चातक और माते मुख ।
—धनग्रं, पदावली ६७१

किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि बसन्त में कोयल का स्वर अधिक प्रभावशाली होता है—

मोरे आँव कोकिला कूकनि, लेति करेजो कोरैं
यह बैरिनि बसन्त में अधिकी, आगम धरति मरोरैं—वही, ८०२

भारतेन्दु ने वर्षाकालीन उद्दीपन के रूप में कोयल के स्वर का वर्णन किया है—

जगावत ही मनु पावस आयो ।
भयो भोर पिय उठौ उठौ कहि मधुरे गरजि सुनायौ ।
बोले मोर कोकिला कुहकै दादुर सोर मचायो ।
—प्रेमाश्रु, ४

सखी री, अब आनँद की ऋतु ऐहैं
ऐ ही री झुकि झुकि कै बादर चलिहैं सीतल पौन
कोइलि कुहुकि कुहुकि बोलैंगी बैठि कुंज के भौन ।
—वही, २८

अन्य कवियों का ध्यान वर्षाकाल में कोकिल की ओर गया तो है, किन्तु कविप्रसिद्धि के अनुरोध से उन्होंने उसके मौन-भाव का वर्णन किया है। स्वयम्भू ने वर्षा के प्रसंग में कोकिल के उद्घोष-विमोचन का उल्लेख किया है—

णं परहुय विमुक्क उग्घोसे ।
णं वरहिण लवन्ति परऊसे ।।[1]

रहीम और तुलसीदास ने कोकिल सम्बन्धी इस कविप्रसिद्धि के आधार पर बुद्धिमानी की व्यंजना की है। बर्षा में मूर्ख वक्ता-रूप दादुर के प्रलाप के आगे बुद्धिमानी के प्रतीक कोयल का मौनभाव ही श्रेयस्कर है—

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन ।
अब दादुर बकता भए, हमको पूछत कौन ।। —रहीम
तुलसी पावस के समय धरी कोकलिन मौन ।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन ।। —दोहा. ५६४

महादेवी वर्मा ने बसन्त के बाद कोकिला के अदृश्य हो जाने तथा कोकिल के सकुचाने का उल्लेख किया है—

न रहता भौरों का आह्वान
नहीं रहता फूलों का राज्य
कोकिला होती अन्तर्धान
चला जाता प्यारा ऋतुराज । —महादेवी पृ. १८

लाये कौन सँदेश नये घन
रोया चातक
सकुचाया पिक
मत्त मयूरों ने सूने में झड़ियों का दुहराया नर्तन ।
—वही पृ. ६९

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, हंस, नवम्बर १९४४ पृ. ६७

चक्रवाक-मिथुन

कविसमय के अनुसार चकवा और चकई रात के समय नदी जलाशय आदि के भिन्न तटों पर वियोग की स्थिति में रहते हैं।[१]

चक्रवाक भारत का प्राचीन पक्षी है। ऋग्वेद में जिन पक्षियों से रक्षा करने की याचना की गई है, उनमें कोक (चक्रवाक) का भी उल्लेख है।[२] इससे विदित होता है कि उन दिनों यह पक्षी हानिप्रद माना जाता था। रामायण में वर्षाकाल में चक्रवाकों के मानसवास के लिए जाने का वर्णन है।[३] वह इस बात का सूचक है कि हंस की तरह चक्रवाक भी पुनर्वास के लिए हिमालय-प्रदेश को जाते हैं।

पक्षिशास्त्रियों द्वारा चक्रवाक को Ruddy Sheldrake और Brahminy Duck नाम दिये गये हैं। इसके विवरण में बताया गया है कि यह बतख की कोटि का पक्षी है। आकार में घरेलू बतख के समान होता है। इसके शरीर का रंद नारंगी भूरा तथा गर्दन के पास का भाग पीताभ होता है। इसके पर चितकबरे तथा चमकदार हरे रंग के होते हैं। दुम का रंग काला होता है। चकई भी अधिकांश में चकवे के समान होती है। दोनों में मुख्य अन्तर यह होता है कि चकवे की गरदन के निचले भाग में काला पट्टा रहता है, चकई के नहीं रहता। चकई के सिर का रंग भी अपेक्षाकृत उज्ज्वल होता है। जाड़ों में ये पक्षी समस्त उत्तरी भारत में दिखाई देते हैं।

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुवर्णयातुमुतगृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ —ऋक्. ७।१०४।२२
शृङ्गेव नः प्रथमागन्तं अर्वाक्
छफविव जर्भुराणा तरोभिः
चक्रवाकेव प्रतिवस्तोर उस्ता
ऽर्वाञ्चा यातं रथ्येव शक्रा ॥ —वही २।३९।३

[३] संप्रस्थिता मानसवासलुब्धाः प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।
—रामा. २।२८।५६

चक्रवाक

दक्षिण में विरल रूप से होते हैं। दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका, मध्य एशिया, लद्दाख और तिब्बत में ये अंडे देते हैं। अक्टूबर के आसपास ये उत्तर से आते हैं और मार्च-अप्रेल में लौट जाते हैं। सामान्यतया ये जाड़ों में दिखाई देते हैं, कभी-कभी दस या अधिक के समूह में भी खुली झीलों और बड़ी नदियों पर रहते हैं। आगमन और प्रस्थान के समय ये अधिक बड़े समूहों में देखे गये हैं। जल की अपेक्षा पंकिल और रेतीले किनारों पर ये अधिक देखे गये हैं। यद्यपि अधिकतर इनका भोजन अनाज और शाक है, किन्तु ये सर्वभक्षी कोटि के पक्षी हैं। इनके घोंसला बनाकर रहने के स्थान लद्दाख तथा तिब्बत में बारह हज़ार से सोलह हजार फुट की ऊँचाई पर लक्ष्य किये गये हैं। प्रायः पानी से काफी दूर ये अपना घोंसला बनाते हैं।[१]

पं० कृष्णविहारी मिश्र द्वारा अनेक स्रोतीय खोजों से प्राप्त चक्रवाक सम्बन्धी निष्कर्ष उपर्युक्त विवरण के समर्थक हैं।[२] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेख[3] से भी इसकी पुष्टि होती है। कुँवर सुरेशसिंह के अनुसार देहात में सुरख़ाब नाम से ज्ञात चिड़ियाँ ही चकवा-चकई हैं।[४] 'हमारी चिड़ियाँ—' पुस्तक में उन्होंने Ruddy Sheldrake को ही सुरख़ाब माना है।

चक्रवाक-मिथुन के रात्रिकालीन वियोग के विषय में पौराणिक आख्यान है कि स्त्री-वियोग से कातर राम को देखकर इन पक्षियों ने हँसी उड़ाई थी, अतः अभिशप्त रूप में ये रात्रि के समय वियोगी होते है।[५] इस विषय में वैज्ञानिक निरीक्षण का प्रमाण केवल इतना है कि रात्रि के समय आहार-चयन के लिए चकवा-चकई अलग हो जाते हैं, और एक दूसरे को उत्कंठाभरे स्वर से पुकारते जान पड़ते हैं।[६] नदी-सरोवर आदि के भिन्न तटों पर इनके रहने

[१] Salim Ali: The Book of Indian Birds, P. 412.

[२] देव और विहारी पृ. ३१३-१५. परिशिष्ट

[3] विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३. पृ. ३९१

[४] महारावल-रजत-जयन्ती-अभिनन्दन-ग्रंथ, पृ. १४५

[५] कादम्बरी, [पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३९१]

[६] Whistler: A Popular Handbook of Indian Birds (1928) P. 407. Stuart: Ducks and their Allies, (1921) P. 146-47. [पं० ह. प्र. द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३ पृ. ३९२]

की वृत्ति काव्यात्मक कल्पना ही है। वास्तव में रात के समय ये अल्प अन्तर पर अलग-अलग रहते हैं। उसी को वियोक कल्पित करके, उस पर नदी के तटों की स्थिति का रूपक घटित किया गया जान पड़ता है। कालिदास ने वर्णन किया है।क रात्रि के समय चकवा-चकई एक दूसरे को दी हुई उत्पल-केसरों की मालाओं को देखते हुए क्रन्दन करते हैं।[१]

काव्य-परम्परा में चक्रवाक-मिथुन अधिकतर आदर्श प्रेमी-युग्म के प्रतीक रूप में गृहीत हुआ है। रमणियों के स्तन-युग्म का प्रसिद्ध उपमान भी यह कदाचित् मिथुन-वृत्ति के कारण ही है।[२] अनन्य प्रेम की व्यंजना इसके माध्यम से सहज ही हो जाती है। चक्रवाक-मिथुन की दिवाकालीन स्थिति से संयोग शृंगार और रात्रिकालीन स्थिति से वियोग-शृंगार की व्यंजना कवियों ने की है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों कोटि के प्रेम की मार्मिकता का बोध इस आधार पर कराया गया है। निर्गुणोपासक कबीरदास ने भगवान से मिलने के लिए भक्त की व्याकुलता चकवा-चकई के प्रातःकालीन मिलन के वर्णन द्वारा व्यंजित की है—

चकवी बिछुटी रैंनि की, आइ मिली परभात।
जे जन बिछुटे राम सूँ, ते दिन मिले न रात।।—कबीरग्रं. ३।३

मायारात्रि-रूप संसार का अतिक्रमण करके नित्य प्रकाश परमात्मसत्ता के दिव्य लोक को प्राप्त करने की आत्मा की आकांक्षा, चकई की आकांक्षा द्वारा व्यंजित की गई है।

साँझ भये दिन बीतवे, चकवी दीनी रोय।
चल चकवा वा देस को, रैंन कबहुँ नहिं होय।। —कबीर ग्रं.

---

[१] अत्रावियुक्तानि रथांगनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते प्रायः प्रिये सस्पृहमीक्षितानि।।
—रघु. १३।३१

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती।।
—कुमार. ५।२६

अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां सम्भावयामास रथांगनामा।
—कुमार. ३।३७

[२] दे. परि. २ 'प्रसिद्ध उपमान', स्तन

सगुणोपासक सूरदास ने भी भगवान के दिव्य अलौकिक चरन-सरोवर को प्राप्त करने की अभिलाषा इसी माध्यम से व्यंजित की है—

चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम निशा होति नहिं कबहूँ, सोइ सागर सुखजोग ।।

—सूर. ३३७

विद्यापति ने लौकिक विप्रलम्भ शृंगार के लिए इस कविप्रसिद्धि का आधार लिया है—

एक सयन सखि सूतल रे
आछल बालम मोर
ना जानल कति खन तजि गेल रे
बिछुरल चकवा जोर । —विद्यापदा. २५१

केशवदास ने रावण द्वारा अपहृत सीता के विरह-दुःख का बोध, चकई के रात्रिजनित गहन दुःख के उदाहरण से कराया है—

पीउ पीउ रटति रहरि नित चातकी ज्यों
चंद चितै चकई ज्यों चुप ह्वै रहति है
सुनहु नृपति राम विरह तिहारे ऐसी
सूरति न सीता जू की मूरति गहतु है ।

—रामचन्द्रिका. १४।२९

देव ने भी इस कविप्रसिद्धि को विप्रलंभ-शृंगार-व्यंजना का आधार बनाया है—

कर्म विपाक कहा कहिये, बक काक बराक कथा कहि आवै
सारस हंस कपोत कुरंग, सुसंगत देव सबै सुख पावै
जीभ बृथा बकई थकई, बपुरी चकई कछु भोर न पावै
रैनि जुदी रटहू तटहू रहे, द्यौस सु प्रीतम संगति पावै

—शब्दरसा, १२१

साकेत में विरहिणी उर्मिला ने, अपने दुःख की समानता कोक-कोकी के रात्रिकालीन दुःख में देखी है । लक्ष्मण के वन से लौटने की अवधि ही उर्मिला के लिए रात्रि है, मिलन प्रभातरूप होगा—

कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट मे हूँ मैं भी तो सुन ले मेरी बात।
धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात
मेरा सुप्रभात, वह तेरी सुख-सुहाग की रात।

—साकेत, नवम सर्ग

रजनी, उस पार कोक है
हत कोकी इस पार शोक है।
शत शारव वीचियाँ जहाँ
मिलते हा-रव, बीच में जहाँ। —वही

चन्द्रमा और रात्रि से चक्रवाक का द्रोह, तथा सूर्य और दिन से उसका अनुराग भी इस कविप्रसिद्धि के आधार पर कल्पित हुआ है। वन-गमन-प्रसंग में राम की शीतल कोमल वाणी, सीता को वैसी ही दाहक लगी, जैसी कि चकई को शरद्-चाँदनी

सीतल सिख दाहक भइ कैसे।
चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥ —मानस २।६४
सिख सीतलहि मधुर मृदु, सुनि सीतहि न सुहानि।
सरद चंद चंदिनि लगति, जनु चकई अकुलानि॥

—वही. २।७८

अयोध्या के नर-नारियों की राम को देखने की वैसी ही उत्कट इच्छा थी जैसी कि चकवा-चकई की सूर्य के लिए—

राम दरस हित नेम ब्रत, लगे करन नर नारि।
मनहु कोक कोकी बिकल, दीन बिहीन तमारि॥ —वही. २।८६

चन्द्र और चाँदनी के प्रति, चक्रवाक-मिथुन की भावना, चकोर की तद्-विषयक भावना की सहज ही विरोधिनी है, क्योंकि कविसमय के अनुसार चकोर चन्द्रिकापायी है।[1] तुलसीदास ने इस अन्तर को रामकथा के क्रमशः प्रेमी और अप्रेमी, सज्जन और दुर्जन मनुष्यों के भेद का व्यंजक बनाया है—

रघुवर-कीरति सज्जननि सीतल, खलनि सुताति।
ज्यों चकोर-चय चक्कवनि, तुलसी चाँदनि राति॥

—दोहा. १९४

---

[1] दे. 'चकोर' प्र.

चक्रवाक-मिथुन के वियोग में विचित्रता यह है कि वे अनतिदूर रहकर भी विरह से पीड़ित रहते हैं। इसे 'सन्निधि बियोग' कहा जाता है। धारणा है कि यदि उन्हें रात को पींजड़े में एक साथ रखा जाए तो भी वे मिलन-सुख से विरक्त ही रहेंगे। भरद्वाज द्वारा प्रस्तुत विलास-सामग्री के उपभोग के सम्बन्ध में भरत की विरक्ति-वृत्ति का बोध तुलसीदास ने इसी धारणा द्वारा कराया है—

सम्पति चकई भरतु चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार॥

—मानस २।२१५

ऋतु-वर्णन में भी यह कविप्रसिद्धि उपयोगी रही है। वर्षाकालीन मेघाच्छन्न वातावरण में दिन भी रात के समान अँधेरा जान पड़ता है। दोनों का भेद जानने की बिहारी ने सरल सी युक्ति खोज निकाली—चकवा-चकई का मिलन देख कर दिन का, और वियोग देख कर रात्रि का बोध किया जा सकता है—

पावस घन अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं आन।
रात द्यौस जान्यौ परत, लखि चकई चकवान॥—बिहारी. ४०८

प्राकृतिक नियम से जाड़ों में रात दिन से बड़ी होती है, और गर्मियों में छोटी। चकवा-चकई के मिलन और वियोग की घड़ियाँ भी उसी अनुपात से बढ़ती घटती हैं। जाड़ों में वियोग की घड़ियां अधिक होने से उनका दुःख भी बढ़ जाता है, और गर्मियों में मिलन की घड़ियाँ अधिक होने से उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक है। ग्रीष्म के वर्णन में चन्द ने चक्रवाक को मुदित इसीलिए कहा है—

दीरघ दिस निस हीन छीन जलधर बैसन्नर।
चक्रवाक चित मुदित उदित रवि थकित पंथ नर॥

—सं. रासो ७।३६

बिहारी ने तो जाड़े की रातों में क्रमिक वृद्धि के साथ चकवे के दुःख की क्रमिक वृद्धि को भी लक्ष्य किया है—

ज्यों ज्यों बढ़ति विभावरी, त्यों त्यों बढ़त अनंत।
ओक-ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत॥

—बिहारी, २४४

सेनापति की कल्पना इस विषय में इतनी ऊहात्मक हुई है कि जाड़ों के नगण्य से दिन में बेचारे कोक को मिलन-सुख से सर्वथा वंचित होना पड़ा है। वह जैसे ही, दिन के आगमन पर, कोकी से मिलने दौड़ता है कि रात फिर आ उपस्थित होती है। विवश कोक अधबीच से ही लौट आता है—

सीत तैं सहसकर सहस चरन ह्वै कै
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै
जौ लौं कोक कोकी को मिलत तौ लौं होति राति
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै।
—कवित्तरत्ना. ३।२१

छायावाद-युग में भी इस कविप्रसिद्धि का पालन हुआ है। मनु और कामायनी के संयोग-प्रसंग में रात्रि का आगमन कोक-युग्म के बिछुड़ने से व्यंजित किया गया है—

उठ रही थी लालिमा धूसर क्षितिज से दीन
भेंटता अन्तिम अरुण आलोक-वैभव-हीन
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक मायालोक
शोक भर निर्जन निलय में बिछुड़ते थे कोक।
— कामायनी, वासना स.

पन्त ने नैश वातावरण के चित्रण में कोक-शोक को स्थान दिया है—

छिपा रही थी मुख शशिबाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन।
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि,
कोक शोक से मतवाला। पन्त. पृ. ४
यह कौन विहग, क्या विकल कोक,
उड़ता हरने निज विरह शोक,
छाया की कोकी को विलोक। —वही. पृ. ५७

चकोर

कविसमय के अनुसार चकोर चंद्रिका-पान करता है।[1]

अलंकारशास्त्र के ग्रथों में उल्लिखित इस कविप्रसिद्धि के अतिरिक्त यह कविप्रसिद्धि भी काव्यपरम्परा में विद्यमान है कि चकोर अंगार चुगता है।

चकोर पक्षी आकार में देहाती मुर्गी के अर्द्ध-विकसित बच्चे के समान होता है। इसके शरीर का रंग भूरापन लिये हुए लाल होता है जिसपर सर्वाङ्ग में काली और पशुओं के चमड़े सी लहरदार चित्तियाँ रहती हैं। इसकी ठूंठ जैसी दुम अखरोट के रंग की होती है। नर और मादा समान रूप-रंग के होते हैं। यह शिकारी चिड़िया है, जोड़ों या झुंडों के साथ शुष्क घने देहाती प्रदेश में और खेतों के पास रहती है। आहार के लिए भी इसका उपयोग होता है, और यह पाली भी जाती है। पालतू चकोर अपने स्वामी की इच्छा का पूर्णतया अनुवर्ती हो जाता है। कुछ लोग चकोर लड़ाते भी हैं। चकोर का भोजन बीज, अनाज के दाने, पत्तियाँ और छोटे रसदार फल हैं। यह दीमक और अन्य छोटे-छोटे कीड़ों के डिंभों को भी खाता है। वर्ष के सभी महीनों में इस पक्षी को देखा गया है। घास के मैदानों, जोते हुए खेतों और खड़ी फसलों आदि में यह भूमि पर अपना घोंसला बना कर रहता है।[2]

चकोर के पर्यायवाची नाम 'रक्ताक्त' और 'विषसूचक' हैं। शब्दार्थ की दृष्टि से इन नामों की सार्थकता है। चकोर के शरीर का रंग लाल होता ही है। वाग्भट ने विषसूचक पक्षियों में हंस, मोर और चकोर की गणना की है। उसके अनुसार विष के प्रभाव से हंस की चाल भंग होने लगती है, मोर कटु शब्द करने लगता है, और चकोर परस्पर का प्रेम-भाव छोड़ देते हैं।[3] इसलिए राजा लोग भोजन के समय इन पक्षियों को पास रखते थे। मोनियर विलियम्स ने कामन्दकीय नीतिशास्त्र, नैषध, मनु पर कुल्लू की टीका(७।२१७), महाभारत, ललितविस्तर और सुश्रुत के आधार पर लिखा है कि चकोर जब

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] Salim Ali : The Book of Indian Birds P. 307

[3] वाग्भट ७।१४–१७

विषयुक्त भोजन की ओर देखता है तो उसकी आँखें लाल हो जाती हैं।[१] चकोर और चकोर की आँखें दोनों ही सुन्दर नेत्रों के प्रसिद्ध उपमान हैं।[२]

चकोर के चन्द्रिका-पान के सम्बन्ध में पुष्ट वैज्ञानिक प्रमाण नहीं हैं। पक्षिशास्त्रियों ने केवल यह बात लक्ष्य की है कि यद्यपि यह पक्षी दिन में भी रह-रह कर बोल उठता है, किन्तु संध्या समय यह अत्यन्त मुखर हो जाता है। इसकी इस मुखरता में उत्सुकता के भाव का अनुभव किया गया है।[3]

(१) चन्द्रिका-पान

राजशेखर ने इस कविप्रसिद्धि के उदाहरण में जो श्लोक दिया है, उसमें चकोरांगनाओं को चंचुओं को ऊपर उठाकर और गलों को फैलाकर चन्द्रिका-पान करने का वर्णन है।[४]

सुभाषितरत्नभण्डागार में चकोर और चन्द्रमा सम्बन्धी कई अन्योक्तियों में यह भाव व्यक्त है।[५]

---

१ मोनियर. पृ. ३८०

२ दे. परि. २ प्रसिद्धउपमान, नेत्र
उदा. चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ। रघु. ७।२५

3 कालिदासेर पाखी, पृ. १४८, [पं० ह० प्र० द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३९०]

४ एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि रोधोभुव—
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्द्धचंचु विचलत्कण्ठं चकोरांगनाः॥
—काव्यमी. अ. १४

५ यस्योदयेनैव दिशां प्रसादास्तापायनोदोऽपि जगत्रयस्य
चकोरचंचूपुटपारणे तु चन्द्रस्य तस्यास्ति कियान्प्रयासः
—सुभाषित. २२०।१९

तृष्णालोल विलोचने कलयति प्राचीं चकोरीगणे
मौनं मुंचति किं च कैरवकुले कामेधनुर्धुन्वति
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः
—सुभाषित. २६१।१०१

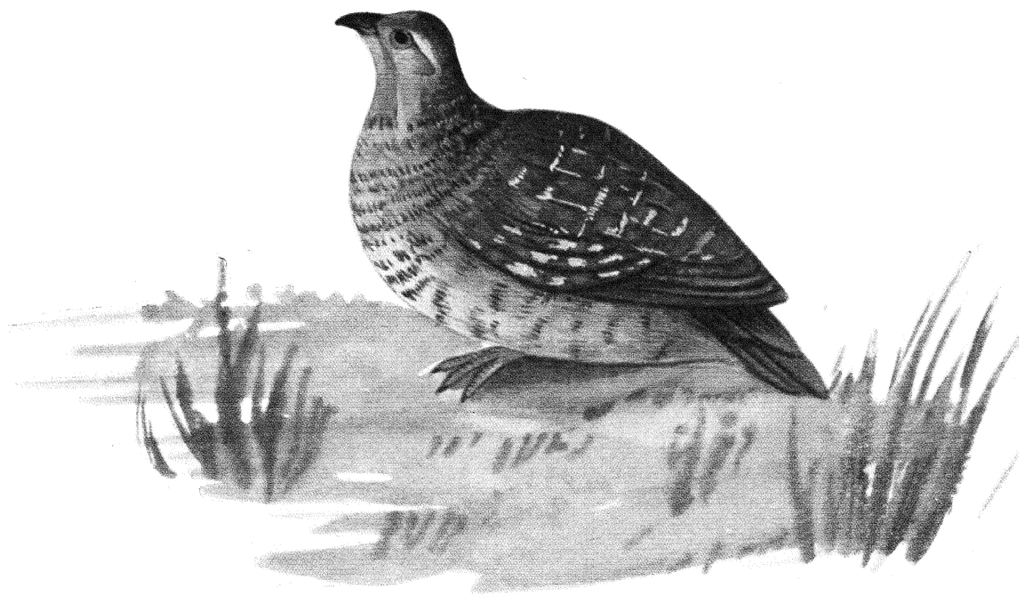

चकोर

चकोर के चान्द्रिका-पान की पूर्वस्वीकृति के आधार पर चन्द्रमा के प्रति उसके घनिष्ठ अनुराग की धारणा हुई है। इस प्रकार, चकोर अनन्य प्रेमी का प्रतीक हो गया है। चन्द्र मुख का प्रसिद्ध उपमान है, और चकोर नेत्रों का। रूपक द्वारा प्रेमास्पद और प्रेमी के सम्बन्ध की व्यंजना चन्द्र और चकोर के सम्बन्ध से काव्य-परम्परा में होती आयी है। जयदेव ने राधा के मुखचन्द्र के प्रति कृष्ण का चकोर-भाव इसी आधार पर कहा है—

अभिनव जलधर सुन्दर धृतमन्दर ए
श्रीमुखचन्द्रचकोर ! जय जयदेव हरे ! —गीतगो. १

राम और कृष्ण दोनों के नाम 'चन्द्र'-समन्वित हैं। अतः रामभक्त और कृष्णभक्त दोनों ही कोटि के कवियों ने भक्ति की सहज साधना के लिए साधक के मन को चकोर-पद पाने का आदेश दिया है। रहीम का दोहा है—

जेहि रहीम चित आपनो कीन्हो चतुर चकोर।
निसि वासर लाग्यो रहै कृष्णचन्द्र की ओर॥

तुलसीदास ने रामकथा-रूप चन्द्रिका में अनुरक्त संतों को चकोर के समान कहा है—

राम कथा राकेस-कर-सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन-कुमुद-चकोर-चित, हित बिसेषि बढ़ लाहु॥ —मानस १।३२
राम-कथा ससि-किरन समाना।
संत-चकोर करहिं जेहि पाना॥ —वही १।४०

राम और सीता के प्रथम प्रणय-दर्शन से उद्भूत पारस्परिक आकर्षण की व्यंजना भी तुलसीदास ने इसी आधार पर की है—

राम की स्थिति—

अस कहि फिर चितए तेहि ओरा।
सिय-मुख-ससि भए नयन चकोरा॥ —मानस १।२३०

आः सर्वतः स्फुरतु कैरवमापिवन्तु
ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः
यातो यदेष चरमाचलमूल चुम्बी
पंकेरुहप्रकरजागरणप्रदीपः॥ —सुभाषित. २६०।९३

और, उसी प्रसंग में सीता की स्थिति—

अधिक सनेह देह भई भोरी ।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ।। —वही. १।२३३

चन्द्र और चकोर में क्रमशः प्रेमास्पद और प्रेमी के प्रतीकार्थ के कारण ही यह सम्भव है कि चन्द्र चकोर हो जाए, यदि प्रेमास्पन्द अन्यत्र स्वयं प्रेमी बन जाए तो। विद्यापति ने ऐसी ही चामात्कारिक व्यंजना की है। गोकुल की गोपियों का चन्द्रमा (कृष्ण) मथुरा जाकर (कुब्जा के मुखचन्द्र के प्रति) चकोर हो गया—

गोकुल चान चकोरल रे,
चोरी गेल चन्दा । —विद्या. पदा. २५३

ऋतु-वर्णन के लिए भी इस कविप्रसिद्धि का उपयोग हुआ है। बिहारी ने शीतकाल के सूर्य की मन्दता की व्यंजना के लिए ऊहात्मक अतिशयोक्ति द्वारा माघमास के सूर्य में चकोरी के लिए चन्द्रमा का भ्रम उत्पन्न होते देखा—

लगति सुभग सीतल किरनि निसि-सुख दिन अवगाहि ।
माह ससी-भ्रम सूर-त्यों, रही चकोरी चाहि ।
—बिहारी, ५९२

सेनापति ने शिशिर के आलम्बनपरक वर्णन में इसी भाव को व्यक्त किया है—

सिसिर मैं ससि कौं सरूप पावै सविताऊ
घाम हू मैं चाँननी की दुति दमकति है ।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है ।
—कवित्तरत्ना. ३।५०

(२) अंगार चुगना

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर बताया है कि चकोर के आगे यदि अंगार रखा जाये तो वह उसकी ओर लपकता अवश्य है, उस पर चोंच मारने का प्रयास करता है; किन्तु, कदाचित् अंगार की ऊष्मा के कारण, शीघ्र ही हट जाता है। पक्षिशास्त्र के ग्रंथों में प्रस्तुत लेखक को चकोर के इस

स्वभाव का उल्लेख नहीं मिला। निश्चय ही, चकोर को अंगार में अपने किसी खाद्य-पदार्थ का भ्रम होता होगा। सम्भव है, अंगार के लाल रंग में कीट-डिंभ का भ्रम उसे होता हो। जो हो, चकोर के अंगार चुगने की बात अवश्य ही कल्पित है। किन्तु रुचि-वैलक्षण्य की सफल मार्मिक व्यंजना के लिए काव्य में उसका उपयोग है। चकोर के चन्द्रिका-पान की कविप्रसिद्धि के आधार पर ही उसकी अंगार चुगने की वृत्ति की कल्पना का विशेष महत्व है। कहाँ तो एक ओर अमृत-सदृश शीतल चन्द्रकिरणों का पान; और कहाँ, उसके पूर्णतया विपरीत, दाहक अंगार का चुगना! दोनों में कोई संगति नहीं है। किन्तु दृश्यमान असंगति के भीतर स्वभावगत संगति भी विरल नहीं होती। चकोर की इस प्रकार की विरोधपरक द्विधावृत्ति को कवियों ने उसके स्वभाव की विवशता माना है। बिहारी ने अन्योक्ति के ढंग पर कहा है—

भली बुरी जैसी परौ बानि न ताकी जाय।
अंमृत पियै चकोर वहि, वहै अँगार चबाय॥

—बिहारी, पृ. २६१ दोहा १०२

गही टेक सो ना तजे चोंच जीभ जरि जाय।
मीठो कहा अँगार को ताहि चकोर चबाय॥

—वही, पृ. २५६, दोहा ३१

किन्तु इससे चकोर के अनन्य प्रेमी स्वभाव में कोई व्यवधान नहीं होता, वह हठी या तो चंद्रमयूख ही चुगता है या फिर अंगार। इन दो परासीमाओं के अतिरिक्त अन्य ओर उसकी वृत्ति का स्खलन नहीं होता—

चित दै चितै चकोर त्यों, तीजें भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंदमयूख॥

—बिहारी, १७६

अंगार चुग कर बेसुध पड़ रहने वाला चकोर चन्द्रमा के दर्शन करते ही पुनः प्रफुल्लचित्त हो जाता है। केशवदास ने इस विश्वास के आधार पर भरत की उस स्थिति की व्यंजना की है, जब उन्होंने हनुमान द्वारा राम के वन से लौटने की सूचना पाई—

जैसे चकोर लीलै अँगार। तेहि भूलि जात सिगरी सँभार।
जी उठत उनत ज्यों उदधिनंद। त्यों भरथ भए सुनि 'रामचन्द्र'।

—रामचन्द्रिका २१।२५

चकोर के अंगार चुगने के विषय में इस कल्पना को भी अवकाश है कि चन्द्रमा की शीतल किरणों से तृप्ति पाने वाले कोमल-वृत्ति चकोर को दिन के समय सूर्य की जिन तप्त किरणों को सहन करना पड़ता है, वे उसके लिए अंगार-तुल्य हैं। काव्यमीमांसा में वर्षा को 'चकोरहर्षी' कहा गया है।[१] वर्षा-कालीन सूर्यकिरणों में प्रखरता का अभाव होने के कारण ही, चकोर के लिए वे दुःखदायी नहीं होतीं। देव का ग्रीष्मवर्णन इस धारणा का पोषक है—

राति भई न अथै दिन सूरज, पच्छिम ते उठि पूरब ऊग्यौ
घाम बन्यौ घर बाहेर हू, सुधरा बस्यौ जोग जुगन्त के जूग्यौ
भासै अकास चहूँ चिनगी सु चकोरन को चमकै मनो चूक्यौ
चक्रनि देव चितै बिधि बक्रनि, दोषहि देखि दुखै दुख सूग्यौ।

—शब्दरसा. पृ. ११

---

१ चकोरहर्षी यति चारचौरो वियोगिनीवीक्षितनाथवर्त्मा।
गृहान्प्रतिप्रस्थितपान्थसार्थः कालोऽयमाघातनभा पयोदैः
—काव्यमी. अ. १८

चातक (पपीहा)

काव्यपरम्परा में चातक का मेघों से प्रेम प्रसिद्ध है[1]।

पक्षिशास्त्रियों में चातक Hawk Cucook के नाम से प्रसिद्ध है। आकार में यह पक्षी कबूतर के लगभग बराबर होता है। मुख्य अन्तर दोनों में यह है कि चातक अपेक्षाकृत कृश दिखाई देता है और उसके लम्बी दुम रहती है। इसका रूप-रंग शिकरे से अधिक समानता रखता है। लम्बाई में केवल पन्द्रह-सोलह इंच का होने के कारण यह शिकरे का बच्चा सा जान पड़ता है। नर और मादा दोनों एक जैसे होते हैं। इस पक्षी के डैने और शरीर का ऊपरी भाग हल्के सिलेटी भूरे रंग का होता है। दुम के पास से सफेद छोटी-छोटी धारियाँ रहती हैं। लम्बी दुम के बीच दो-चार काली और सफेद आड़ी पट्टियाँ. तथा दुम के छोर पर एक सफेद धारी रहती है। चोंच से सीने तक का रंग सफेदी लिये हुए होता है। पेट के पास भूरी धारियाँ रहती हैं। एक अन्य जाति का काला पपीहा भी बरसात में दक्षिण की ओर से आता देखा गया है। वह बहुत कुछ तो भूरे पपीहे के समान ही होता है, किन्तु उसके बुलबुल या चंडूल की तरह चोटी रहती है। पपीहे की आँख की पुतली पीली, और चोंच हरापन लिये पीली होती है। चोंच के आगे का भाग काला होता है। टाँगें भी पीली होती हैं।

पपीहे का निवास मुख्यतः घने जंगलों और सदाबहार वनों में रहता है। यह आंशिक रूप से बस्तियों और खेतों के पास के उद्यानों में आम आदि वृक्षों पर भी रहता है। यों तो पपीहा फल खाने वाले पक्षियों में से है, किन्तु कीड़ों-मकड़ों से भी इसे परहेज नहीं होता। रोंएदार जुरई (कमरा) पक्षी को यह बड़े स्वाद से खाता है। इसके अंडे देने का समय मार्च से जून तक अर्थात् गर्मियों का है। कोयल की भाँति चातकी भी अपने अंडे स्वयं नहीं सेती। कोयल तो कौवे जैसे मक्कार पक्षी को इस विषय में मूर्ख बनाती है, किन्तु यह चरखी जैसी सीधी-सादी चिड़िया से काम निकालती है। चरखी को पता नहीं चलता और पपीहे की मादा उसके अंडों के पास अपने अंडे दे आती है। चरखी अनजान में ही पपीहे के बच्चों को पाल-पोस कर बड़ा कर

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

देती है। इसके अंडों का रंग भी चरखी के अंडों के समान नीला होता है, आकार में अवश्य वे कुछ बड़े होते हैं।

जनसामान्य में पपीहा अपनी विशिष्ट बोली के लिए प्रसिद्ध है। वसन्त के बाद से बरसात तक इसकी बोली सुनी जाती है। जाड़ों में तो यह प्रायः मौन रहता है। हमारी भाषा में इसकी बोली 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' के रूप में सुनी जाती है। उसके मार्मिक अर्थ के आधार पर पपीहे को विरहदग्ध प्रेमी माना गया है। इसी कारण इसकी बोली काव्य में शृंगारी विभाव के रूप में स्वीकृत है। किन्तु रोचक बात यह है कि अन्य भाषाओं में वह भिन्न प्रकार से गृहीत है। उसका सबसे अधिक विचित्र रूप अंग्रेजी में है। वहाँ उसका 'ब्रेन फ़ीवर (Brain Fever)' रूप माना गया है। इस रूप का शाब्दिक अर्थ 'मस्तिष्क-ज्वर' सूचित करता है कि अँग्रेजी मनोवृत्ति को पपीहे की बोली पूर्णतया अप्रिय है। हाँ, मराठी भाषा में उसका जो रूप गृहीत है, उसका अर्थ वर्षा से पपीहे के प्रेम की उपयुक्त व्यंजना करता है। वह रूप है—'पाओस आल' (पावस आता है)।[१] इस प्रकार का अन्तर पपीहे के सम्बन्ध में विभिन्न प्रदेशों के मनुष्यों की रुचियों और भावनाओं का परिचायक है।

मेघों से चातक के प्रेम की कल्पना का आधार मुख्यतः यही जान पड़ता है कि वर्षाऋतु में इस पक्षी में विशेष चांचल्य आ जाता है और इसका स्वर अधिक मुखर हो जाता है। इसके स्वर के अर्थ में प्रेम की अथवा वर्षा के स्वागत की ध्वनि भी इस कल्पना में सहायक है। काव्यपरम्परा में चातक का वर्णन वर्षा और मेघों से उसके अविच्छिन्न सम्बन्ध में ही हुआ है। इन्द्र की सहायता करके लौटते हुए राजा दुष्यन्त का रथ जब जलभरे मेघों के ऊपर चल रहा था तो, कालिदास के वर्णन के अनुसार, रथ के पहियों की तीलियों के बीच से निकल-निकल कर चातक इधर-उधर उड़ रहे थे।[२] ऋतु-संहार के वर्षा-प्रसंग में कालिदास ने मेघों से याचना करने वाले तृषित चातकों

---

[१] कुँवर सुरेशसिंहः 'हमारी चिड़ियाँ' पृ. २४-२५, और Salim Ali : 'The Book of Indian Birds' p. 183 पर आधृत

[२] अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः। —शाकुन्तल ७।७

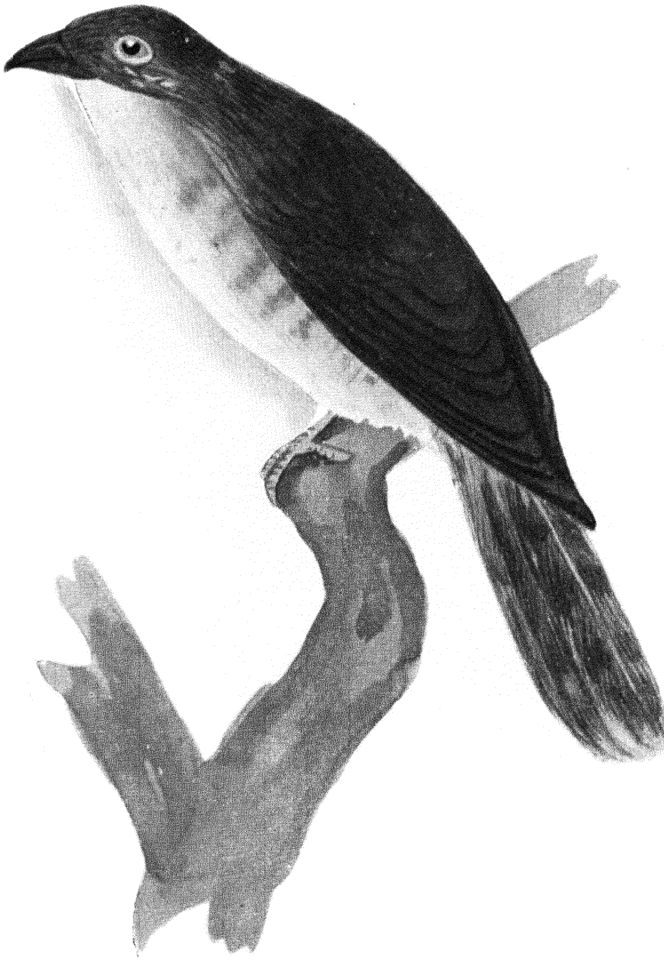

चातक

का वर्णन किया है।[१] सुभाषितरत्न-भाण्डागार में संगृहीत एक पद में भी वर्षा-जल से तृप्त होने की चातक की आकांक्षा व्यंजित है।[२]

कवियों की धारणा के अनुसार चातक की प्यास मेघों के जल से बुझती है, अन्य कोई जल उसे नहीं रुचता। अतः यदि समय पर वर्षा का जल उसे मिल जाए, तब तो वह तृप्त हो जाता है, अन्यथा प्यासा ही रह जाता है। यह उसकी अविचल टेक है। हाँ, तृषाकुल होकर वह मेघों से याचना अवश्य करता है। इस याचना से ही मेघों के प्रति उसका श्रद्धासमन्वित प्रेम व्यक्त होता है। इस आधार पर चातक को आदर्श प्रेमी माना गया है। अनन्य प्रेम की व्यंजना का यह प्रसिद्ध आधार है।

विद्यापति ने नवीन जलधर-वारि के प्रति चातक के अनुराग-व्रत से अनन्य प्रेम का भाव ध्वनित किया है—

सहज चातक छाड़ए न बरत
न बइसे नदीतीर
नबिन जलधर-बारि बिनु
न पिबए ताहरि नीर।

—विद्या. पदा. पृ. १८९

चातक की प्यास बुझाने वाले मेघ-जल के सम्बन्ध में भी कवियों की विशेष धारणा यह रही है कि स्वाति नक्षत्र में बरसने वाला जल ही चातक को अभीष्ट है, अन्य समय का नहीं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि स्वाति नक्षत्र की वर्षा को अनेकविध शुभ माना गया है। स्वाति-बिंदु के विषय में सामान्य विश्वास है कि वह सीप में जाकर मोती बनता है, केले में

---

[१] तृषाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः॥

—ऋतु २।३

[२] दम्भोलिस्फूर्जदम्भोधर विपुलतडिद्दम्भगम्भीरनादै-
रम्भः सम्भारसम्भावन कुतुकिकुलं चातकानां प्रनृत्यत्
ऊर्ध्वं विन्यस्तचंचूपुटमुपरि परिभ्राम्यदुत्पातवातै-
रम्भोदोन्मुक्तमम्भःकणमपि न चिरात्प्राप्य नम्रं मिथोऽभूत्

—सुभाषित २१८।२१

जाकर कपूर बनता है, बाँस में वंशलोचन का रूप धारण करता है और सर्प के मुख में विष हो जाता है[१]। वैज्ञानिक आधार पर इस विश्वास की पुष्टि यद्यपि नहीं होती; तो भी, स्वाति-विन्दु के महत्व का इससे परिचय मिलता है। चातक की तृप्ति को स्वातिविन्दु तक परिमित मान लेने पर, उसके माध्यम से प्रेम की अधिक मार्मिक व्यंजना का आधार प्राप्त हुआ है, क्योंकि इससे चातक की प्रेम-वृत्ति की अनन्यता अधिक एकोन्मुखी हो गई है।

जायसी ने इसी आधार पर पद्मावती द्वारा रत्नसेन के प्रति एकोन्मुख प्रेम-भाव का निर्देश कराया है। रत्नसेन के प्रेमपत्र के उत्तर में पद्मावती का कथन है—

चात्रिक होहु पुकारु पिआसा।
पिउ न पानि रहु स्वाति की आसा॥

—पदमा. २३४।५

सूरदास ने भी प्रेम के आदर्श की व्यंजना चातक के व्रत द्वारा की है—

सुनि परिमिति प्रिय प्रेम की (रे) चातक चितवन-पारि।
घन आसा सब दुख सहै, (पै) अनत न जाँचै बारि॥

—सूर. ३२३

तुलसीदास ने यद्यपि अपने काव्य के अन्य प्रसंगों में भी मेघ के प्रति चातक के प्रेम द्वारा विविध व्यंजनाएँ की हैं, किन्तु उन्होंने दोहावली में 'चातक चौतीसी' नाम से प्रसिद्ध चौंतीस दोहों की रचना, अन्योक्ति-पद्धति पर अनन्य प्रेम की निरतिशय मर्यादा का बोध कराने के उद्देश्य से ही की है। कठोर व्रत रूपी भक्ति का आदर्श ही इसमें उनका प्रतिपाद्य है। चातक भक्त का प्रतीक है और मेघ भगवान का; स्वाती-जल भगवद्कृपा का संकेत करता है। कुछ उद्धरण ये हैं—

चातक तुलसी के मतें, स्वातिहु पिए न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटें घटैगी आनि॥ —दोहा. २७९
सुनि रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥ —दोहा. ३०६
जाचै बारह मास, पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास, जोगवत नेही नेह मन॥ —दोहा. ३०७

---

[१] दे. 'मोती' प्र.

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरुमूल।
दोइ हेतु चितु चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल ॥ —दोहा ३०९

रामचरितमानस में भगवान राम के निवास करने योग्य हृदय वाले भक्त के लक्षण चातक की वृत्ति के अनुयायी हैं—

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी।
रूपबिंदु-जल होहिं सुखारी ॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक।
बसहु बंधु निसचय रघुनायक ॥ —मानस ३।१२८

राम-भक्त और कृष्ण-भक्त दोनों कवि-चातकों के इष्टदेव, इस कवि-प्रसिद्धि के अनुरोध से, एक ही—घनश्याम (राम और कृष्ण दोनों के शरीर मेघ जैसी कांतिवाले हैं) हो जाते हैं। तुलसीदास और सूरदास के काव्यों से इस कथन की पुष्टि में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

उदाहरणार्थ—

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥ —दोहा २७७

घन-आनंद को इस विषय में बड़ी सुविधा यह रही है कि स्वयं उनके नाम में (जिसका उल्लेख वे प्रायः प्रत्येक छन्द में करते हैं) चातक के प्रेमास्पद का नाम गतार्थ है। अतः प्रेमनिवेदन के प्रसंग में वे अन्योक्ति के सहारे अपने चातकरूप मन का सम्बन्ध अपने नाम से जोड़ देते हैं—

घन आनंद रस ऐन कहौ कृपानिधि कौन हित।
मरत पपीहा नैन, दरसौ पै बरसौ नहीं। —घनग्रं, पृ. १३०
घन आनँद जीवन रूप सुजान हौ, प्रान पपीहापनेई पढ़े। —वही, सुजान ३२०

भिखारीदास अपने निष्ठुर प्रेमास्पद की वाणी में स्वाति-बूंद का, और अपने श्रवण में चातक का आरोप करके, उपालम्भ देते हैं—

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री
तेरी तनदुति-केसरि कों नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी-स्वाति-बुंदनि को चातक भो
स्वासनि को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो।—शृंगारनिर्णय ९७

रत्नाकर ने ब्रजवासी घनश्याम कृष्ण की कृपा के आकांक्षी अनेक देवताओं को पपीहा-पद दिया है—

जाकी एक बूंद कौं विरंचि विबुधेस, सेस ,
सारद, महेस ह्वै पपीहा तरसत हैं।
....
कामिनी सुदामिनी-समेत घनश्याम सोई
सुरस समूह ब्रज बीच बरसत हैं। —हिंडोला, १

आधुनिक काल तक इस कविप्रसिद्धि का पालन दिखाई देता है। हरिऔध, गुप्त, प्रसाद, पन्त और महादेवी के काव्यों से उदाहरण प्रस्तुत हैं—

ज्यों होता है शरद ऋतु के बीतने से हताश
स्वाती-सेवी अतिशय तृषावन्त प्रेमी पपीहा ,
वैसी ही थी कुँवर वर के द्वारिका में पधारे
छाई सारी व्रज-अवनि में सर्वदेशी निराशा।
—प्रियप्रवास, १७।८

आठ मास चातक जीता है अपने घन का ध्यान किये।
आशा कर निज घनश्याम की हमने बरसों बिता दिये।
—साकेत, एकादश सर्ग

जहाँ मरुज्वाला धधकती
चातकी कन को तरसती ,
उन्हीं जीवन-घाटियों की
में सरस बरसात रे मन। —कामायनी, निर्वेद स.

सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत्प्राण के भी सहचर ,
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवनधर। —पन्त, पृ. २३

नव मेघों को रोता था
जब चातक का बालक मन ,
इन आँखों में करुणा के
घिर घिर आते थे सावन। —महादेवी, पृ. ४०

रत्न-वर्ग

सुवर्ण-रत्नादि

कविसमय के अनुसार—

(१) पर्वतमात्र में सुवर्ण-रत्नादि का वर्णन होता है।[१]

(२) सर्वत्र समुद्र में रत्नों का वर्णन होता है।[२]

(१) (क) पर्वत मात्र में सुवर्ण

भौगोलिक साक्ष्य के आधार पर भारतवर्ष में सुवर्ण की प्राप्ति दो स्रोतों से होती है—(१) नदियों की घाटियों में एकत्र वालुकणों से, (२) स्वर्णधारी चट्टानों से। पहले स्रोत से प्राप्त स्वर्ण सोनाचूर (Alluvial Gold) कहलाता है। ब्रह्मपुत्र गंगा और सिंहभूमि प्रदेश की घाटियों से सोनाचूर निकाला जाता रहा है। स्वर्णधारी चट्टानों का प्रमुख क्षेत्र दक्षिण का धारवाण प्रदेश है, जिसमें कोलार की सोने की खान सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

नदियों की घाटियों में प्राप्त स्वर्ण-कणों का आदिस्रोत पर्वत ही हैं। अतः यह सिद्ध है कि स्वर्ण का उद्गम पर्वतों में ही है। किन्तु प्रत्येक पर्वत में स्वर्ण नहीं होता।

भारतवर्ष में आदिकाल सें सुवर्णमय पर्वत के अस्तित्व की धारणा रही है। प्राचीन देश-विभाग के विवरण में विश्वरचना के केन्द्र में जिस मेरु पर्वत की स्थिति मान्य है, उसे सुवर्णमय कहा गया है।[3] वह आद्य वर्षपर्वत है।[४]

[१-२] दे. परि. १ (क), (ख)

[3] मध्ये जम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां
मेरुर्नाम्ना कांचनः शैलराजः।
यो मूर्तानामोषधीनां निधानं
यश्चावासः सर्ववृन्दारकाणाम्॥
तमेनमवधीकृत्य देवेनाम्बुजजन्मना।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च विश्वस्य रचना कृता॥ —काव्यमी. अ. १७

[४] स भगवान्मेरुराद्यो वर्षपर्वतः —वही

पुराणों में उसके गौरव का वर्णन मिलता है।[१] महाभारत में उत्तरदिशा-वर्णन के प्रसंग में हिमालय को 'कनकाकर' कहा गया है।[२]

अपने वर्ण और गुणों के कारण स्वर्ण धातु सदा से महार्घ रही है। अतः आदर्शपरक भावना से उसकी स्थिति प्रत्येक पर्वत में कल्पित हुई है।

राजशेखर द्वारा इस प्रसंग में दिये गये उदाहरण में जीमूतभर्ता नामक पर्वत को, स्वर्ण के विस्तार के कारण, दिशाओं में प्रसिद्ध कहा गया है—

नागावासश्चित्रपोताभिरामः
स्वर्णस्फीति व्याप्त दिक्चक्रवालः
साम्यात्सख्यं जग्मिवानम्बराशे—
रेष ख्यातस्तेन जीमूतभर्ता । —काव्यमी. अ. १४

(१) (ख) पर्वत मात्र में रत्नादि

रत्नों की प्राप्ति भी पर्वतीय अथवा अर्द्धपर्वतीय प्रदेशों से होती है। भारतवर्ष में दक्षिण के अनन्तपुर बिलारी गुन्टूर और गोदावरी जिलों से, मध्य-भारत के बुन्देलखण्ड प्रदेश से, मध्यप्रदेश के चन्दा क्षेत्र से, और उड़ीसा के साँभरपुर से परिमित मात्रा में रत्नों की प्राप्ति होती है। स्पष्ट ही, प्रत्येक पर्वत में रत्नों की स्थिति अवास्तविक है।

भारतवर्ष में रत्नों का महत्व केवल उनकी बहुमूल्यता के कारण ही नहीं रहा है, अपितु उनके शुभ और अशुभ प्रभावों की धारणा भी इसके मूल में है। वर्णों के आधार पर विभिन्न रत्नों का सम्बन्ध ग्रहों से माना गया है,[3] और

---

[१] उदा.—ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृंगैः कांचनोज्ज्वलैः
कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम्
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः —भारत. १।७।५-६.

[२] जीमूतस्यात्र विपर्षेरुपतस्थे महात्मनः।
साक्षात् हैमवतापुण्यो विमलः कनकाकरः।
—भारत. ५।११०।२३-२४.

[3] माणिक्यंतरणेः सुजात्यममलं मुक्ताफलं शीतगो—
र्माहेयस्य च विद्रुमोनिगतः सौम्यस्य गारुत्मकम्

ज्योतिष के अनुसार उनके गुण और प्रभाव भी ग्रहों के अनुरूप निर्धारित हैं।[१] रत्नों के इस अनेक रूप महत्व ने ही उन्हें पर्वत मात्र में नियत करने की भावना को जन्म दिया जान पड़ता है।

सुवर्णमय मेरु पर्वत को अनेक प्रकार के रत्नों से युक्त माना गया है।[२] कालिदास ने हिमालय की शोभा का वर्णन करते हुए उसके मेरु शिखर पर भास्वर रत्नों का उल्लेख किया है। कुमारसम्भव के आरम्भ में ही उन्होंने हिमालय को अनन्त रत्नों का उत्पन्न करने वाला कहा है।[3] भारवि ने भी रत्नराशियों से युक्त हिमालय-शिखरों का वर्णन किया है।[४] राजशेखर द्वारा दिये गये उदाहरण में इन्द्र-नील पर्वत की नील मणियों का उल्लेख है—

नीलाश्मरश्मिपटलानि महेभमुक्त—
सूत्कारसीकरविसृंजि तटान्तरेषु ।
आलोकयन्ति सरलीकृतकण्ठनालाः
सानन्दमम्बुदधियाऽत्र मयूरनार्यः ॥ —काव्यमी. अ. १४

देवेजस्य च पुष्परागमसुराचार्यस्य वज्रं शने—
नींलं निर्मलमन्ययोश्चगदितं गोमेदवैदूर्यके ॥ —बृहन्नि. २, पृ. ५५१
माणिक्यं पद्मबन्धोरतिविमलतमं मौक्तिकं शीतभानो—
माहेयस्य प्रवालं मरकतमतुलं कल्पयेदिन्दुसूनो-
देवज्ये पुष्परागं कुलिशमपि कवेर्नीलमर्कात्मजस्य
स्वर्भानोश्चापि गोमेदकमथ विदुरोद्मावितं किन्तु केतोः
—राजनि. सुवर्णादि व. १९५

१ इत्थमेतानि रत्नानि तत्तदुद्देश्यतः क्रमात् ।
योददर्याद्विभृयाद्वाऽपि तस्मिन् सानुग्रहा ग्रहाः ॥ —वही १९६

२ तस्य शृंगमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम् ।
अन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ॥ —भारत. १।१७।९

३ अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एकोहि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्ववांकः ॥
—कुमार. १।३

४ नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमता निकरेणमहाश्मनाम् ।
विहित सांध्यमयूखमिव क्वचिन्निचित कांचन भित्तिपु सानुषु ॥
—किरात. ५।८

जायसी ने, इस कविप्रसिद्धि का अनुरोध न मानकर, स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक स्थल पर नग (रत्न) नहीं होते। वस्तुतः रत्नों का गौरव भी इसी में है—

थल थल नग न होइ जेहि जोती।
जल जल सीप न उपनै मोती॥
बन बन बिरिख चँदन नहिं होई।
तन तन बिरह न उपजै सोई॥[1] —पदमा. २७।२२।१-२

तुलसीदास ने पर्वत से माणिक्य का सामान्य सम्बन्ध व्यक्त किया है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥—मानस १०।१

प्रसाद ने 'मणिरत्न-निधान' विशेषण द्वारा हिमालय की महत्ता व्यंजित की है—

विश्व-कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल सन्तोष निदान,
और डूबती सी अचला का
अवलंबन मणि-रत्न-निधान,
अचल हिमालय का शोभनतम
लता-कलित शुचि सानु शरीर।

—कामायनी. आशा स.

(२) सर्वत्र समुद्र में रत्नों का वर्णन

समुद्रमंथन के पौराणिक आख्यान में समुद्र से प्राप्त सभी बहुमूल्य पदार्थों को रत्न कहा गया है, यद्यपि वास्तविक रत्नरूप केवल कौस्तुभ मणि थी। लक्ष्मी भी, जो कि वैभव और समृद्धि की अधिष्ठात्री देवी होने से साक्षात् रत्नरूपा हैं, समुद्र से उत्पन्न हुई थीं। समुद्रमंथन के समय ब्रह्मा जी ने देवों और दैत्यों को सम्बोधन करके कहा था कि समस्त औषधिओं और रत्नों की

---

[1] तु.—शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

—सुभाषित. १६३।१८३

प्राप्ति के बाद भी अमृत मिलने तक मन्थन करते रहो।[1] इससे स्पष्ट है कि ऐरावत, उच्चैश्रवः आदि चौदह पदार्थों में से सभी को रत्न माना गया।

मोतियों की गणना भी रत्नों में है, समुद्र से उनकी प्राप्ति होना वास्तविक है। अतः पौराणिक विश्वास और भौतिक तथ्य, इन दोनों आधारों पर समुद्र का रत्नाकर नाम सार्थक है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि समुद्र में प्रत्येक स्थल पर मोती नहीं होते, और उक्त चौदह रत्न तो केवल क्षीरसागर से प्राप्त हुए थे। पूर्णताकांक्षिणी आदर्श-भावना ही इस कवि-प्रसिद्धि के मूल में जान पड़ती है।

काव्य-परम्परा में समुद्र के रत्नों से पूर्ण सम्पन्न होने की धारणा व्यक्त होती रही है। कालिदास के वर्णन के अनुसार तारकासुर को रत्नों की भेंट देने के लिए, समुद्र तब तक जल के भीतर प्रतीक्षा करता रहता था जब तक कि रत्न अच्छी तरह बढ़ न जाएँ।[2] बाल्मीकि ने अयोध्या नगरी के वैभव की व्यंजना, उसे समुद्र के समान रत्नाढ्य कह कर, की है।[3] सुभाषितरत्न-भाण्डागार में समुद्र सम्बन्धी अनेक अन्योक्तियों में, उसके रत्नों का उल्लेख है।[4]

प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्र) के निम्नोद्धृत दोहे में इस भाव की पुष्टि के लिए कि स्वामी सुभृत्य को भी छोड़ देता है और खलों का सम्मान करता है, कहा गया है कि सागर तिनके को ऊपर धारण करता है और रत्नों को तल में डाल देता है—

---

[1] सर्वोषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह।
मनन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः॥ —भारत. १।१७।१३

[2] तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः।
कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते॥ —कुमार. २।३७

[3] कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुति मनोहरम्॥ —रामा. १।३।८

[4] उदा.—नावज्ञा नाप्यवैदग्ध्यमुदेधर्महिमैव सः
यत्तीरपंकमग्नानि महारत्नानि शेरते।
रत्नैरापूरितस्यापि मल देशोस्ति नाम्बुधेः
मुक्ताः कतिपयाः प्राप्य मातंगा मदविह्वलाः।
—सुभाषित. २२६।३-४

सायरु उप्परि तणु धरइ, तलि मल्लइ रण्णाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, सम्माणेइ खलाइं ॥

पदमावत में समुद्र-पुत्री लक्ष्मी द्वारा पद्मावती को भेंट किये गये पाँच बहुमूल्य पदार्थों को नग (रत्न) कहा गया है—

समदन दीन्ह पान कर वीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा।
और पाँच नग दीन्ह विसेखे। स्रबन जो सुने नैन नहिं देखे ॥
एक जो अंम्रित दूसर हंसू। औ सोनहा पंछी कर बंसू।
और दीन्ह साबक सादूरू। दीन्ह परसनग कंचन मूरू ॥

—पदमा. २६।३-६

इस कविप्रसिद्धि की व्याप्ति आधुनिक काव्य तक है। प्रलय-पयोधि के तट पर बैठे मनु को कामायनी ने 'तरंगों से फेंकी मणि' सम्बोधन किया—

कौन तुम संसृति-जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक। —कामायनी, श्रद्धा स.

पन्त ने तारावलि में सांध्यसिन्धु के रत्नों की उत्प्रेक्षा की है—

फिर बाढ़व से सान्ध्य-सिन्धु में
सुलग सोख, उसको अविराम
बिखरा देते तारावलि से
नभ में उसके रत्न ललाम। —पन्त, पृ. २६

———

मोती

कविसमय के अनुसार मोतियों की उत्पत्ति ताम्रपर्णी नदी में ही मानी गई है।[1]

सामान्यतः मोती सीप से प्राप्त होते हैं। सीप मछली की जाति का एक जलजीव है। उसका अन्य नाम सुतुही है। उसे अंग्रेजी में Oyster कहते हैं।

मोती की प्राप्ति के अन्य स्रोतों का भी उल्लेख मिलता है। राजनिघंटु के अनुसार हाथी, सर्प, मीन, सुअर, शंख, मेघ, और बाँस में भी मोती उत्पन्न होते हैं।[2] गरुडपुराण में कहा गया है कि शंख और हाथी से प्राप्त मोती निकृष्टतम होते हैं।[3] धारणा रही है कि स्वातिनक्षत्र के वर्षा-विन्दु सीपी के मुख में पड़ने पर तो मोती बनते हैं, किन्तु अन्य स्थलों पर विभिन्न रूप धारण करते हैं; जैसे साँप के मुख में विष, कदली में कपूर आदि।[4] इसमें वैज्ञानिक सत्य कुछ भी नहीं जान पड़ता।

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] मातंगोरगमीनपोत्रिशिरसस्त्वक्सारशंखाम्बुभृत्।
शुक्तानामुदरांच मौक्तिकमणिः स्पष्टं भवत्यष्टधा॥
—राजनि. सुवर्णादि व. १५६

[3] गरुड पु. अ. ६९

[4] जोगिन्ह बहुतै छन्द ओराहीं। बुँद सेवातिहि जैस पराहीं।
परै समुंद्र खार जल ओहीं। परै सीप मुँह मोती होहीं।
परै पुहमी पर होइ कचूरू। परै कदली महँ होइ कपूरू।
परै मेरु पर अंम्रित होई। परै नाग मुख बिख होइ सोई॥
—पदमा. २७।२०।४

तेरो कल बोल कल-भाविन को स्वाति-बूँद
जहाँ जाइ परे तहाँ तैसोई समूर है।
ब्याल मुख विष ज्यों, पियूष ज्यों पपीहा मुख
सीपी मुख मोती, कदली मुख कपूर है। —शब्दरसा. पृ. ३२

गरुडपुराण में मोती के आठ आकर-प्रदेश कहे गये हैं। उनमें ताम्रपर्ण की भी गणना है। अन्य प्रदेशों के नाम हैं—सिंहल, परलोक (आकाश अथवा मेघ), सौराष्ट्र, पारस, कौवेर, पाण्ड्य, और विराट।[१]

प्राचीन देश-विभाग के अनुसार ताम्रपर्ण भारतवर्ष के नौ खण्डों में से एक है और दक्षिणापथ की नदियों के साथ ताम्रपर्णी का उल्लेख है।[२] वर्तमान ताम्रपर्णी नदी की स्थिति दक्षिण में है। वह मलयाचल के अगस्तिकुंड से निकलकर मद्रास के तिनेवेली जिले में बंगाल की खाड़ी में गिरती है। उक्त सिंहल, कावेर और पाण्ड्य जनपदों का उल्लेख, काव्यमीमांसा में दक्षिणापथ के विवरण में हुआ है।[3] श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी ने महाभारत, भीमपर्व (७।५२) में उल्लिखित ताम्रपर्ण को सिंहलद्वीप का पर्याय माना है।[४] इस सबका निष्कर्ष है कि ताम्रपर्ण प्रदेश वर्तमान ताम्रपर्णी नदी के आसपास का ही है, और गरुडपुराण में उल्लिखित मोतियों के आकर-प्रदेशों में से अधिकांश उसी में अवस्थित हैं। दक्षिण-समुद्र का वह भाग मोतियों की उत्पत्ति के लिए आज भी प्रसिद्ध है।

कालिदास ने रघु के दक्षिण-अभियान-प्रसंग में दक्षिण-जनपदों के राजाओं द्वारा उन मोतियों की भेंट का वर्णन किया है, जो ताम्रपर्णी नदी के समुद्र-संगम-स्थल से संचित किये गये थे।[५] अयोध्या लौटते समय राम ने सीता को उस प्रदेश के वे मोती दिखाये थे जो तट की सिकता पर शुक्तियों से अलग होकर फैले थे।[६] इस प्रकार के वर्णन सूचित करते हैं कि यद्यपि मोती समुद्र में ही होते हैं, किन्तु ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर अधिक मात्रा में संचित हो जाते हैं।

---

[१] सैंहलिक पारलौकिक सौराष्ट्रिक ताम्रपर्ण पारसवाः।
कौवेर-पाण्ड्य-विराट-मुक्ता इत्याकराश्चाष्टौ॥

[२-3] काव्यमी. अ. १७

[४] वेद-धरातल, पृ. ४-५

[५] ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः
ते निपत्य ददुतस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥ —रघु. ४-५०

[६] एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः।
प्राप्ता मुहूर्तेन विभान्वेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम्॥
—रघु. १३-१७

ताम्रपर्णी के मोतियों के विषय में कर्पूरमंजरी नाटिका में एक रोचक प्रसंग है। भारतेन्दुकृत अनुवाद से उद्धरण द्रष्टव्य है—"विदूषक—हमने देखा कि हम देवगंगा के स्रोत में सोते-सोते महादेव के मस्तक पर खेलने वाली गंगा में जा पहुँचे। शरद् ऋतु के मेघों ने हमको पेट भर के पिया। तब हम हवा के घोड़े पर आकाश की सैर करते फिरे। फिर ताम्रपर्णी नदी में पहुँचे और जब सूर्य चित्रा नक्षत्र में गये और समुद्र में जाकर वह मेघ बड़ी-बड़ी बूँदों से बरसने लगा तो एक सीप ने हमें भली भाँति पिया। उसके पेट में जाते ही हम छमाशे के मोती हो गये। फिर हम समुद्र की लहरों से टक्कर लड़े और सैकड़ों सीपों में घूमते फिरे। समुद्र से वह सीप निकाल कर फाड़ी गई। तब हम एक दाने से चौसठ होकर बाहर निकले।"

राजशेखर द्वारा दिये गये इस कवि-प्रसिद्धि के उदाहरण में ताम्रपर्णी को मोतियों के लिए कामधेनु कहा गया है, और इस आधार पर अन्य नदियों से उसकी श्रेष्ठता मानी गई है—

कामं भवन्तु सरितो भुवि संप्रतिष्ठाः
स्वादूनि सन्तु सलिलानि च शुक्तयश्च
एतां विहाय वरवर्णिनि ताम्रपर्णी
नान्यत्र सम्भवति मौक्तिक कामधेनुः —काव्यमी. अ. १४

हिन्दी-काव्य में इस कविप्रसिद्धि के पालन के उदाहरण सुलभ नहीं हैं।

वारि-वर्ग

समुद्र

समुद्र के विषय में निम्नलिखित कवि-प्रसिद्धियाँ हैं[१]—

(१) क्षीर-समुद्र और क्षारसमुद्र में अभेद मानना।

(२) सागर और महार्णव में अभेद मानना।

(१) क्षीर-समुद्र और क्षारसमुद्र में अभेद

वैज्ञानिक आधार पर समुद्र के खारी होने का कारण यह है कि मेघों से बरस कर धरती पर गिरने वाले जल में अनेक प्रकार के लवण-पदार्थ घुल कर मिलने लगते हैं। वह समस्त जल समुद्र में पहुँचता है। अरबों बरसों से इसी प्रकार पहाड़ों और चट्टानों के घुलनशील अंश समुद्र में आते रहे हैं। इस तरह, समुद्र में नमक का अंश बराबर बढ़ता रहा है। आज भी यह क्रम वर्तमान है।[२]

पुराणों में उल्लिखित सात समुद्रों में लवण और क्षीर नामक सागरों की भी गणना है।[3] वस्तुतः समुद्र का जल सर्वत्र अत्यन्त खारा होने पर भी, उसके भिन्न-भिन्न भागों में नमक का आपेक्षिक घनत्व भिन्न-भिन्न पाया गया है। जहाँ शोषण अत्यधिक होता है वहाँ लवण की मात्रा भी अत्यधिक है; उदाहरणार्थ—लाल समुद्र, ईसा के पैतृक देश का मृत समुद्र, राजपूताने की साँभर झील आदि। जहाँ वर्षा अधिक होती है, वहाँ समुद्र का खारापन कम होता है।[४]

पुराणों में क्षीरसागर का विशद् वर्णन है। मुख्यतः शेषशायी नारायण के निवासस्थल के रूप में उसका उल्लेख मिलता है। लक्ष्मी अमृत आदि समुद्रोद्भूत चौदह रत्न[५] भी क्षीरसागर से सम्बद्ध हैं। महाभारत में समुद्र-मंथन के प्रसंग में, समुद्रजल के क्षीर में परिणत हो जाने का उल्लेख है। जब

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] विज्ञानहस्तामलक, पृष्ठ ३४७-४८

[3] दे. संख्या वर्ग, समुद्र प्र.

[४] विज्ञानहस्तामलक, पृ. ३४७-४८

[५] दे. रत्न प्र.

देवता और दानव मिल कर समुद्रमन्थन कर रहे थे तो मथानीरूप मन्दराचल के वृक्षों और लताओं से स्रवित होकर अनेक उत्तम रस समुद्र में मिल गये, और इस प्रकार समुद्र का समस्त जल दूध बन गया। दूध से घी भी बनने लगा।[१] महाभारत में रसातल-वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि यहाँ गौ माता सुरभि, निरन्तर पृथ्वी के सार से उत्पन्न दुग्ध का स्रवण करती रहती है; उस क्षीरधारा के गिरते रहने से पृथ्वीतल में पवित्र क्षीरसागर बना है।[२]

क्षीरसागर की पुराणसम्मत विशेषताओं के साथ लवणसागर की विशेषताओं का कथन काव्य में प्रायशः हुआ है। इसके मूल में दोनों का अंगांगी भाव ही प्रधान जान पड़ता है। राजशेखर ने इस प्रसंग में जो उदाहरण दिया है उसमें समुद्र को विष्णु का शयनस्थल, तथा रत्नों एवं लक्ष्मी को जन्म देने वाला कहने के साथ ही अत्यन्त नीरस जल के कारण उसे तृषाकुल प्राणियों के लिए मरुभूमि के कूप-सदृश भी माना है—

---

[१] ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवः सागराम्भसि
महाद्रुमाणां निर्यास वहवश्चौषधी रसाः
तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च
अमरत्य सुरा जग्मुः कांचनस्य च निःस्रवत्
ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः
रसोत्तमेविमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ॥

—महाभारत १।१८।२६-२८

[२] इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथ्वीतलं
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा
क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथ्वीसारसम्भवम्
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम्
अमृतेनाभि तृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता
यस्या क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले
हृदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ॥

—भारत. उद्योगपर्व १०२।१–४

शेतां हरिर्भवतु रत्नमनन्तमन्त—
र्लक्ष्मी प्रसूतिरिति नी विविवामहे हे ।
हा दूरदूरसपयास्तृषितस्य जन्तोः
किं त्वत्र कूपपयसः स मरोर्जघन्यः ।। —काव्यमी. ज. १४

सुभाषितरत्नभाण्डागार में समुद्र के अन्योक्तिपरक वर्णन का एक छन्द भी इस भाव का पोषक है।[1]

समुद्र के खारी हो जाने के विषय में अनेक उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं। इसका आधारगत विश्वास यही ध्वनित होता है कि खारी होने से पहले समुद्र क्षीरमय था। समान्यतः समुद्रस्थ बडवानल को उसके खारी होने का कारण कहा जाता है।[2] जायसी के अनुसार नागमती के विरह-संदेश-वाहक पक्षी के चिल्लाने से समुद्र के पक्षी मर गये और समुद्र खारी हो गया—

जाइ विहंगम समुँद उफारा ।
जरे माँछ पानी भा खारा ।। —पदमा. ३१।४।६

तुलसीदास ने हनुमान से राम के प्रति कहलाया है कि प्रभुप्रताप-रूप बडवानल ने पहले समुद्र को सुखा डाला था, फिर वह शत्रु-पत्नियों के रोदन-जल से भर कर खारी हो गया—

यह लघु जलधि तरत अति बारा । अस सुनि पुनि कह पवन कुमारा
प्रभु प्रताप बड़वानल भारी । सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी
तव रिपु नारि रुदन-जल-धारा । भरेउ बहोरि भएउ तेहि खारा ।
—मानस. ६।१

---

[1] साकं ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयो बालार्कविम्बोपमा
नीरे नीरचरैः समं स भगवान्निद्राति नारायणः
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमथ च प्रौढि परामुन्नतेः
किं निन्दाम्यथवा स्तवीमि कथय क्षीरार्णव त्वामहम्
—सुभाषित. २२७।४१

[2] आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षि कुहरे विनिवेशितं च । —सुभाषित.२२६।१७

(२) सागर और महार्णव में अभेद

वैज्ञानिक धारणा के अनुसार आरम्भिक युग में धरती का समस्त स्थल छिछले जल से ढँका था। वह जल अत्यन्त तप्त था। धीरे-धीरे धरती का ऊपरी चप्पड़ ठंढा होता गया, कहीं सिकुड़ता और कहीं तेज आँच से फैलता था। इस प्रकार पहाड़ और मैदान बनते गये। धरती के जो स्थल गहरे धँसते गये, उनमें जल भर जाने से महासागर बने।[1]

भौगोलिक दृष्टि से, धरती को चारों ओर से घेरे हुए महार्णव (ओशन) के भिन्न-भिन्न खण्डों के रूप में सागरों (सीज़) के पृथक्-पृथक् नाम प्रसिद्ध हैं; जैसे—अरब-सागर, चीन-सागर, भूमध्य-सागर आदि। इनमें भी अपेक्षाकृत विशाल आकार के महासागर कहे जाते हैं, जैसे—हिन्द महासागर, प्रशान्त महा-सागर, आदि। महार्णव से असम्पृक्त कतिपय विशाल सरोवर भी सागरों के रूप में प्रसिद्ध हैं, जैसे—काला-सागर, कैस्पियन-सागर आदि।

सामान्य व्यवहार में कभी तो प्रसंगानुसार सागरों के तत्तत् नामों का उल्लेख किया जाता है, और कभी उनके समष्टिरूप महार्णव के पर्यायवाची शब्दों से ही उनका बोध होता है। इस कवि-प्रसिद्धि के मूल में इस प्रकार की व्यावहारिक सुविधा ही जान पड़ती है।

राजशेखर ने इस प्रसंग में जो उदाहरण दिया है, उसमें गंगा को सात सागरों की प्रियतमा कहा गया है। गंगा का संगम एक ही सागर से हुआ है, उनके सम्बन्ध में सात सागरों का कथन सागर और समष्टिरूप महार्णव के अभेद पर आधृत है—

रंगत्तरंगभ्रूभङ्गैस्तर्जयन्तीमिवापगाः।
स ददर्श पुरो गंगां सप्तसागरबल्लभाम्॥ —काव्यमी. अ. १४

---

[1] विज्ञानहस्तामलक

मकर

कविसमय के अनुसार समुद्र में ही मकर का वर्णन होता है।[1]

नदियों और जलाशयों में भी मकर की स्थिति विरल नहीं होती। किन्तु मकर का स्वभाव गहरे जल में रहने का ही है। अतः गहन जल वाली नदियों और जलाशयों में ही मकर पाये जाते हैं। समुद्र की अथाह गहराई में मकर सुखपूर्वक विचरण कर सकते हैं, वहीं इनकी शोभा सर्वाधिक होती है।

प्राचीन आर्ष साहित्य में वरुण को जल का देवता माना गया है और मकर उसका वाहन है।[2] वह समुद्र का प्रतीक भी है। समुद्र का 'मकरालय' नाम इसी कारण है।

काव्यपरम्परा में सर्वत्र इस कविप्रसिद्धि के पालन की रुचि नहीं दिखाई देती। कालिदास ने रघुवंश में अनेक बार नदियों में मकर का वर्णन किया है। उसके अनुसार राजाओं और रानियों के स्नान के लिए जलाशयों को स्वच्छ करने के उद्देश्य से मल्लाह लोग मकरों को जल से निकालकर तीर पर छोड़ देते थे। स्नान के पश्चात् उन्हें पुनः जल में छोड़ दिया जाता था।[3]

राजशेखर द्वारा उल्लिखित इस प्रसंग के उदाहरण में समुद्रस्थ अन्य जीवों से मकर की विशेषता इस आधार पर व्यंजित है कि विशाल समुद्र उसी के नाम से अंकित है—

गोत्राप्रहारं नयतो गृहत्वं
स्वनाममुद्रांकितमन्बुराशिम्।
दायादवर्गेषु परिस्फुरत्सु
दंष्ट्रावलेयो मकरस्य वन्द्यः॥ —काव्यमी० अ. १४

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] दे. कामदेव प्र.

[3] ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः। रघुवंश ७।३०

स तीरभूमौविहितोपकार्यामानायिभिस्तानपकृष्टनक्राम्।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः॥ —रघुवंश १६।५५
तस्मात्समुद्रादिव मध्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज॥ —रघुवंश १६।७९

शैवाल

कविसमय के अनुसार सर्वत्र जल में शैवाल का वर्णन होता है।[1]

शैवाल जलीय लता है। इसके भाषा-नाम सेवार और सिवार हैं। राजनिघंटु में जलनीली के अतिरिक्त 'जलज' भी इसका पर्याय है।[2] 'जलज' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ ही इसका आधार है; अन्यथा, यह शब्द पद्म के अर्थ में रूढ़ हो गया है।[3] शैवाललता घने जाल के रूप में जल के ऊपरी स्तर तक फैली रहती है। सौन्दर्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है, किन्तु वैद्यक में इसे शीतल स्निग्ध और सन्ताप तथा व्रण का नाशक कहा गया है।

सर्वत्र जल में शैवाल के वर्णन का अभिप्राय, इससे अधिक कुछ नहीं जान पड़ता कि इसके आधार पर जल की सौन्दर्य-वृद्धि करने वाले पद्म आदि उपादानों का उत्कर्ष व्यंजित हो। नदियों के वर्णन में, उनकी जलीय निर्मलता का बोध कराने के भाव से, शैवाल का निषेधपरक उल्लेख मिलता है। रामायण और महाभारत के निम्नोद्धृत श्लोक इसके प्रमाण हैं—

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयमशैवलाम्।
ददर्श राघवो गंगां रम्यामृषिनिषेविताम्॥ —रामा. १।५०।१२
प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरंगिणीम्।
केशशैवालसंबाधां युगान्ते कालनिर्मिताम्॥
—भारत. ४।६०।१७

तुलसीदास ने रामकथारूप-मानस-सरोवर के वर्णन में पुरइन और कमल की स्थिति से तो रामकथा के सुन्दर छन्दों का बोध कराया है, किन्तु सेवार के उल्लेख से विषय-कथारस का अभाव व्यक्त किया है—

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] शैवालं जलनीली स्यात् शैवलं जलजंच तत्।
—राजनि. शालमल्यादि व. १५६.

[3] दे. पद्म प्र.

[4] शैवालं शीतलं स्निग्धं सन्तापव्रणनाशनम्।
—राजनि. शालमल्यादि व. १५६.

पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ।।
छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ।।
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय कथारस नाना ।।

—मानस. १।३७–३८

किन्तु शैवाल का सौन्दर्य, काव्य परम्परा में, अन्य आधार पर मान्य है। शरीर की सौन्दर्य-समष्टि में सरोवर-सागर आदि की उत्प्रेक्षा करके, केशों को सेवार-सदृश कहने की परिपाटी रही है।[१] देव और घनआनन्द के काव्यों से उक्त भाव के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

देव सुधारस-सागर आपु, उजागर आगर रूप रहै है
बार सेबार सरोज मुखी, गहिरी गति पंकज पाइ लहै है।
छीन कटी तट हीन तरंग, चितै चित चक्र चहूँ उमहै है
जा हृद हंस बसौ न बिभावरि, बावरि क्यों न सुकालिह कहै है ।।

—शब्दरसा. पृ. ११०

पानिप अनूप रूप जल को निहारि मन
गयो हो बिहार करिबे के चाय ढरिकै।
पर्‌यो जाय रंगनि की तरल तरंगनि में
अति ही अपार ताहि कैसें सकै तरि कै ।।
धीर तीर सूझत कहूँ न घन-आनंद यौं
बिबस बिचारो थक्यो बीच ही हहरि कै।
लेस न सम्हार गहि केसनि मगन भयो
बूढ़िवे तें बच्यो को सिबार को पकरि कै ।। घनग्रं. सुजान. ४०५

घनआनन्द ने लाज के उपमान-रूप में सेवार के उल्लेख का शृंगारी प्रसंग भी चित्रित किया है। रससागर श्याम को देखकर प्रेयसी गोपी अभिलाषा की धार में बहने लगी। धैर्य का तट दिखाई न देने पर उसे विवश हो लाज की सेवार का आश्रय लेना पड़ा। इस कविप्रसिद्ध का आधार इसमें स्पष्ट है—

रससागर नागर स्याम लखें, अभिलाषनि-धार मँझार बहौं
सु न सूझत धीर को तीर कहूँ, पचि हारि कै लाज सिवार गहौं।

—वही, १३.

[१] दे. परि. २, प्रसिद्ध उपमान, केश

आकाश-वर्ग

ज्योत्स्ना

ज्योत्स्ना के विषय में निम्नांकित दो कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]—

(१) यह अंजलि-ग्राह्य और घड़े में भरने योग्य होती है।

(२) कृष्णपक्ष में इसका अभाव रहता है।

(१) अंजलिग्राह्य और घड़े में भरने योग्य होना

सामान्य धारणा है कि ओषधियों पर चन्द्रमा का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इसीलिये चन्द्रमा को ओषधीश कहा गया है। चन्द्रकिरणों के शीतल स्फूर्ति-दायक प्रभाव के कारण ही, उनमें अमृत का वास माना जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से चाँदनी केवल प्रकाशरूप है। उसके अमृत से युक्त होने की भावना के कारण, काव्यात्मक वृत्ति में वह तरल (द्रव) रूप में गृहीत है। इसी कारण ज्योत्सना की धारा का वर्णन होता है। प्रसाद जी ने ज्योत्स्ना-सरिता का उल्लेख किया है।[2] 'चंद्रिका-धौत' और 'चन्द्रिका-स्नात' जैसे पदों में भी यही भाव है। केशवदास ने नायिका के शुभ्र रूप की व्यंजना के लिए, उसे चन्द्रिका-स्नात कहा है।[3]

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] सत्ता का स्पन्दन चला डोल
आवरण पटल की ग्रंथि खोल
तम-जलनिधि का बन मधुमंथन
ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन
वह रजत-गौर उज्ज्वल जीवन
आलोक पुरुष मंगल चेतन
केवल प्रकाश का था कलोल
मधु किरणों की थी लहर लोल। —कामायनी, दर्शन सर्ग

[3] सारदा सी देखियत देखौ जाइ केसोराइ
ठाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी। —कविप्रिया, ४।१०

किसी भी रसमय पदार्थ को अंजलिपुट द्वारा पेय कहने की परिपाटी है। व्यास जी की वन्दना में कहा गया है कि उन्होंने श्रवणांजलिपुट से पीने योग्य भारताख्यान (महाभारत) की रचना की।[1]

ज्योत्स्ना को घड़े में भरने योग्य मानने का आधार भी उसके तरलत्व का भाव ही है।

राजशेखर ने इस प्रसंग में अपनी विद्धशालभंजिका नाटिका (३।१४) से जो छन्द उद्धृत किया है, उसमें पूर्णचन्द्र की ज्योत्स्ना को घड़ों में भरने योग्य, अंजलिपुटों से ग्राह्य और मृणालांकुरों से पीने योग्य कहा है; अपूर्णचन्द्र की चाँदनी भी यंत्र द्वारा निचोड़े हुए केवड़े के मध्यभाग के समान, तथा मोतियों की माला के समान गूँथने योग्य कल्पित है—

यन्त्रद्रावितकेतकोदरदलस्रोतः श्रियं बिभ्रती
येयं मौक्तिकमालगुम्फनविधेर्योग्यच्छविः प्रागभूत्।
उत्सेच्या कलशीभिरंजलिपुटैर्ग्राह्या मृणालांकुरैः
पातव्या च शशिन्यमुग्धविभवे सा वर्तते चन्द्रिका॥

—काव्यमी. अ. १४

(२) कृष्ण पक्ष में ज्योत्स्ना और शुक्लपक्ष में तिमिर का अभाव

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार समय-गणना में पन्द्रह दिन की अवधि 'पक्ष' मानी गई है। प्रत्येक मास के दो पक्ष होते हैं। चान्द्र-सिद्धान्त के आधार पर जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं में क्रमशः वृद्धि होती है, उसे 'शुक्ल' और जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं का क्रमशः ह्रास होता है, उसे 'कृष्ण' विशेषण दिये गये हैं। स्पष्ट है कि शुक्लपक्ष में शुक्लिमा की, और कृष्णपक्ष में कृष्णिमा की क्रमशः वृद्धि होती है। इस प्रकार दोनों पक्षों में शुक्लिमा और कृष्णिमा का अनुपात बराबर रहता है।

उपर्युक्त विशेषणों में ही इस कविप्रसिद्धि का भाव निहित है। एक में अन्धकार के और दूसरे में ज्योत्स्ना के अभाव की कल्पना में ही क्रमशः शुक्ल और कृष्ण उपाधियों की सार्थकता है।

प्रत्येक पक्ष में ज्योत्स्ना और तिमिर तत्वों में से एक उत्कर्षशील और दूसरा अपकर्षशील रहता है। पूर्णताविधायिनी आदर्शपरक भावना द्वारा

---

[1] श्रवणांजलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः
तमहमरागमतृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे। —सुभाषित.

अपकर्षशील तत्व के वर्णन का निषेध किया जाता है। कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना और शुक्लपक्ष में तिमिर के अस्वीकार के मूल में यही सिद्धान्त जान पड़ता है।

राजशेखर द्वारा इस प्रसंग में उद्‌धृत श्लोक में शुक्ल और कृष्ण पक्ष क्रमशः बलभद्र और कृष्ण के गौर तथा श्याम वर्णों के उपमान हैं। शुक्लपक्ष को पूर्णतया ज्योत्स्नामय और कृष्णपक्ष को पूर्णतया तिमिरमय मानने की धारणा में ही इसकी सार्थकता है—

ददृशाते जनैस्तत्र यात्रायां सकुतूहलैः।
बलभद्रप्रलम्बघ्नौ, पक्षाविव सितासितौ ॥

—काव्यमी. अ. १४

विद्यापति ने इस कविप्रसिद्धि के आधार पर ही चन्द्रमा को केवल एक (शुक्ल) पक्ष में उज्ज्वल मानकर, उसे अखिल प्रकाशमय जगदीश का अनुपयुक्त उपमान ठहराया है—

जौ जगदीस निसाकर तौ पुन
एकहि पच्छ इजोर। —विद्या. पदा. पृ. ३१३

पक्षों के शुक्ल और कृष्ण वर्ण निर्धारित हो जाने पर, उनके साथ क्रमशः यश और अपयश के भाव सहज ही संलग्न हो जाते हैं, क्योंकि कविसमय के अनुसार शुक्ल और कृष्ण वर्ण क्रमशः यश और अपयश के लिए मान्य हैं।[1] दृष्टि का पुनरावर्तन इस मूल तथ्य की ओर करने पर कि दोनों पक्षों में ज्योत्स्ना और तिमिर की मात्राएँ समान रहती हैं, एक पक्ष को यश का और दूसरे को अपयश का भागी होते देख, काव्यात्मक वृत्ति उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो उठती है।

यश पुण्य का परिणाम है, इस भाव की अन्योक्तिपरक व्यंजना काव्यमीमांसा के निम्नोद्‌धृत श्लोक में इसी आधार पर हुई है—

मासि मासि समा ज्योत्स्ना पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
तत्रैकः शुक्लतां यातो यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

—काव्यमी. अ. १४

तुलसीदास की दृष्टि भी इस मौलिक असंगति की ओर गई है। उन्होंने इसके आधार पर सज्जनों और दुर्जनों की वृत्तियों की व्यंजना के लिए दोनों पक्षों

[1] दे. वर्ण प्र.

के यश और अपयश में चन्द्रमा के पोषण तथा शोषण करने के स्वभावों की हेतुजनक उत्प्रेक्षा की है—

सम प्रकास तम पाख दुहु नाम भेद विधि कीन्ह ।
ससि पोसक सोसक निरखि, जग जस अपजस दीन्ह ॥ —दोहा

चन्द्रमा के प्रति उपालम्भ में देव द्वारा उसके उज्ज्वल पक्ष पर व्यंग्य इस कविप्रसिद्धि पर ही आधृत है—

नाधि उपाधि निबाधि हितूगन, सौतिन कों नित दुःख दियौ तैं
देव कहा कहौं सर्वसु चोरि कै, दीन्हो दुखै सबही के हियो तैं
कौन गनै द्विज उज्ज्वल पक्ष, अहे द्विजराज मलीन कियो तैं
मारि बटोही, निहारि बटोही, सु गोकुल गाँव में लोक लियो तैं ।

—शब्दरसा. पृ. ११८-१९

तिमिर (अन्धकार)

तिमिर के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]

(१) यह सूचीभेद्य और मुष्टिग्राह्य होता है।

(२) शुक्लपक्ष में इसका अभाव रहता है।[2]

(१) सूचीभेद्य और मुष्टिग्राह्य होना

अमरकोश में प्राप्त अन्धकार के तीन पर्यायवाची नाम, इसके आपेक्षिक घनत्व के सूचक हैं। गाढ़ अन्धकार के लिए 'अन्धतमस्', क्षीण अन्धकार के लिए 'अवतमस्' और सर्वत्र फैले अन्धकार के लिये 'संतमस्' शब्दों का प्रयोग होता है।[3] अन्धकार-वर्णन में, उसके काठिन्य का उल्लेख कवि-सम्प्रदाय में निर्दिष्ट है।[4] वस्तु के घनीभूत रूप को ही ग्रहण करने का आग्रह रखने वाली आदर्शपरक दृष्टि से, सामान्य उपादान में गाढ़ अन्धकार का वर्णन किया जाता है। अन्धकार की प्रगाढ़ता का बोध कराने के लिए ही उस पर काठिन्य का आरोप किया जाता है।

अन्धकार के काठिन्य अथवा घनत्व की व्यंजना के लिए ही उसके सूचीभेद्य और मुष्टिग्राह्य होने की कल्पना की गई जान पड़ती है।

कालिदास ने अभिसार के लिए निकली स्त्रियों के, सूचीभेद्य अन्धकार से दृष्ट्यवरोध हो जाने का वर्णन किया है—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः। —मेघ १।४१

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] इस कविप्रसिद्धि का विवेचन ज्योत्स्ना सम्बन्धी समकक्ष कविप्रसिद्धि के साथ किया गया है। दे. ज्योत्स्ना प्र.

[3] अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः
ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसं क्षीणेवतमसं तमः
विष्वक्संतमसम् —अमर १।८।३–४

[4] अन्धकारेऽति काठिन्यं विश्वलोपसमर्थता।
आकस्मिकसमारम्भो निःशंकमभिसारिकाः॥ —अलंशे. १६

काव्यपरम्परा में अन्धकार के इस गुण के कथन के उदाहरण अधिक नहीं हैं। राजशेखर ने इस प्रसंग में निम्नोद्धृत श्लोक दिया है, जिसमें कारागार-ग्रस्त कोई प्रेमी कहता है कि सूचीभेद्य अन्धकार में भी मैं अपनी प्रिया का मुख (हृदय-नेत्रों से) स्पष्ट देख रहा हूँ—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ॥

—काव्यमी. अ. १४

केशवदास ने इस कविप्रसिद्धि के निदर्शन में अन्धकाररूप ऐसे अद्भुत वस्त्र का वर्णन किया है जिसमें काँटा अटकने का भय नहीं। कृष्णाभिसारिका की सखी परामर्श देती है कि वह झीने श्वेत वस्त्र को उतार कर गाढ़े तम का ऐसा विचित्र वस्त्र धारण करले—

कंटक न अटकतु फाटे न चरन चंपि,
बात ते न जात उड़ि, अँगु न उघारियै ॥
नेक ही न भीजत मुसलधार बरसत,
कीच न रुचत रंच चित्त में बिचारियै ॥
'केसोदास' सावकास परम प्रकास सों,
उसारियै पसारियै न पिय पै विसारियै ॥
चलियै जु ओढ़ि पट तम ही को गाढ़ो तम,
पातरो पिछौरा सेत पाट को उतारियै ॥

—कविप्रिया ४।९

प्रसाद जी ने 'स्कंदगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य में 'सूचीभेद्य अन्धकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति' का उल्लेख किया है।

काव्यपरम्परा में अन्धकार को मुष्टिग्राह्य कहने के उदाहरण भी अधिक नहीं हैं।

राजशेखर ने इस प्रसंग में अपनी विद्धशालभंजिका नाटिका (३।६) से उदाहरण दिया है—

तनुलग्ना इव ककुभः भूवलयं चरणचारमात्रमिव ।
दिवमिव चालिकवघ्नीं मुष्टिग्राह्यं तमः कुरुते ॥

—काव्यमी. अ. १४

इससे संकेत मिलता है कि अन्धकार में वस्तुओं के बीच के व्यवधान को समाप्तप्राय कर देने की जो क्षमता होती है, उसमें उसकी संकोचन वृत्ति की कल्पना की गई है, और इसका अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ही अन्धकार को मुष्टिग्राह्य कहने के रूप में व्यक्त हुआ है। वास्तव में, स्त्री की कटि को मुष्टिग्राह्य कहने में भी[1] उसकी संकोचशीलता का भाव ही है।

केशवदास द्वारा वर्णित उपर्युक्त अन्धकार-वस्त्र में मुष्टिग्राह्य होने का भाव स्वतः निहित है।

---

[1] दे. परि. २ प्रसिद्ध उपमान, कटि; उदा. नैषध २।४०

वर्ण-वर्ग

शुक्ल-गौर

(१)

कविसंप्रदाय में शुक्ल और गौर वर्णों में अभेद माना गया है।[१]

इसके मूल में समष्टि-रूप-ग्रहण की वृत्ति द्वारा रंगों के सूक्ष्म अन्तर की अवहेलना ही समझनी चाहिए। कहीं शुक्ल के स्थान पर गौर का उल्लेख होता है, कहीं गौर के स्थान पर शुक्ल का।

कालिदास के निम्नोद्धृत छंद में शंकर के धवल वृषभ को कैलास के समान गौर कहा गया है—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः
पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः
कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ —रघु. २।३५

अन्यत्र उन्होंने चन्द्रमा की (श्वेत) किरणों को गौर कहा है—

लांगूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति वालव्यजनैश्चमर्यः ॥
—कुमार. १।१३

बलराम के गौर बर्ण को, सूरदास ने अनेक स्थलों पर धवल कहा है और धौल गिरि से उसे उपमा भी इसी कारण दी है—

नील अम्बर धौल बरन बलराम बनि
पीत अम्बर स्याम अंग शोभा। —सूर. ३६७३

तब मोहन हलधर पकराए। करहु तरुनि अपने मन भाए॥
नाक नयन मुख काजर लायौ। हरद कलस हलधर सिर नायौ॥
बहुत भरे बलराम सबहि गहि। धौलागिरि मनु धातु चली बहि॥
—सूर. २९८१

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

तुलसीदास ने भी शिव के गौर वर्ण का बोध श्वेत रंग के उपमान द्वारा कराया है। उदाहरण—

कुन्द इन्दु सम देह, उमारमन करुना अयन ॥

—मानस १, मंगलाचरण

(२)

अनेक पदार्थों को शुक्ल कहने का विधान है।[1] उन पदार्थों के दो भेद किये जा सकते हैं :—

(क) अमूर्त—यश और हास

(ख) मूर्त—पुष्प, वस्त्र, छत्र, चामर, हार, बक, इन्दु, भस्म आदि।[2]

(क) **अमूर्त**—यश और हास जैसे अमूर्तों के शुभ सात्विक प्रभाव के आधार पर ही इन्हें शुक्ल माना गया जान पड़ता है। हास के एक भेद स्मित को भी शुक्ल कहा जाता है।

यश—दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका में पुष्पपुरी नगरी के राजा राजहंस की कीर्ति के जो अनेक उपमान जुटाए गये हैं, वे सभी या तो स्वभावतः शुक्लवर्ण हैं, (जैसे इन्दु, कुन्द, घनसार आदि) या ऐसे हैं जिन्हें कविसमय में शुक्लवर्ण मान लिया गया है (जैसे—नीर, अट्टहास आदि)

शरदिन्दुकुन्दघनसारहारहारमृणालमरालसुरगजनीरक्षीरगिरिशाट्टहासकैलास-काशनीकाशमूर्त्या रचितदिगंतरालपूर्त्या कीर्त्याऽमितः सुरभितः ।

सूरदास और तुलसीदास ने कृष्ण और राम की कीर्ति को कहीं तो शुक्ल-वाची विशेषणों से मंडित किया है और कहीं उपमानों द्वारा उसके शुक्ल वर्ण की व्यंजना की है। उदाहरणार्थ—

जहँ नारदादि मुनि करत गान।
जग पूरत हरि-जस-सुचि-वितान ॥ —सूर. ३५३०

स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम।
इनतें भइ सित कीरति अति अभिराम ॥ —बरवै. ३४

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] शुक्ल वर्णनीय अन्य पदार्थों के लिए दे. अलंशे. १७, और कविप्रि. ५।५-९

रघुपति कीरति कामिनी, क्यों कहै तुलसीदास।
सरद अकास प्रकास ससि, चारु चिबुक तिल जासु ।।

—दोहा. २९५

हास—कालिदास ने वसन्त-प्रसंग में कुन्द पुष्प को बधुओं के हास के समान श्वेत (अवदात) कहा है—

कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै—
रुद्योतितान्युपवनानि मनोहराणि। —ऋतु. ६।२५

हास के शुक्ल वर्ण की व्यंजना के लिए, तुलसीदास ने उसे चन्द्रकिरणों की विशेष निंदा करने वाले की उपाधि दी है—

अधर अरुन रद सुन्दर नासा।
बिधुकर-निकर-बिनिन्दक हासा ।। —मानस. १।१४७

स्मित—पार्वती के लाल होठों की स्मित के वर्णन में, कालिदास ने पुष्प[1] और मुक्ताफल, इन दो श्वेत उपमानों की योजना की है।

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य।

—कुमार १।४४

मतिराम ने भी नायिका की मुसकान और शरद्-चाँदनी में व्यतिरेक के आधार पर उपमान-उपमेय सम्बन्ध स्थापित किया है—

सरद चंद की चाँदनी, जारि डारि किन मोहि।
वा मुख की मुसकानि सम, क्यौहूँ कहूँ न तोहि ।।

छायावाद-युग में प्रसाद, पन्त और महादेवी द्वारा भी स्मित को श्वेत कहा गया है, और शुक्लवर्ण उपमानों (जैसे हिम, मोती, चाँदनी, रजत आदि) से उसकी व्यंजना हुई है—

उच्च शैल शिखरों पर हँसती
प्रकृति चंचला बाला
धवल हँसी बिखराती अपनी
फैला मधुर उजाला। —कामायनी, कर्म सर्ग

---

[1] कविसमय के अनुसार सामान्य उपादान में पुष्प शुक्ल-वर्ण कहा जाता है।

हाटक-गिरि पर विद्युत-विलास।
उल्लसित महा हिम-धवल हास। —वही, दर्शन सर्ग

सिहर उठे पुलकित हो द्रुमदल
सुप्त समीरण हुआ अधीर
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का सा दाना। —पन्त, पृ. ४

शाश्वत नभ का नीला विकास
शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास। —पन्त, पृ. ५८

अश्रु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया
अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया। —महादेवी, पृ. ७७

(ख) **मूर्त**—इनमें कतिपय पदार्थ ऐसे हैं जिनका वर्ण स्वभावतः शुक्ल के निकट है (जैसे—इन्दु, भस्म, बक आदि), और अवस्था-भेद से उनकी शुक्लता बढ़ती-घटती रहती है। इनके लिए शुक्ल वर्ण के विधान में पूर्णताकांक्षिणी आदर्शपरक भावना ही समझनी चाहिए। अन्य पदार्थ, (जैसे पुष्प, छत्र, हार आदि) यद्यपि अन्य वर्णों के भी होते हैं, किन्तु सामान्य उपादान में उन्हें शुक्ल कहा जाता है। इसके मूल में इन पदार्थों के साथ शुभत्व का योग ही मानना होगा।

पुष्प—पुष्प से सामान्यतः हास और स्मित की व्यंजना की जाती है। दोनों में शुक्ल वर्ण की कल्पना इसका कारण है। तुलसीदास ने वसन्त के मानवीकरण में श्वेत सुमनों को उसके हास का स्थान दिया है—

सित सुमन हास लीला समीर। —विनय. ४५

घनआनन्द ने राधा के हासयुक्त वचन में फूलों की छवि की उत्प्रेक्षा की है—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै
हँसि बोलनि में छबि फूलन की, बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै।
—घनग्रं. पृ. ५८५

भिखारीदास ने शुक्लाभिसारिका के सर्वाङ्ग पुष्पाभूषणों का वर्णन इसी आधार पर किया है—

नखसिख फूलन के भूषन विभूषित के ।
बाँधि लीन्ही बलया, बिगत कीन्ही बजनी ।।

—श्रृंगारनिर्णय, १६७

भस्म—उदा.—आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती

—मुद्राराक्षस ३।२०

छत्र—उदा.—ऊपर शोभित मेघ छत्र सित
नीचे अमित नील जल दोलित
ध्यान नयन मन, चिन्त्य प्राणघन
किया शेष रवि ने कर अर्पण —निराला, अपरा पृ. २३

पीत-रक्त

(१)

कविसम्प्रदाय में पीत और रक्त वर्णों में अभेद माना गया है।[1]

अलंकारशास्त्रियों ने विशेषतः स्वर्ण, अग्नि और पराग का इस सन्बन्ध में उल्लेख किया है।

यद्यपि चार मूल रंगों[2] में पीले और लाल की समान स्वतंत्र स्थिति है, किन्तु घनत्व-भेद से ये परस्पर एक दूसरे का आभास देते हैं। समष्टि-रूप-ग्रहण की वृत्ति द्वारा इनके सूक्ष्म अन्तर की उपेक्षा की जाती है। स्वर्ण, अग्नि और पराग इन तीनों में लाल और पीले रंगों की आभा मिली-जुली रहती है। अतः प्रसंगानुसार इनके वर्णों को कहीं लाल और कहीं पीला कहा जाता है।

राजशेखर ने रक्त और पीत के अभेद का जो उदाहरण दिया है उसमें आदिवराह के पीले दंष्ट्रा को स्वर्ण के समान कह कर, विद्रुम सदृश चन्द्रमा की रक्तवर्ण कला से उसकी समानता स्थापित की गई है—

लेखया विमलविद्रुमभासा सन्ततं तिमिरमिन्दुरुदासे।
दंष्ट्रया कनकभंगपिशंग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः॥

—काव्यमी. अ. १५

जायसी ने अलाउद्दीन की तोपों को सुन्दरी स्त्री के समान मानकर, उनसे निकलने वाली आग की लपटों को सिन्दूर (लाल) कहा है—

कहौं सिंगार जैसि वै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी।
उठै आगि जौ छाड़हिं साँसा। धुँआ जो लागै जाइ अकासा॥
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन चमकत जाहीं॥

—पदमा. ४३।१९।१-३

भिखारीदास ने खण्डिता की उक्ति में नायक के शरीर पर लगे यावक की पावक से तुलना की है—

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] नाटयशास्त्र २३।६९

ज्वाल उपजावन अज्वाल दरसावन
सुभाल यह पावक न जावक दिढ़ाए हौ
—शृंगारनिर्णय, १७८

(२)

कतिपय पदार्थों को पीत कहने का विधान है[१], जैसे—शालि, मण्डूक, बल्कल, आदि ।[२] ये पदार्थ अवस्था-भेद से हल्की अथवा गहरी पीत आभा से युक्त होते हैं । काव्य-परम्परा में इनके उदाहरण सामान्यतः उपलब्ध नहीं हैं ।

(३)

कतिपय पदार्थों को लाल कहने का विधान है ।[3] उनके दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) अमूर्त—राग, क्रोध, प्रताप, उष्णता, लज्जा और वीर रस

(ख) मूर्त—मणियाँ, बिम्बा, बन्धूक, सूर्य, जपा, पद्म, पल्लव, दाडिम, उँगली (करज) आदि ।[४]

(क) **अमूर्त**—अनुराग क्रोध लज्जा आदि रजोगुण-प्रधान भाव हैं । इसी कारण इनमें लाल रंग का आरोप किया जान पड़ता है । शरीरगत अनुभावों के आधार पर भी इनके लाल रंग की कल्पना की गई जान पड़ती है । इनके प्रभाव से रक्त का वेग तीव्र होता है, और फल-स्वरूप शारीरिक अवयवों पर उसकी लाली झलक आती है ।

अनुराग—जयदेव के वर्णन के अनुसार कृष्ण के वक्ष पर गोपी का महावर, उनके आन्तरिक अनुराग का व्यंजक है—

तदेवं पश्यन्ताः प्रसरदनुरागं बहिरिव ।
प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणच्छायहृदयम् ।। —गीतगो. ८

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] पीत वर्णनीय अन्य पदार्थों के लिए दे. अलंशे, १७, और कविप्रि. ५।१६-१८

[3] दे. परि. १ (क), (ख)

[४] अन्य आरक्त वर्णनीय पदार्थों के लिए दे. अलंशे, १७, और कविप्रि. ५।२८-३२

बिहारी ने भी मणिमाल के आधार पर ऐसे ही भाव की व्यंजना की है—

उर मानिक की उरबसी, डटत घटत दृग दाग।
छलकत बाहिर करि मनौ, बिच हिय को अनुराग ।।

कृष्ण के साथ गोपियों के होली खेलने के प्रसंग में सूरदास द्वारा कुमकुम रंग में अनुराग की उत्प्रेक्षा हुई है—

कुमकुम रंग भरी पिचकारी, छिरकति नवल किसोरी
इहिं विधि उमगि चल्यौ रँग जहँ तहँ, मनु अनुराग सरोवर फोरी।
—सूर, ३५२६

जायसी ने पद्मावती के अधर की लाली में, रत्नसेन के प्रति उसके प्रेमभाव की उत्प्रेक्षा की है—

हुलसे नैन हास मदमाते।
हुलसे अधर रंग रस राते ।। —पदमा. २८०।२

क्रोध—भूषण ने शिवाजी का मुख लाल हो जाने के कथन से उनके क्रोध की उग्रता व्यंजित की है—

देखि तेग चमक, सिवा को मुख लाल भयो
स्याह मुख नौरँग सिपाह मुख पियरे।
—भूषण. पृ. ८४-५

लज्जा—प्रसाद और पन्त आदि आधुनिक कवियों में इसके उदाहरण बहुतायत से आते हैं। कामायनी में स्वयं लज्जा की उक्ति है—

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन सी लगती
कुंचित अलकों की घुंघराली
मन की मसोर बन कर जगती। —कामायनी, लज्जा सर्ग

प्रेयसी के सौन्दर्य-वर्णन में पन्त ने भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—

लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में नवीन गुलाब से
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों में सीप सी। —पन्त पृ. २०

(ख) **मूर्त**—जिस अवस्था में इन पदार्थों का वर्ण स्वभावतः लाल होता है, वही इनके सौन्दर्य को विशेषरूप से उद्घाटित करती है। सामान्य उपादान में इन्हें लाल कहने के मूल में आदर्शपरक वृत्ति ही माननी चाहिए।

मणियाँ—जायसी ने रत्नसेन के रक्ताश्रुओं में रत्नों (मणियों) की उत्प्रेक्षा की है—

रोवै रतन माल जनु चूरा।
जहँ होइ ठाढ़ होइ तहँ कूरा। —पदमा. २०१।१
टूटहिं रतन रतन तस रोवा। —वही २१३।३

पन्त ने चन्द्रमा में लाल अंगार की कल्पना करके, उसकी किरणों पर मणिजाल का रुपक घटित किया है—

चिनगियों में तारों को डाल
आग का सा अँगार शशि लाल
लहकता है—फैला मणि जाल
जगत को डसता है तम-व्याल। —पन्त, पृ. १६

इसी प्रकार बिम्बा बन्धूक आदि अन्य पदार्थों के उदाहरण भी काव्य में प्रायशः मिलते हैं।

नील-हरित-कृष्ण

(१)

कविसम्प्रदाय में नील हरित और कृष्ण वर्णों का अभेद माना गया है।[१]

वस्तुतः नील और हरित वर्णों की गहनता में कृष्णिमा का आभास होता है। समष्टि-प्रभाव-ग्रहण की वृत्ति ही इस अभेद के मूल में माननी चाहिए; यों, चार मूल वर्णों[२] में कृष्ण और नील की पृथक्-पृथक् सत्ता है।

नील-कृष्ण—राजशेखर के इस सम्बन्ध के दृष्टान्त में नदी के नीले जल को घने काले केशपाश के समान कहा गया है—

नद्दीं तूर्णं कर्णोऽप्यनुसृतपुलिनां दाक्षिणात्यांगनाभिः
समुत्तीर्णो वर्णामुभयतटचलावद्धवानीरहाराम्
ततः सह्यस्योच्चैः स्वसलिलनिवहो भाति नीलः स यस्याः
प्रियस्यांसे पीने लुलित इव घनः केशपाशः सुकेश्याः।

नीलकमल भी नेत्रों की कालिमा का उपमान[3] इसी आधार पर है—

तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे॥

—कविता. १।१

नीलवस्त्र को सावन-घन से उपमा देने में भी नील और कृष्ण की एकता का भाव है, सावन-घन सामान्यतः काले होते हैं—

नख ते सिख नील निचोल लपेटे, सखी सब भाँति कँपै डरपै।
मनों दामिनी सावन के घन में, निकसै नहिं भीतर ही तरपै॥

—सुजान रसखानि, ३९

प्रसाद ने नेत्रों की कृष्णिमा में नीलिमा का आरोप करके पुनः तमिस्रा से उसका साम्य व्यंजित किया है—

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] नाट्यशास्त्र २३।६९

[3] दे. परि. २, नेत्र

कुटिल कुंतल से बनाती काल माया जाल।
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा-माल ।।

—कामायनी, वासना सर्ग

बादल को नील कहने में भी कृष्ण और नील का अभेद है—

नील घन भी हूँ, सुनहरी दामिनी भी हूँ। —महादेवी, पृ. ५४

इसी कारण अन्धकार में नीलिमा का आरोप सम्भव होता है—

अज्ञात पुलिन से उज्ज्वलतर
किरणें प्रवाल तरणी में भर
तम के नीलमकूलों पर नित
जो ले आती ऊषा सस्मित
वह मेरी करुण कहानी में
मुसकानें अंकित कर जाती ।। —महादेवी, पृ. ६१

कृष्ण-हरित—राजशेखर के इस सम्बन्ध के दृष्टान्त में मरकतमणि के सदृश यमुना-जल का उल्लेख है। मरकतमणि (पन्ना) हरी होती है, और यमुना का जल कृष्ण प्रसिद्ध है।

मरकतसदृशं च यामुनं
स्फटिकशिलाविमलं च जाह्नवम्
तदुभयमुदकं पुनातु वो
हरिहरयोरिव संगतं वपुः ।। —काव्यमी. अ. १५

तुलसीदास ने भी केश की कृष्णिमा धारण करने वाले मोती को मरकतमणि के समान कहा है—

केस मुकुत सखि मरकतमनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ।। —बरवै. १

पन्त ने जलनिधि के हरित विलास का उल्लेख किया है। समुद्र की गम्भीर जलराशि नील कृष्णाभ होती है :

एकही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास
शान्त अम्बर में नील विकास। —पन्त, पृ. ४१

कृष्ण-श्याम—राजशेखर ने श्याम वर्ण को कृष्ण कहना भी कविसमय माना है। श्याम वस्तुतः कृष्णाभ होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो उदाहरण दिया है उसमें रात्रि श्याम कही गई है[१]। सामान्यतः अन्धकारपूर्ण रात्रि काली होती है।

भक्त कवियों ने राम और कृष्ण के श्याम वर्ण के लिए जिन उपमानों की योजना की है, वे प्रायः कृष्ण नील और हरित वर्णों के हैं। मेघ नील-कमल और नीलमणि का उल्लेख ऐसे प्रसंगों में प्रायः हुआ है। हिन्दी में 'मरकत' का प्रयोग नीलम के लिए भी होता है, अतः वह भी श्याम का उपमान है।

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन शोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ।। —मानस-

आकाश को श्याम कहने में नील और श्याम की एकता का भाव है

श्याम नभ में मधु किरन सा फिर वही मृदु हास।
—कामायनी, वासना सर्ग

(२)

कतिपय पदार्थों को कृष्णवर्ण कहने का विधान है।[१] उनके भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) अमूर्त—अपयश, पाप और शृंगार रस

(ख) मूर्त—आकाश, मेघ, केश, काक, समुद्र, वृक्ष, शैल, भृङ्ग आदि।[२]

(क) **अमूर्त**—अपयश और पाप आदि का प्रभाव अशुभ और तामसिक है। उन्हें कृष्णवर्ण मानने में यही भाव समझना चाहिए।

---

[१] एतत्सुंदरि नन्दनं शशिमणिस्निग्धालवालद्रुमं
मन्दाकिन्यभिषिक्तमौक्तिकशिले मेरोस्तटे नन्दति
यत्र श्याम निशासु मुंचति मिलन्मन्तःप्रदोषानिला
मुद्दामामरयोषितामभिरतं कल्पद्रुमश्चन्द्रिकाम्। —काव्यमी. अ. १५

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] अन्य कृष्ण वर्णनीय पदार्थों के लिए दे. अलंशे मरीची १७, कविप्रि. १।२०-२५.

अपयश—तुलसीदास ने निन्दा करने की वृत्ति वाले पुरुषों के मुँह पर मसि लगने का उल्लेख उनके अपयश की व्यंजना के लिए किया है—

तुलसी जे कीरति चहहिं पर की कीरति खोइ ।
तिनके मुँह मसि लागिहै, मिटिहि न मरिहैं धोइ ।।—दोहा. ३८९

कैकेयी के दुष्कृत्य से उत्पन्न रघुकुल के कलंक को काला कहने में, गुप्त जी को, उसके द्वारा अपयश की व्यंजना अभीष्ट है । भरत की उक्ति है—

अपने अतुलित कुल में
प्रगट हुआ था कलंक जो काला ।
वह उस कुलबाला ने
अश्रुसलिल से समस्त धो डाला ।। —साकेत, सर्ग ९

पाप—जयदेव की निम्नोद्धृत पंक्तियों में कृष्ण के आन्तरिक छल (पाप) की उनके वाह्य कृष्ण वर्ण से समानता व्यक्त है—

वहिरिव मलिनतरं तव कृष्ण मनोऽपि भविष्यति नूनम् ।
कथमथ वंचयसे जननुगतमसमशरज्वरदूनम् ।।
—गीतगो. ८

तुलसीदास ने राम के आगे अपने कलुष की व्यंजना दीपक के कज्जल से की है—

तुलसी राम जो आदर्यो, खोटो खरो खरोइ ।
दीपक काजर सिर धर्यो, धर्यो सो धर्यो धर्योइ ।
—दोहा. १०६

कलियुग के पाप का बोध भी उन्होंने उसे कज्जली कह कर कराया है—

मनिमथ दोहा दीप जहँ, उरधर प्रकट प्रकास ।
तहँ न मोह भय तम तभी, कलि कज्जली विलास ।।
—दोहा. ५७१

श्रृंगार रस—श्रृंगार का देवता कामदेव है, और कामदेव का कृष्ण वर्ण प्रसिद्ध है । इसी कारण श्रृंगार रस को कृष्ण वर्ण माना गया जान पड़ता है ।

चन्द ने नेत्रों के कृष्ण वर्ण में शृंगार रस की उत्प्रेक्षा की है—

सित असित सुबृत्त कटाछ बाल
शृंगार मध्य भूषन रसाल
रस हास मध्य शृंगार होइ
संकर सुभाग उप्पनै लोइ ॥ —सं. रासो, ४।९७

केशवदास ने केश के उपमान-रूप में शृंगार रस का उल्लेख किया है—

जीवन सरोवर के कोमल सिवार मूल मखतूल कामतंतु तूल के से तार हैं ।
पंचसर सिंधुर के स्याम चौंर किधौं, भौंर किधौं सहज सिंगार रस सार हैं ।
—केशव. शिखनख १

मतिराम ने कृष्ण के श्याम वर्ण से शृंगार रस का साम्य व्यंजित किया है :—

ऐसो पति पायो बड़े भागनि सों प्यारी सदा
सुबरन ही कौ पघिलायत सुभाग सौं
स्याम स्याम कहिए सिंगार रस राच्यौ, ताते
लाल लाल कहिए रंग्यो है अनुराग सौं
—मतिराम. ललित ललाम, ३८५

(क) **मूर्त**—आकाश और समुद्र को कृष्ण वर्ण कहने में नील और कृष्ण की एकता का आधार जान पड़ता है । मेघ और केश कृष्ण वर्ण की अवस्था में ही अधिक सुन्दर होते हैं । भृङ्ग के सिर के पास पीली धारी होती है, किन्तु केशों के प्रसिद्ध उपमान के रूप में उसे सर्वांश काला कहा जाता है । काक, वृक्ष, शैल आदि का वर्ण न्यूनाधिक मात्रा में काला होता है । इन सब को कृष्ण कहने में पूर्णताकांक्षिणी आदर्शपरक वृत्ति ही प्रधान कारण माननी चाहिए ।

आकाश—चन्द ने ग्रीष्म के प्रसंग में दिशाओं-विदिशाओं को धूमिल कहा है—

आवर्तं वरतत्त मित्त करनी
धूमाय विदिसा दिसा
सरनं मरनय पन्थ ग्रीषम पथं
सुष्षं ग्रहं प्राणिनां । —सं. रासो, ४।१५

मेघ—महाभारत में समुद्र-मन्थन-प्रसंग के निम्नोद्धृत श्लोक में मेघों को नील कहा गया है—

तेषां संघर्षजश्चाग्निरर्चिभिः प्रज्ज्वलन् मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥

—भारत. १।१८।२३

यद्यपि सामान्य उपादान में मेघों को काला कहने में, उनके वर्षाकालीन रूप का ध्यान ही प्रधान है, किन्तु वर्षाकालीन मेघों के वर्णन में उनके अनेक रंगों का उल्लेख भी मिलता है। कालिदास ने उन्हें नीले, और काले रंग का कहा है।

निलान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः
क्वचित्प्रभिन्नांजनराशिसंनिभैः
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः
समाचितं व्योम घनैः समन्ततः । —ऋतु. २।२

जायसी ने आषाढ़ के मेघों को धूमिल, श्याम और धौले कहा है—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा । साजा विरह दुंद दल बाजा ।
धूम स्याम धौरे घन धाए । सेत धुजा बगु पाँति देखाए ॥

—पदमा. ३०।४।१-२

आँखों के अनेक रंग

कविसम्प्रदाय में आँखों के अनेक रंगों के वर्णन का विधान है।[1]

विभिन्न भावों की अभिव्यंजना के लिए यथा-प्रसंग नेत्रों की शुक्लता, कृष्णिमा, रक्तिमा और मिश्रवर्णता का कथन होता है। नेत्रों के रंगों के आधार पर कटाक्षों में भी तत्तत् रंग की उत्प्रेक्षा की जाती है।

हिन्दी-काव्य में कविसमय का यह रूप संस्कृत-परम्परा का अनुयायी है। नेत्रों और कटाक्षों के रंगों की व्यंजना प्रायः उपमानों के रंगों से ही करने की पद्धति रही है।

वस्तुतः, आँखों में उक्त सभी रंगों की स्थिति रहती है। उनके सौन्दर्य के जिस पक्ष को अवसरानुसार उभारना अभीष्ट होता है, उसी से सम्बद्ध रंग का वर्णन किया जाता है।

शुक्लता—इस विषय के काव्यमीमांसा के दृष्टान्त में कटाक्ष को चन्द्रखण्ड के समान कह कर, उसकी शुक्लता व्यंजित की गई है—

तिष्ठन्त्या जनसंकुलेऽपि सुदृशां सायं गृहप्रांगणे
तद्द्वारं मयि निःसहालसतनौ वींखामृदु प्रेंखति।
ह्रीनम्राननयैव लोलसरलं निःश्वस्य तत्रान्तरे
प्रेमार्द्राः शशिखण्डपाण्डिममुषो मुक्ताः कटाक्षच्छटाः ॥

—काव्यमी. अ. १५

कृष्णिमा—कालिदास ने भ्रमरपंक्ति के उपमान द्वारा कटाक्षों की कृष्णता व्यंजित की है—

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः
वेश्यास्त्वत्तो नखपदमुखान्प्राप्य वर्षाग्रविन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्। —मेघ. १।३९

अन्यत्र, उन्होंने नेत्रों के उपमानरूप कुवलय (नीलकमल) का उल्लेख किया है—

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरी शर्वकल्पः
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम् । —रघु. ११।९३

नील और कृष्ण वर्णों में अभेद की मान्यता ही इसका कारण है। अन्य कवियों ने भी कटाक्ष को इन्दीवर के समान कहा है।[1] नेत्रों की स्वाभाविक कृष्णिमा प्रसाधनरूप अंजन से और भी गहन हो जाती है। ऐसे ही नेत्रों के विषय में विद्यापति की उक्ति है—

चंचल लोचन बाँक निहारए अंजन शोभा पाय ।
जनि इंदीवर पवन पेलल, अलि भरे उलटाय ।।—विद्या. पद. २१।६

कामायनी के चिन्ता सर्ग में मनु ने देवकामनियों के उन नयनों का स्मरण किया है जिनसे नील नलिनों की सृष्टि होती थी—

देव-कामिनी के नयनो से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि ।
—कामायनी, चिन्ता सर्ग

रक्तिमा—प्रायः क्रोध आदि भावों से नेत्रस्थ रक्तिमा गहनतर हो जाती है। जयदेव ने कुपित राधा के ऐसे ही नेत्रों को कोकनद (लाल कमल) का उपमेय बनाया है—

नीलनलिनाभमपि तन्वि ! तव लोचनं
धारयति कोकनदरूपम् ।
कुसुमशरबाणभावेन यदि रंजयसि
कृष्णमिदमेतदनुरूपम् । —गीतगो. १०

भिखारीदास के निम्नोद्धृत छन्द में भी इसी प्रकार की स्थिति में नेत्रों की रक्तिमा का उल्लेख है—

जान्यो मैं या तिल तेल नहीं पहिले जब भामिनी भौंह चढ़ाई
कान्हजू आज करामति कीन्ही कहाँ लौ सराहौं महा सुघराई
'दास' बसौ सदा गोपन में, यह अद्‌भुत बैदई कौने सिखाई
पाइ लिलार लगाइ लला, तिय नैनन की लियो ऐंचि ललाई ।
—शृंगारनिर्णय, १९०

[1] दे. परि. २, प्रसिद्ध उपमान 'नेत्र'

मिश्रवर्णता—आँखों के सम्बन्ध में उपर्युक्त रंगों में से एक या अनेक का साथ-साथ कथन भी किया गया है ।

चन्द ने नेत्रों के सित, असित और रक्त, तीनों वर्णों का एक साथ उल्लेख किया है—

सित असित नैंन उचार
मनों राहु तारक चार
तिनि मद्धि सोभै रत्त
विधि धरिय मंगल गत्त । —सं० रासो ४।१४६

बिहारी के निम्नलिखित दोहे में कृष्ण के होठों पर रखी हरित बाँसुरी के इन्द्रधनुषी रंग धारण करने का जो चित्र है, उसमें पीताम्बर के साथ दृष्टि के भी अनेक रंगों की व्यंजना है—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसरी इन्द्रधनुष रँग होति ॥ —बिहारी, ८

देव ने भी इसी प्रकार का विविधरंगी चित्र नायिका की नाक के मोती पर लक्ष्य किया है । नीचे की ओर देखते समय नायिका के नेत्रों के अनेक रंग, होठों के रंग से मिल कर नकमोती को श्यामारुण, नील, अरुण, श्वेत आदि रंग प्रदान करते हैं—

नीचे को निहारत नगीचे नयन अधर
दुबीचे पर्‌यौ स्यामारुन आभा अटकन को
नीलमनि भाग ह्वै, पदुमराग ह्वै के पुख—
राज ह्वै रहत बींध्यो छ्वै निकट कन को
देव विहँसत दुति दंतन कुसुम जोति
निर्मल मुकुत हीराराग गटकन को
थिरकि थिरकि थिरकाने परयाने तोरि
बाने बदलत नक-मोती लटकन को—शब्दरसा. पृ. १२३

रसलीन के निम्नोद्धृत प्रसिद्ध दोहे में आँख के श्वेत श्याम और रतनार वर्णों का एक साथ उल्लेख है—

अमिय हलाहल मद भरे, सेत श्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत एक बार ॥

—इतिहास. पृ. ३४३

संख्या-वर्ग

भुवन

काव्यपरम्परा में भुवनों की तीन, सात और चौदह संख्याओं का उल्लेख होता है।[1]

काव्यमीमांसा के सत्रहवें अध्याय में देश-विभाग के अन्तर्गत राजशेखर ने भुवनों की भिन्न-भिन्न संख्याओं का विवरण दिया है। इस विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया है कि कुछ लोग 'द्यावापृथ्वी-रूप' एक ही जगत् मानते हैं, कुछ लोग दिव और पृथ्वी (स्वर्ग और मर्त्य), ये दो जगत् मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार स्वर्ग, मर्त्य और पाताल भेद से तीन जगत् हैं, अन्य मत के अनुसार भूः, भुवः और स्वः, ये तीन जगत् मान्य हैं। इस तीन संख्या के साथ महः, जनः, तपः और सत्यम् नामक जगत् गिने जाने से, उनकी संख्या सात होती है। कुछ लोगों का मत है कि ये सात लोक सात वायु-स्कन्धों के साथ मिल कर चौदह हो जाते हैं। इन चौदह के साथ यदि सात पातालों की भी गणना की जाए तो भुवनों की संख्या इक्कीस होती है। निर्णय के रूप में, राजशेखर ने कहा है कि ये सभी मत उपयुक्त हैं। कवि इन सबका एक रूप में, अथवा अपनी इच्छानुसार अनेक रूपों में वर्णन करता है।[2] इस प्रकार, इसे कवियों का यदिच्छा व्यवहार मानने के कारण, और इसमें कोई अशास्त्रीय और अलौकिक लक्षण न देखने के कारण, राजशेखर ने इसे कविसमय नहीं माना है।

भुवनों की तीन और सात संख्याएँ प्राचीन काल से वैदिक साहित्य में भी मान्य हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में भूः, भुवः और स्वः के रूप में तीन लोकों का उल्लेख है। ये क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश के पर्याय हैं। पुराणों में सात लोकों की स्थिति विराट् पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों में मानी गई है। भूः लोक उसके नाभि स्थान में, भुवः लोक उदरस्थान में, स्वः लोक हृदय में, महः लोक कण्ठ में, जनः लोक मुख में, तपः लोक ललाट में, और सत्यं लोक ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है।[3]

---

[1] दे. परि. १ (क),(ख)

[2] 'सर्वमुपपन्नम' इति यायावरीयः। अविशेषविवक्षा यदेकयति। विशेषविवक्षास्त्वनेकयति। —काव्यमी. अ. १७

[3] भूर्लोकं नाभिमध्ये तु भुवर्लोकं तदर्धके
स्वर्लोकं हृदये विद्यात्कण्ठदेशे महास्तथा

हिन्दी काव्यपरम्परा में भुवनों की तीन, सात और चौदह संख्याओं का उल्लेख बराबर मिलता है। एक ही कवि ने यथाप्रसंग अलग-अलग संख्याओं का उल्लेख किया है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

तीन—तिभुवन तीनि काल जग माँही।

भूरि भाग दशरथ सम नाहीं॥ —मानस. २।२

तीन लोक नाइक है बेद गुन गाइक है

सरन सहाइक है, सदा सेनापति कौ। —कवित्तरत्ना ५।७

यह परम्परा आधुनिक काव्य तक चली आई है—

त्रिदिक् विश्व आलोक बिन्दु भी

तीन दिखाई पड़े अलग वे

त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो

वे अनमिल थे, किन्तु सजग थे। —कामायनी, रहस्य सर्ग

त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं

प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को। —पन्त, पृ. १२

सात—सेना-प्रयाण से उठी धूल में जायसी ने उत्प्रेक्षा की है कि सात खंडों वाली पृथ्वी घट कर छः खंडों की रह गई, क्योंकि उसका एक खंड ऊपर ब्रह्माण्ड (आकाश) के सात खंडों से जा मिला, और इस प्रकार वहाँ आठ खंड हो गये—

सत खँड धरति भई खट खंडा।

ऊपर अष्ट भए ब्रह्मंडा। —पदमा. २१।३

सात दीप सात लोक सातहु रसातल की।

तीयन की गीता सब सीता पर वारियें॥—रामचंद्रिका. १२।५

चौदह—चौदह भुवन सो तारे हाथा।

जहँ लगि बिछुरैं औ एक साथा। —पदमा. ३४।१२।२

जेहि तेरहुत तेहि समय निहारी।

तेहि लघु लर्गाहि भुवन दस चारी॥ —मानस. १।२८९

दुख तें बचाउ जातें होत चित चाउ, मेरे

सोइ हैं सहाउ, राउ चौदहौ भुवन को॥ —कवित्तरत्ना. ५।२

जनलोकं वक्त्रदेशे तपोलोकं ललाटके

सत्यलोकं ब्रह्मरंध्रे। —गरुडपु. ११५।५७-५९

समुद्र

काव्य-परम्परा में समुद्रों की चार और सात संख्याओं का उल्लेख होता है।[1]

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के सत्रहवें अध्याय में देश-विभाग के अन्तर्गत समुद्रों की संख्या पर भी विचार किया है। सात द्वीपों को घेरे हुए सात समुद्रों के कथन के पश्चात् राजशेखर ने उन विभिन्न मतों का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार समुद्रों की संख्याएँ एक, तीन और चार भी मानी जाती हैं। इस विषय में उन्होंने अपना निर्णय यह कह कर दिया है कि 'भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के कारण ये सभी मत उचित हैं। सात समुद्र मानने वाले भी शास्त्र का आधार लेकर चलते हैं[2]।' इससे स्पष्ट है कि समुद्र की भिन्न-भिन्न संख्याओं के उल्लेख को राजशेखर अशास्त्रीय और अलौकिक नहीं मानते थे, इसीलिये कविसमय के अन्तर्गत उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया।

ऋग्वेद ९।६३।६ में धनों से पूर्ण चार समुद्रों का वर्णन है। ऋग्वेद १०।४७।२ में 'चतुः समुद्र' पाठ आता है। यद्यपि ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'सप्त सिन्धु' का उल्लेख है, किन्तु विद्वानों ने उसका अर्थ 'सात नदियाँ' अथवा 'सर्पणशील जल वाली नदियाँ' किया है। वाजसनेयी संहिता ३८।२६ में उल्लिखित 'सप्तसिंधु' का अर्थ महीधर और उब्बट ने सात समुद्र किया है।[3]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि समुद्रों की भिन्न-भिन्न संख्याओं का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से होता रहा है।

वह्निपुराण के अनुसार लवण, क्षीर, घृत और दधि नाम के चार सागर हैं। इनके साथ सुरा, इक्षुरस और स्वादु नाम के तीन छोटे समुद्रों (पुष्क-

---

[1] दे. परि. १ (ख)

[2] 'भिन्नाभिप्रायतया सर्वमुपपन्नम्' इति यायावरीयः। सप्तसमुद्रीवादिनस्तु शास्त्रादनपेता एव। —काव्यमी. अ. १७

[3] वेद-धरातल, पृ. ६९१-७००, पृ. ६८६-८७

रिणियों) के योग से समुद्रों की संख्या सात होती है।[१] राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट सात समुद्रों के नाम इन्हीं के अनुसार हैं।[२]

कालीदास ने अनेक स्थलों पर समुद्र की चार और सात संख्याओं का उल्लेख किया है। उनके एक ही काव्य में दोनों के उदाहरण प्राप्त हैं—

चार—निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्।
—रघु. २।३

गुणैराधयासासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः॥ —रघु. १०।८५

सात—सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेश्यम्।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम्॥ —रघु. १०।२१

हिन्दी-कवियों ने अधिकतर समुद्रों की सात संख्या का ही उल्लेख किया है। रासो के अनेक स्थलों पर समुद्र के प्रसंग में सात संख्या का कथन है।

उदाहरणार्थ—

प्रतापसि सातउ भ्रात सरीस। प्रथी प्रति आइ नमाइय सीस।
ति सोहत मानुसे तं सत मेर। किधौं सत सिंधु सुहंत उजेर॥
—सं. रासो १।१०८

बरनी जोग बरन्न को, बर भुल्लै करतार।
तिहि कारन ढुंढत फिरै, सत्त समुंदह पार॥ —वही ५।२९

जायसी ने 'पदमावत' और 'आखिरी कलाम' के आरम्भिक मंगलाचरणात्मक अंशों में सात समुद्रों का निर्माण करने वाले ईश्वर की वन्दना की है—

---

[१] लवणः क्षीरसंज्ञश्च घृतोदोदधि संज्ञकः
सुरोदेक्षुरसोदौ च स्वादूदः सप्तमो भवेत्
चत्वाराः सागराः ख्याताः पुष्करिण्यश्च ताः स्मृताः
—शब्दकल्प. पृ. ५२० पर उद्धृत

[२] लवणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयःपयाः।
स्वादुवारिरुदधिश्च सप्तमस्तान्परीत्य त इमे व्यवस्थिताः॥
—काव्यमी. अ. १७

कीन्हेसि सात समुंद अपारा । कीन्हेसि मेरु खिखिंद पहारा ।

—पदमा. १।२।१

रतन एक बिधने अवतारा । नावं मुहम्मद जग उजियारा ।
जेहि हित सिरजा सात समुंदा । सातहु दीप भरा एक बुंदा ।

—आखिरी कलाम ७।१-३

सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन को, उन्होंने रत्नसेन के द्वारा, सात समुद्रों का राजा कहलवाया है—

सात समुंद तुह्म राजा, सरि न पाव कोइ घाट ।
सवै आइ सिर नावहिं, जहाँ तुह्मारह पाट ।।

—पदमा. ३१।१

किन्तु जायसी ने पदमावत के समुद्र-खंड (१५) में जिन सात समुद्रों का वर्णन किया है, उनके नाम उपर्युक्त सात समुद्रों के नामों से तनिक भिन्न हैं। खार (क्षार), खीर (क्षीर), दधि और सुरा, ये चार नाम तो उसी के अनुरूप हैं, किन्तु घृत, इक्षुरस और स्वादु, इन तीन के स्थान पर जायसी द्वारा उल्लिखित नाम है—उदधि, किलकिला और मानसर ।

भगवान-राम के चक्रवर्ती-पद का बोध देने के लिए तुललीदास ने उन्हें सप्त-सागर-पर्यन्त पृथ्वी का एकमात्र अधिपति कहा है—

भूमि सप्त सागर मेखला । एक वीर रघुपति कोसला ।। —मानस.

'प्रेमवाटिका' नामक ग्रंथ के निर्माण-सम्वत् का उल्लेख करने के लिए रसखानि ने सागर को सात संख्या का पर्याय मान लिया है—

बिधु सागर रस इंदु सुभ, बरस सरस रसखानि ।
प्रेमबाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरष बखानि ।।[१]

—रसखानि, प्रेमवाटिका, ५१

---

[१] बिधु सागर रस इंदु—१६७१ संवत्
दे. उक्त दोहे पर पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की पादटिप्पणी, 'रसखानि' पृ. ८०

दिशाएँ

काव्यपरम्परा में दिशाओं की चार, आठ और दस संख्याओं का उल्लेख होता है।[1]

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के देश-विभाग नामक सत्रहवें अध्याय में दिशाओं की संख्या के विषय में बताया है कि कुछ लोगों के मत से प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची, ये चार दिशाएँ हैं; कुछ लोग आठ दिशाएँ मानते हैं। उन दिशाओं के नाम हैं—(१) ऐन्द्री, (२) आग्नेयी, (३) याम्या, (४) नैर्ऋती, (५) वारुणी, (६) वायव्या, (७) कौवेरी और (८) ऐशानी। अन्य लोगों के मत से, इन आठ के साथ ब्राह्मी और नागीया नामक दो दिशाओं के योग से, दिशाओं की संख्या दस होती है। राजशेखर ने इस विषय में निर्णय दिया है कि दिशाओं की ये सभी संख्याएँ यथार्थ है, क्योंकि ये कवि की इच्छा के अधीन होती हैं। व्याख्या के रूप में, राजशेखर ने स्पष्ट किया है कि चित्रा और स्वाती नक्षत्रों के बीच में प्राची दिशा है, उसके सामने की दिशा प्रतीची है। ध्रुव नक्षत्र की दिशा उत्तर है, तथा उसके सामने की दक्षिण है। इन दिशाओं के बीच की दिशाएँ 'विदिशाएँ' कहलाती हैं। ऊर्ध्व दिशा ब्राह्मी है, तथा नीचे की दिशा नागीया है।[2]

दिशाओं के संख्या-कथन को राजशेखर ने कवियों का यदिच्छा व्यवहार माना है। अशास्त्रीय और अलौकिक लक्षणों का इसमें अभाव होने के कारण, उन्होंने कविसमय के अन्तर्गत इसका उल्लेख नहीं किया है।

कवियों द्वारा दिशाओं की इन भिन्न-भिन्न संख्याओं के उदाहरण विरल नहीं हैं। कबीरदास ने दिशाओं की चार संख्या का उल्लेख किया है—

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूँ घड़ा, वेगै लेहु बुझाई॥

—कबीरग्रं. २।३२

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] सर्वमस्तु, विवक्षापरतन्त्रा हि दिशाभियत्ता। तत्र चित्रास्वात्यन्तरे प्राची, तदनुसारेण प्रतीची, ध्रुवेणोदीची, तदनुसारेणापाची। अन्तरेषु विदिशः, ऊर्ध्वं ब्राह्मी, अधस्तान्नागीयेति। —काव्यमी. अ. १७

दिशाओं की आठ संख्या का उदाहरण, राजशेखर ने मयूर कवि के सूर्य-शतक (१३) से प्रस्तुत किया है—

एकं ज्योतिर्दृशौ द्वे त्रिजगति गदितान्यब्जजास्यैश्चतुर्भि-
र्भूतानां पंचमं नान्यलमृतुषु तथा षट्सु नानाविधानि ।
युष्माकं तानि सप्तत्रिदशमुनिनुतान्यष्टदिग्भांजि भानो-
र्यान्ति प्राह्ले नवत्वं दश दधतु शिवं दीधितीनां शतानि ।[1]

दश दिशाओं का उल्लेख भी विरल नहीं है। सूरदास ने गोकुल के आनन्दोच्छ्वास की व्यापकता का बोध कराने के लिए दसों दिशाओं में उसके व्याप्त होने का संकेत किया है—

दसै दसौं दिसि घोष मैं, घर घर करहिं अनंद ।
नर नारी मिलि गावहीं, जस बृंदावन चंद ।। —सूर. ३५३३

सेनापति और हरिऔध के काव्यों के निम्नलिखित अवतरणों में भी दिशाओं की दस संख्या का उल्लेख है—

जाको अध ऊरध गगन दस दिसि उर
व्यापि रह्यो तेज तीन लोक कौं अधार है ,
पूरन पुरुष हृषीकेस, गुनधाम राम
सेनापति ताहि विनवत बार बार है ।
—कवित्तरत्ना. ५।१

अधिक और हुई नभ लालिमा ।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई ।। —प्रियप्रवास १।३

---

[1] काव्यमी. अ. १७

विद्याएँ

काव्यपरम्परा में विद्याओं की चार, चौदह और अठारह संख्याओं का उल्लेख किया जाता है।[1]

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के 'शास्त्र-निर्देश' नामक दूसरे अध्याय में विद्याओं की संख्याओं का व्याख्यासहित निर्धारण किया है। उन्होंने इसमें कदाचित् कोई अशास्त्रीय और अलौकिक लक्षण न देखकर ही, इसे कविसमय से पृथक् रखा है।

उन्होंने वाङ्मय के दो भेद किये हैं---शास्त्र और काव्य, और काव्य के लिए शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता बताई है। फिर उन्होंने शास्त्र के अपौरुषेय और पौरुषेय दो विभाग किये हैं। अपौरुषेय मूलतः श्रुति हैं। इनमें ऋक्, यजुः और साम वेदों के एक साथ कथन से 'त्रयी' का बोध होता है। अथर्व नामक चौथे वेद की भी गणना इनके साथ करने से वेदों की संख्या चार होती है। इतिहासवेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और आयुर्वेद, ये चार उपवेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोविचिति और ज्योतिष, ये छः वेदांग हैं। ये सब अपौरुषेय शास्त्र हैं।

पौरुषेय शास्त्रों में पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा और स्मृतितंत्र (धर्मशास्त्र), इन चार की गणना है। राजशेखर के अनुसार चार वेदों, छः वेदांगों और चार (पौरुषेय) शास्त्रों के योग से चौदह विद्यास्थान होते हैं। काव्य को राजशेखर ने पन्द्रहवाँ विद्यास्थान मानने का प्रस्ताव किया है।[2]

विद्यास्थानों की अठारह संख्या के लिए वार्ता, कामसूत्र, शिल्पिशास्त्र और दण्डनीति (अर्थशास्त्र) इन चार की गणना, उपर्युक्त चौदह विद्यास्थानों के साथ करने का निर्देश किया गया है।

---

[1] दे. परि. १ (ख)

[2] 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इति यायावरीयः
—काव्यमी. अ. २

राजशेखर द्वारा किया हुआ उपर्युक्त निर्देश, अन्य स्रोतों से प्राप्त इस सम्बन्ध के विवरण से थोड़ा भिन्न है। विष्णुपुराण में[१] विद्याओं की चौदह संख्या के लिए चार वेदों, छः वेदांगों और चार शास्त्रों के योग को तो उसी प्रकार माना गया है, किन्तु उनकी अठारह संख्या के लिए चार उपवेदों का योग निर्दिष्ट है। राजशेखर ने उपवेदों का उल्लेख करके भी विद्यास्थानों में उनकी गणना नहीं की है। साथ ही आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्व वेद, इन तीन उपवेदों के अतिरिक्त इतिहासवेद को राजशेखर ने चौथा उपवेद माना है, विष्णुपुराण में उसके स्थान पर 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख है।

अग्निपुराण में भी विद्याओं का उल्लेख मिलता है। वहाँ पहले, विद्या के 'परा' और 'अपरा' ये दो रूप माने गये हैं। इन्हीं को क्रमशः 'अप्रपंच' और 'प्रपंच' नाम दिये गये हैं। ब्रह्मविद्या ही परा विद्या है, और अपरा विद्या में वेदों तथा शास्त्रों की गणना है। इसके विवरण में चार वेदों, छः वेदांगों, चार उपवेदों और चार शास्त्रों के नाम आ जाते हैं।[२]

राजशेखर ने 'विद्यास्थानों' और विद्याओं में भी भेद किया है। विद्यास्थानों के निर्देश के पश्चात् उन्होंने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन

---

[१] अंगानिवेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्येकाश्चतुर्दश
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति नेत्रयः
अर्थशास्त्र चतुर्थश्च विद्या ह्यष्टादशैवताः। —शब्दकल्प. में उद्धृत

[२] द्वे विद्ये भगवान्विष्णुः पराचैवापरा द्विज
ऋग्यजुः सामथर्वाख्या वेदांगानिषडद्विज
शिक्षा कल्पो व्याकरणो निरुक्तो ज्योतिषां गति
छन्दोभिधानं मीमांसा धर्मशास्त्रपुराणकम्
न्यायो वैद्यक गान्धर्व धनुर्वेदार्थशास्त्रकम्
अपरेयं, परा विद्या ययाब्रह्मवगम्यते। —अग्निपु. १।१५-१७
सप्रपंचं निष्प्रपंचं विद्या द्वयमयं परम्
ऋग्यजुः सामथर्वाख्या विद्याविष्णुर्जगज्जनिः
छन्दः शिक्षा व्याकरणं निघण्टुर्ज्योतिराख्यकः
निरुक्त धर्मशास्त्रादि मीमांसा न्यायविस्तराः
आयुर्वेद पुराणाख्या धनुर्गान्धर्व विस्तराः। —अग्नि पु.

चार को विद्याएँ कहा है। अनेक मतों का उल्लेख करके उन्होंने बताया है कि कुछ विद्वान् केवल एक विद्या—दण्डनीति मानते हैं, कुछ विद्वान् दो विद्याएँ—वार्ता और दण्डनीति मानते हैं, और कुछ अन्य विद्वान् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विद्याएँ मानते हैं। राजशेखर ने अपना मत व्यक्त किया है कि साहित्य-विद्या पाँचवीं विद्या है।[1]

चार—कालिदास ने रघुवंश द्वारा अर्जित विद्याओं की चार संख्या का उल्लेख किया है—

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥

—रघु. ३।३०

टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार उक्त श्लोक में चार विद्याओं से महाकवि का अभिप्राय आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति से है।

चौदह—पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज द्वारा सीखी गई विद्याओं की चौदह संख्या का उल्लेख है—

कोइक दिन गुर राम पैं। पढ़ी सु विद्या अप्प।
चवदसु विद्या अपर वर। लई सीष षट लिप्प॥

—सं. रासो, १।६०

दस पंच दिन्न अध्येंन कीन। दस च्यारि सार सब सीषि लीन॥

—वही १।६२

कबीरदास ने 'चौदह चंदा' द्वारा चौदह विद्याओं की व्यंजना की है—

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसकौ चानिणौं, जिहि घर गोविंद नाँहि॥

—कबीर. १।१७

अठारह—श्रीहर्ष ने उत्प्रेक्षा की है कि त्रयी विद्या ने अपने छः अंगों (वेदांगों) के गुणन द्वारा अठारह रूप धारण किये—

---

१ 'पंचमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः।
स हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः। —काव्यमी. अ. २

अमुष्य विद्या रसना प्रनर्तकी त्रयीव नीतांगगुणेन विस्तरम् ।
अगाहतष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीप पृथग्जयश्रियाम् ।।

—नैषध. ४।५

अन्यत्र उन्होंने उत्पेक्षा की है कि राजा नल के मुख में बत्तीस दाँतों के रूप में चौदह और अठारह संख्याओं वाली विद्याएँ ही निवास करती हैं—

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधापि सन्तीति शशंस वेधाः

—वही ९३।३५

श्रृंगार

काव्यपरम्परा में श्रृंगारों की संख्या सोलह कहने का नियम है।[1]

संस्कृत के आचार्यों ने इस कविप्रसिद्धि का उल्लेख नहीं किया है। केशवदास ने कविप्रिया में इसे कविसमय माना है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि यद्यपि सुन्दरी के श्रृंगार अपार होते हैं, किन्तु सभी कवि सोलह ही श्रृंगारों का वर्णन करते हैं।[2] वास्तव में यह हिन्दी-काव्य की अपनी परिपाटी है।

विभिन्न कवियों ने श्रृंगारों की संख्या सोलह नियत रखकर भी, उसके विवरण में एकरूपता का पालन नहीं किया है। कहीं तो शारीरिक अवयवों के सौन्दर्य का विवरण सोलह श्रृंगारों के रूप में दिया गया है, और कहीं स्नान, मज्जन आदि क्रियाओं से लेकर विभिन्न वस्त्रालंकारों, प्रसाधनों, चेष्टाओं और वृत्तियों का समावेश भी उसमें है।

स्वयं केशवदास ने सोलह श्रृंगारों के उदाहरण में जो छन्द रखा है उसमें सम्पूर्ण पवित्रता, मज्जन, सुगन्धिधारण, जावक, केशविन्यास, अंगराग, विविध आभूषण, मुखबास, राग (संगीत), कटाक्ष, बोल (वाणी), हास्य, चातुरी, गति और पातिव्रत्य का उल्लेख है।[3] जायसी ने पद्मिनी स्त्री के

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] सहज सिंगारत सुंदरी, जदपि सिंगार अपार।
तदपि बखानत सकल कवि, सोरहई सिंगार॥ —कविप्रिया ४।१६
[दे. परि. १ (क)]

[3] प्रथम सकल सुचि मज्जन अमल वास
जावक सुदेस केसपास को सुधारिबो
अंगराग भूषन बिबिध मुखबास राग
कज्जल कलित लोल लोचन निहारिबो
बोलनि हँसनि मृदु चातुरी चलनि चारु
पल पल प्रति पतिव्रत प्रतिपारिबो
'केसोदास' सबिलास करहु कुँवरि राधे
यहि विधि सोरह सिंगारनि सिंगारिबो। —कविप्रिया ४।१७

चार दीर्घ, चार लघु, चार भरे हुए, और चार पतले अंगों के आदर्श सौन्दर्य को ही सोलह शृंगार कहा है।[१] प्रसाधन और आभूषण-धारण का उल्लेख उन्होंने पृथक् से 'बारह अभरन' के अन्तर्गत किया है। उनमें मज्जन, वस्त्र-धारण, माँग का सिन्दूर, तिलक, अंजन, कर्णभूषण, नासिका-फूल, मुख-ताम्बूल, कंठहार, कंगन, छुद्र-घंटिका (करधनी) और पायल की गणना है।[२] पद्मावत में 'बारह अभरन' और 'सोरह सिंगार' का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[३] सूरदास ने सोलह शृंगारों के विवरण में, केश-विन्यास के और विविध वस्त्रालंकारों के धारण करने का वर्णन किया है।[४]

स्त्रियों के सौन्दर्य का बोध कराने के लिए, उन्हें सोलह शृंगारों से मण्डित कहा जाता है। कवि सभी स्थलों पर शृंगारों का विवरण देना

---

१ दीरघ चारि चारि लघु सोई। सुभर चारि चहुँखीन जो होई।
प्रथम केस दीरघ सिर होहीं। औ दीरघ अँगुरी कर सोहीं।
दीरघ नैन तिक्ख तिन्ह देखा। दीरघ गीवँ कण्ठ तिरि रेखा।
पुनि लघु दसन होंहि जस हीरा। औ लघु कुच जस उतँग जँभीरा।
लघु लिलाट दुइज परगासू। औ नाभी लघु चंदन बासू।
नासिक खीन खरग कै धारा। खीन लंक जेहि केहरि हारा।
खीन पेट जानहुँ नहिं आँता। खीन अधर बिद्रुम रँग राता।
सुभर कपोल देहिं मुख सोभा। सुभर नितंब देखि मन लोभा।
सुभर बनी भुअदंड कलाई, सुभर जाँघ गज चालि।
ये सोरहो सिंगार बरनि के, करहिं देवता लालि॥—पदमा. ४०।५

२ प्रथमहिं मंजन होई सरीरू। पुनि पहरै तन चंदन चीरू।
साजि माँग पुनि सेंदुर सारा। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारा।
पुनि अंजन दुहुँ नैन करेई। पुनि कानन कुंडल पहिरेई।
गिय अभरन पहिरै जहँ ताँई। औ पहिरै कर कँगन कलाई।
कटि छुद्राबलि अभरन पूरा। औ पायल पायन्ह भल चूरा।
बारह अभरन एइ बखाने। ते पहिरै बरहौ अस्थाने।
पुनि सोरह सिंगार जस, चारिहुँ जोग कुलीन।
दीरघ चारु चारु लघु, चारि सुभर चहुँ खीन। —पदमा. २७।६

३ दे. पदमा. २९।१।६, २७।१०।१

४ दे. सूरसागर, पद २११६

कदाचित् आवश्यक भी नहीं समझते, केवल सोलह संख्या का संकेत कर देना ही पर्याप्त होता है। कुछ उदाहरण देखिये—

सुनि तमचुर को सोर घोष की बागरी।
नव सत साजि सिंगार, चली नव नागरी।
नव सत साजि सिंगार अंग पाटंबर सोहैं
इक तें एक अनूप रूप त्रिभुवन मन मोहैं। —सूर. २२३६

बदरा उनै आए बरसन लागे रस ही रस
ब्रजमोहन सँग हौं बन भींजी रीझि परी उनकें बस
अंतर निपट भिजै घर पठई, रुकत नहीं करि हारी बहुत कस
उघरि घुरौंगी घन आँनद सों, अब सब तजि सजि षटवस।
—घनग्रं. पद ७३६

स्वर्ग्य वर्ग

नारायण, विष्णु, शेष, कूर्म आदि

कविसमय के अनुसार नारायण, विष्णु, शेष, कूर्म आदि में अभद माना गया है।[1]

वैदिक साहित्य में विष्णु द्युस्थान अर्थात् आकाश में रहने वाले देवताओं में अन्यतम हैं। ऋग्वेद में वर्णित चिन्हों से विष्णु के प्रधान सौर देवता होने का परिचय मिलता है। यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा व्याप्त होने से अथवा रश्मियों द्वारा समस्त संसार को व्याप्त करने से सूर्य विष्णु कहलाते हैं।[2] ब्राह्मण-युग में यज्ञ के साथ विष्णु की एकता स्थापित हुई—"यज्ञो वै विष्णुः"। साथ ही, असुरों से छीन कर इन्द्र को पृथ्वी प्रदान करने वाले गौरवशाली देवता का पद भी उन्हें मिला। पुराणों में विष्णु के अनेक महत्कार्यों का उल्लेख है। उसके अनुसार समय-समय पर विष्णु ने अनेक रूप धारण किये। उन रूपों के अनुसार ही उनके अनेक नाम हुए। उनके द्वारा सम्पन्न महत्कार्यों के आधार पर भी उन्हें अनेक उपाधियों से विभूषित किया गया। उनके नारायण, शेष, कूर्म, माधव आदि रूपों में यही मौलिक एकता है।

नारायण—पुराणों में 'नारायण' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ अनेक प्रकार से[3]

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] यास्क, निरुक्त १२।१९

[3] उदा.—नारा जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः
तस्येव अयनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः।
—विष्णुपुराण [शब्दकल्प. 'नारायण' शब्द]

नाराच्च कृतपापाच्चाप्यनं गमनं स्मृतम्।
यतोहि गमनं तेषां सोऽयं नारायणः स्मृतः॥
नारंच मोक्षणं पुण्यमयनं ज्ञानमीप्सितम्।
तयोर्ज्ञानं भवेद् यस्मात् सोयं नारायणः स्मृतः॥
ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण खण्ड ३०८-९

नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः। —भारत. ५।७०।१३

किया गया है। सामान्यतः 'नारा' का अथ जल और 'अयन' का अर्थ स्थान मानकर, नारायण को जल में स्थित देवता अर्थात् विष्णु कहा गया है।[१]

शेष—पुराणों के अनुसार कश्यप की पत्नी कद्रू से उत्पन्न एक सहस्र नागों में शेष सबसे बड़े हैं।[२] कूर्म भी इनके अनुज हैं। काद्रवेय कूर्म और विष्णु के कूर्मावतार में अभेद मान लेने पर, शेष भी काद्रवेय होने से विष्णु के समानार्थी हैं। क्षीरसागर में विष्णु की शय्या-रूप शेष का उल्लेख भी पुराणों में है।

कूर्म—ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार आरम्भिक युग में प्रजापति ने जल के ऊपर कूर्म का रूप धारण कर प्रजा की सृष्टि की।[3] बाद में प्रजापति के कूर्मरूप को विष्णु का अवतार माना गया। जलप्लावन से पृथ्वी का पुनरुद्धार कूर्मरूप विष्णु ने ही किया।[४] पुराणों के अनुसार समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल को धारण करने वाले कच्छपरूप भगवान् विष्णु ही थे।[५] वाल्मीकि-रामायण में समुद्रमन्थन के समय विष्णु के कूर्मरूप धारण करने का वर्णन है।[६]

---

[१] आपो नारा इति प्रोक्ता आ ो वै नर सूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥
—विष्णु पुराण [शब्दकल्प. 'नारायण' शब्द]

[२] शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुंजगमः।
कूर्म्मं कुलिकंचैव काद्रवेयाः प्रकीर्तिताः॥ —भारत. १।६५।४१

[3] स यत् कूर्म्मो नाम एतद्वा रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजां असृजत्। यदसृजता करोत्तद् यदकरोद तस्मात् कूर्म्मः कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाह्वः सर्वाः प्रजाः काश्यप इति। स यः स कूर्मस्य स आदित्यः। —शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५

[४] शतपथ ब्राह्मण २।८।१।१

[५] विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथोऽभिसन्धिः
कृत्वा वपुः काश्यपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार। भागवत. [शब्दकल्प. में उद्धृत]
क्षीरोदमध्ये भगवान कूर्मरूपी स्वयं हरिः।
—पद्म पुराण [शब्दकल्प. में उद्धृत]

[६] प्रविवेशाथ पातालं मन्थनः पर्वतोत्तमम्।
ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम्।

इस प्रकार नारायण, विष्णु, शेष, कूर्म आदि का सम्बन्ध सामान्य रूप से विष्णु से होने के कारण, उन सब में तात्विक एकता है। यही इस कवि-प्रसिद्धि का मूल जान पड़ता है।[1]

काव्यमीमांसा के इस कविप्रसिद्धि के समर्थक दृष्टान्त में माधव और विष्णु की एकता व्यंजित है; विष्णु के वामन, कृष्ण, कूर्म आदि अवतारों के प्रसिद्ध कार्यों को माधव द्वारा सम्पन्न कहा गया है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यो गंगां च दधेन्धकक्षयकरो यो बर्हिपत्रप्रियः।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः।
सोऽव्यादष्टभुजंगहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः॥[2]

—काव्यमी. अ. १६

हिन्दी-काव्य-परम्परा में इन पौराणिक अर्थों का निबन्धन कविसमय के रूप में नहीं हुआ है। सगुण-भक्ति-धारा के कवियों ने, राम और कृष्ण के यशोगान में, अथवा उनके दिव्य जन्मों के सन्दर्भ में, क्वचित्-कदाचित् विष्णु के उक्त रूपों का उल्लेख किया है। नारायण, माधव, दामोदर आदि का उल्लेख प्रायः ईश्वरवाची सामान्य अर्थ में हुआ है। शेष और कूर्म को उनसे पूर्णतः पृथक् माना गया है। रामभक्तों के लिए लक्ष्मण, और कृष्णभक्तों के लिए बलराम, समान रूप से शेष के अवतार हैं। अतः विष्णु के अवताररूप राम और कृष्ण से उनका पार्थक्य सहज सिद्ध है।

त्वं गीता सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम्।
पालयास्मान्महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि।
इति श्रुत्वा हृषीकेषः कमठं रूपमास्थितः
पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधो हरिः। —रामा. १।४५।२७

[1] मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।
सर्वतत्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः॥ —भारत. २।७०।४

[2] श्लेष के आधार पर शिव-पक्ष का अर्थ भी स छन्द में निहित है।

लक्ष्मी

लक्ष्मी के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]—

(१) उनका वास पद्म में है।

(२) सम्पद् से उनका अभेद है।

(१) पद्म में वास

भारतीय विचारधारा में लक्ष्मी, श्री (सौन्दर्य) और वैभव दोनों की अधिष्ठात्री देवी हैं। पद्म अद्वितीय सौन्दर्य का प्रतीक है, उसे लक्ष्मी का वास मानने का मूल, यही भाव जान पड़ता है।

जल-मात्र में पद्म की स्थिति नियत की गई है।[2] लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र (जल) से है, अतः पद्म में लक्ष्मी के वास की कल्पना इस आधार पर भी मानी जा सकती है।

अमरकोश के अनुसार पद्मालय, पद्मा और कमला, लक्ष्मी के पर्याय हैं।[3] लक्ष्मी के ये नाम इस कविप्रसिद्धि के समर्थक हैं।

संख्यावाची पद्म शब्द से वैभव का बाहुल्य सूचित होता है। अतः वैभव की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी पद्मा हुई। संख्यावाची 'पद्म' का पुष्पवाची 'पद्म' से अभेद करके, पुष्पवाची पद्म के पर्यायों के आधार पर लक्ष्मी के कमला आदि नाम माने गये हों, ऐसी भी सम्भावना है।

कालिदास ने क्षीर-सागर में स्थिति कमलासीन लक्ष्मी का वर्णन किया है—

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमन्तरितमेखले।
अंके निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे॥ —रघु. १०।८

अन्य संस्कृत-कवियों द्वारा भी पद्म में लक्ष्मी के निवास का कथन हुआ है। सुभाषितरत्नभांडागार के निम्नोद्धृत छंद इसके प्रमाण हैं—

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] दे. पद्म प्र.

[3] लक्ष्मी पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया। —अमर. १।१।२७

लक्ष्मीनिवास इति वारिरुहां प्रसिद्धि-
रन्वेषिताः कतिपया वरटास्तु सन्ति ।
राज्ञि प्रसारित करे किमहं ददामि
संकोचितं वदनमम्बुरुहैरितीव ॥ —सुभाषित. २५६।२३२

समुत्पत्ति स्वच्छे सरसि हरिहस्ते निवसनं
निवासः पद्मायाः सुरहृदयहारी परिमलः
गुणैरेतैरन्यैरपि च ललितस्याम्बुज तव
द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिरतीबोन्नतिरियं ॥ —वही, २५६।२३५

लक्ष्मीः स्वयं निवसति त्वयि लोकधात्रि
मित्रेण चापि विहितोऽस्ति दृढोनुरागः
बन्दीव गायति गुणांस्तव चंचरीकः
कः पुण्डरीक तव साम्यमुरी करोति ॥ —वही, २५६।२३३

दुर्गासप्तशती में महालक्ष्मी के ध्यान में उन्हें सरोजस्थिता कहा गया है।[1]

हिन्दी काव्य में भी इस परम्परा का निर्वाह हुआ है। केशवदास ने अग्नि-अंक में स्थित सीता के रूप में पद्मस्थ पद्मा की उत्प्रेक्षा की है—

पिता अंक ज्यौं कन्यका सुभ्रगीता
लसै अग्नि के अंक त्यौं सुभ्र सीता
किधौं पद्म ही में सिफाकंद सोहै
किधौं पद्म के कोष पद्मा विमोहै । —रामचन्द्रिका. २०।४६

मैथिलीशरण गुप्त ने पद्म को आर्यजाति की लक्ष्मी (सुख-समृद्धि) का पद्म कहा है—

सहज सजल सौन्दर्य का जीवनधन तू पद्म ।
आर्य जाति के जगत की लक्ष्मी का शुभ सद्म ॥

—साकेत, नवम सर्ग

---

[1] ॐ अक्षस्रक्परशुं गदेषुकुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुराभाजनम् ।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां ।
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम् ॥ —दुर्गासप्तशती, २।१

(२) लक्ष्मी और सम्पद् की एकता

समुद्रमन्थन के पौराणिक आख्यान के अनुसार, समुद्र से जो चौदह श्रेष्ठ पदार्थ प्राप्त हुए, वे सब रत्न कहलाये। लक्ष्मी भी उन्हीं में से होने के कारण रत्नरूपा हैं। रत्न वैभव और समृद्धि का प्रतीक है। लक्ष्मी को सम्पद् से अभिन्न मानने में यही कारण कहा जा सकता है। इसी कारण वे वैभव की अधिष्ठात्री देवी हैं।

कालिदास ने शरत्कालीन प्राकृतिक वैभव में द्वितीय पार्थिव-श्री की उत्प्रेक्षा की है—

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता।
पार्थिवश्रीद्वितीयेव शरत्पंकजलक्षणा॥ —रघु. ४।१४

काव्यमीमांसा के इस सम्बन्ध के उद्धरण में भगवान् विष्णु द्वारा समुद्र से निकाली गई पृथ्वी में लक्ष्मी का आरोप करके, उसे भक्तों के गृहों में स्थापित कहा गया है—

दोर्मन्देरितमन्दरेण जलधेरुत्थापिता या स्वयं
यां भूत्वा कमठः पुराणककुदन्यस्तामुदस्तम्भयत्
तां लक्ष्मीं पुरुषोत्तमः पुनरसौ लीलांचितभ्रूलता-
निर्देशैः समवीविशत्प्रणयिनां गेहेषु दोष्णि क्षितिम्।
—काव्यमी. अ. १६

आदित्य

कविसमय में बारहों आदित्यों की एकता मानी गई है।[1]

पुराणों में कश्यप की पत्नी अदिति से उत्पन्न बारह पुत्रों को आदित्य कहा गया है। हरिवंश[2], विष्णुधर्मोत्तर[3] और आदित्य-हृदय[4] में बारह आदित्यों के नामों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। वे सभी नाम वैदिक सौरदेवताओं से सम्बद्ध हैं। 'विष्णु' उक्त तीनों उल्लेखों में समान हैं। ऋग्वेद में विष्णु, प्रधान सौरदेवता हैं। आदित्य-हृदय में वर्ष के बारह महीनों में सूर्य के पृथक्-पृथक् रूपों को ही बारह आदित्य माना गया है। इस प्रकार मूलतः सूर्य के ही रूप होने के कारण बारह आदित्यों की एकता है।

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] मारीचात्कश्यपज्जातास्तेदित्या दक्षकन्यया
तत्र शक्रश्च विष्णुश्च यज्ञाते पुनरेवह
अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा च भारत
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च
अंशो भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः ॥
—हरिवंश [शब्दकल्प. 'आदित्य' शब्द]

[3] धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य व च
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा
एकादशस्त्वथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्चते ॥ —विष्णुधर्मोत्तर

[4] अरुणो माघमासे तु सूर्यो वै फाल्गुने तथा
चैत्रे मासि च वेदज्ञो वैशाखे तपतः स्मृतम्
ज्येष्ठे मासि तपेनिद्रं आषाढ़े तपते रविः
गभस्ति श्रावणे मासे यमो भाद्रपदे तथा
ईषे हिरण्यरेताश्च कार्तिके च दिवाकरे
मार्गशीर्षे तपेच्चैत्र पौषे विष्णुः सनातनः
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्तिताः ॥ —आदित्यहृदय
वाचस्पत्याभिधानम्, पृष्ठ ६९६ पर उद्धृत।

इस प्रसंग में जिन नामों का उल्लेख मिलता है वे ये हैं—शक्र, विष्णु, अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश, भग, रुद्र, सूर्य, अरुण, वेदज्ञ, तपन, इन्द्र, रवि, गभ, यम, हिरण्यरेत, दिवाकर।

राजशेखर द्वारा मयूर के सूर्यशतक से इस कविप्रसिद्धि का प्रतिपादक जो छन्द उद्धृत है, उसमें एक ही सूर्यमण्डल को समस्त विश्व में घूमता कहा गया है—

यस्याधोऽधस्तथोपर्युपरि निरवधि भ्राम्यतो विश्वमश्वै-
रावृत्तालातलीलां रचयति रयतो मण्डलं चण्डधाम्नः।
सोऽव्यादुत्तप्तकार्त्तस्वरसरलशरस्पर्द्धिभिर्द्धामदण्डै-
रुद्दण्डैः प्रापयन्वः प्रचुरतमतमः स्तोममस्तं समस्तम् ॥

—काव्यमी. अ. १६

हिन्दी-काव्य में इस पौराणिक आधार के स्वर्ग्य अर्थ का निबन्धन कवि-प्रसिद्धि के रूप में नहीं हुआ है। आदित्यों के सभी नामों को परस्पर पर्यायवाची मानकर, कवियों ने सूर्य के अर्थ में उनका इच्छानुसार प्रयोग किया है।

चन्द्रमा

चन्द्रमा के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[1] —

(१) अत्रिनेत्र और समुद्रोत्पन्न चन्द्रमा में अभेद मानना।

(२) शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा को सदा बालरूप कहना।

(३) चन्द्रमा में शश और मृग का अभेद मानना।

(१) अत्रिनेत्र और समुद्रोत्पन्न चन्द्रमा में अभेद

पौराणिक धारणा है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा की इच्छा से सप्तर्षि उत्पन्न हुए। उनमें अत्रि ऋषि भी थे, उन्होंने अपनी नेत्रज्योति का आकाश में सन्धान किया, और वह चन्द्रमा के नाम से प्रसिद्ध हुई। काव्यमीमांसा के इस कविप्रसिद्धि के समर्थक श्लोक में[2] यही भाव व्यक्त है।

अग्निपुराण के अनुसार विष्णु की कमलनाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, ब्रह्मा के पुत्र अत्रि हुए और अत्रि से सोम (चन्द्रमा) की उत्पत्ति हुई।[3]

महाभारत में अत्रि और अनसूया से सोम (चन्द्रमा) की उत्पत्ति का उल्लेख है।[4]

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] वन्द्या विश्वसृजो युगादिगुरवः स्वायंभुवः सप्तये
तत्रात्रिर्दिवि सन्दधे नयनजं ज्योतिः स चन्द्रोऽभवत्।
एका यस्य शिखण्डमण्डनमणिर्देवस्य शम्भोः कला
शेषाभ्योऽमृतमाप्नुवन्ति च सदा स्वाहास्वधाजीविनः।

—काव्यमी. अ. १६

[3] विष्णुनाभ्यब्जजो ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रोऽत्रिरत्रितः।
सोमः सोमाद्बुधस्तस्मादैल आसीत्पुरूरवाः॥

—अग्निपु. १४।२

[4] भारत. १।२०।१२

समुद्रमन्थन के पौराणिक आख्यान के अनुसार चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से हुई।[१]

सुभाषित रत्नभाण्डागार के निम्नोद्धृत छंद में इस बात पर व्यंग्य है कि अत्रिमुनि के लोचन से दूषित ज्योत्सना अमृतमयी कहलाती है—

स्मेरा दिशः कुमुदमुद्धुरं पिबन्ति
ज्योत्स्नाकराम्भमुदरम्भरयश्चकोराः
आः कीदृगत्रिमुनिलोचन दूषिकायां
पीयूषदीधितिरिति प्रथितोनुरागः ।। —सुभाषित. २२०।३०

कालिदास ने सुदक्षिणा द्वारा दिलीप का गर्भ धारण किये जाने की उपमा आकाश द्वारा अत्रिनेत्र की ज्योति (चन्द्रमा) धारण किये जाने से दी है—

अथ नयन समुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ।। —रघु. २।७५.

विक्रमोर्वशीय के पाँचवे सर्ग में, राजा के प्रति वैतालिक के आशीर्वाद में चन्द्रमा को अत्रिपुत्र कहा गया है—

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दुः
बुध इव शशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तैः
अतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिषस्ते ।।

—विक्रमो. ५।२१

किन्तु कालिदास ने ही, अन्यत्र, क्षीर सागर से चन्द्रमा के जन्म का उल्लेख किया है—

तदन्वये शुद्धिमिति प्रसूतः शुद्धिमतरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ।। —रघु. १।१२

हिन्दी-काव्य-परम्परा में अत्रिनेत्र रूप चन्द्रमा का उल्लेख विरल है।

---

[१] ततः शर्वसहस्त्रांशुर्मध्यमानात्तु सागरात् ।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्ना सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ।। —भारत. १।१८।३४

(२) शिवचन्द्र को सदा बालरूप कहना

चन्द्रमा की कलाओं में क्षीणता और वृद्धि के क्रम रहते हैं। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन चन्द्रमा की एक कला बढ़ती है, और कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक कला घटती है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा बालरूप कहलाता है और वह क्रमशः प्रौढ़ता प्राप्त करता है।

काव्य में चन्द्रमा के अनेक रूपों का यथा-प्रसंग पृथक्-पृथक् उल्लेख होता है। कविप्रसिद्धि का अभिप्राय यह है कि शिव के शिरोभूषण के प्रसंग में चन्द्रमा के बालरूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का उल्लेख नहीं किया जाता, यद्यपि उसका जन्म बहुत समय पूर्व हुआ था।

गत कविप्रसिद्धि के समर्थक काव्यमीमांसा के उद्धरण में अत्रिनेत्र-चन्द्रमा के विषय में यह भी कहा गया है कि उसकी एक कला भगवान् शिव के मस्तक का आभूषण बनी और शेष कलाओं से देव तथा पितृगण अमृतपान करते हैं। उससे स्पष्ट है कि शिव के मस्तक का चन्द्रमा एक कलारूप माना गया है। इस कविप्रसिद्धि का मूल यही विश्वास कहा जा सकता है।

वस्तुतः शिव-परिवार के सभी व्यक्तियों के मस्तकों पर चन्द्रकलाएँ मानी गई हैं। पौराणिक विश्वास के आधार पर कालिदास ने ग्यारहों रुद्रों के मस्तकों पर भी शशिकोटियों (चन्द्रकलाओं) के होने का वर्णन किया है। तारकासुर से भयभीत देवताओं के बीच रुद्रों के प्रति ब्रह्मा जी का कथन है—

आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः।
रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः॥ —कुमार. २।२६

इसी प्रसंग में ब्रह्मा जी के प्रति बृहस्पति के निवेदन में कहा गया है कि तारकासुर की नगरी पर चन्द्रमा सर्वदा अपनी पूरी कलाओं से प्रकाश करता है, केवल उस एक कला को बचा लेता है, जिसे शिव जी ने अपने मस्तक की मणि बनाया है—

सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम्॥ —कुमार. २।३४

राजशेखर के इस प्रसंग के उदाहरण में बालेन्दुखण्ड को पार्वती के लिए दर्पण की शोभा धारण करने वाला कहा गया है—

मालायमानामरसिंधुहंसः
कोटीरवल्लीकुसुमं भवस्य ।
दाक्षायाणीविभ्रमदर्पणश्रि
बालेन्दुखण्डं भवतः पुनीतात् ।। —काव्यमी. अ. १६

शिव से सम्बद्ध होने में, बालचन्द्र का निष्कलंकत्व भी कारण है, क्योंकि उसके प्रौढ़तर रूप में कलंक अवश्य रहता है। विद्यापति ने कीर्तिलता के आरम्भ में अपनी भाषा की शुद्धता का बोध शिवचन्द्र के निष्कलंकत्व के आधार पर कराया है। बालचन्द्र शिव के मस्तक पर शोभित होता है तो विद्यापति की भाषा सहृदयों के मन को मोहित करती है, दोनों ही दुर्जनों के उपहास से परे हैं—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा ।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ।।
—कीर्तिलता, १

रामचरितमानस के अयोध्याकांड में शिव की वन्दना करते हुए तुलसीदास ने, उनके भाल पर शोभित बालविधु का उल्लेख किया है—

यस्यांके च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके ।
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।।
—मानस. २।१, मंगलाचरण

विनयपत्रिका के कतिपय पदों में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

बालशशि भाल सुविशाल लोचन-कमल,
काम-शतकोटि-लावण्यधामं । —विनय., १०
बर बाल-निसाकर मौलि भ्राज । त्रैलोक सोकहर, प्रमथराज ।
—वही, १३

पद्माकर ने राम के निर्मल यश की व्यंजना के लिए इस कविप्रसिद्धि का आधार लिया है। शिवचन्द्र को आठों याम विमल कहने में, उसके बालरूप की धारणा ही है—

ईस सीस को चन्द सों, अमल आठ हू जाम ।
सुरसरि तट के बरफ तें, धवल सुजस तुव राम ।
पद्माभरण, २१२

(३) चन्द्रमा में शश और मृग का अभेद ।

चन्द्रबिम्ब में दिखाई देने वाले धब्बों में कवियों द्वारा अनेक उत्प्रेक्षाएँ हुई हैं। इस सम्बन्ध मे दो प्रसिद्ध धारणाएँ हैं, एक के अनुसार चन्द्रमा में शश (खरगोश) का निवास है, दूसरी के अनुसार हरिण का।[१] चन्द्रमा के शशलाँछन और मृगलाँछन आदि नाम इन्हीं धारणाओं पर आधृत हैं। काव्य-परम्परा में कहीं तो चन्द्रमा के शश का उल्लेख है, कहीं मृग का।

काव्यमीमांसा के इस प्रसंग के दो उद्धरणों में से एक में चन्द्रमा को शशांक[२] कहा गया है, दूसरे में मृगलांछन।[3]

सुभाषितरत्नभाण्डागार के निम्नलिखित छंद में चन्द्रमा की शरण में आये मृग का उल्लेख है; यद्यपि रौद्र सिंहिकातनय (राहु) उसके मस्तक पर क्रोधपूर्वक चढ़ा है, तो भी चन्द्रमा शरणागत मृग का त्याग नहीं करता—

यद्यपि शिरोऽधिरोहति रौद्रः क्रोधेन सिंहिकातनयः
त्यजति न शरणं यातं सागरसूनुर्मृगं तदपि

—**सुभाषित**. २२०।९

---

[१] चन्द्रमा के शश के विषय में जातक-कथा है। उसके अनुसार एक शश ने अपना मांस अग्नि में भून कर अतिथिरूप बोधिसत्व के स्वागतार्थ प्रस्तुत किया था। उसी शश को चन्द्रमा में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। मृग के विषय में पौराणिक आख्यान है। उसके अनुसार चन्द्रमा ने अहल्या का सतीत्व भंग करने वाले इन्द्र की सहायता की थी। ताम्रचूड़ का रूप धारण करके उसने अपने स्वर से इन्द्र को रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही सजग कर दिया था। इसपर क्रुद्ध गौतम ने उसे मृगचर्म से आहत किया। वही आघात चन्द्रमा का मृगलांछन बना। लोक-कल्पना द्वारा चन्द्रमा के धब्बे बुढ़िया के चरखा कातने के दृश्य रूप में गृहीत हैं।

[२] मा भैः शशांक मम सीधुनि नास्ति राहुः
खं रोहिणी वसति कातर किं विभेषि
प्रायो विदग्धवनितानवसंगमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्॥ —काव्यमी. अ. १६

[3] अंकाधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलांछनः।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः॥ —वही।

जयदेव ने रमणीमुख के मृगमद (कस्तूरी)-तिलक में चन्द्रमा के मृग की उत्प्रेक्षा की है—

समुदित मदने रमणीवदने चुम्बनवलिताधरे,
मृगमदतिलकं लिखति सपुलकं मृगमिव रजनीकरे। गीतगो. ७

तुलसीदास ने मृग द्वारा चन्द्रमा के मलिन होने का उल्लेख किया है। इसके आधार पर उन्होंने कैकेयी की स्थिति व्यंजित की है। जिस प्रकार अमृतधाम होकर भी चन्द्रमा मृग से मलिन है, उसी प्रकार कैकेयी राजपुत्री और राजबधू होकर भी कलंकित है—

जाई राजघर, ब्याहि आई राजघर माहँ
राजपूत पाए हूँ न सुख लहियतु है
देह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,
ताहु पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।

—कविता. २।४

कामदेव

कामदेव के विषय में निम्नलिखित कविप्रसिद्धियाँ हैं[1]—

(१) वह मूर्त भी है, और अमूर्त भी।

(२) उसके धनुष-बाण पुष्पमय हैं।

(३) भ्रमर-पंक्ति उसकी प्रत्यंचा है।

(४) उसके बाणों से युवकों के हृदय बिंधते हैं।

(५) उसकी ध्वजा में मकर और मत्स्य समानार्थी हैं।

कामदेव मूलतः प्रजनन का देवता है। भगवद्गीता (१०।१८) में भगवान् की उक्ति—'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' इसकी समर्थक है। इसी कारण वह सौन्दर्य और प्रेम का देवता माना गया है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार कामदेव और उसकी पत्नी रति क्रमशः वरुण और गौरी के अवतार हैं।[2] हरिवंश और भागवत पुराणों के अनुसार रुक्मिणी से उत्पन्न कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न, कामदेव के अवतार हैं।

भारतीय जीवनदर्शन में काम को धर्म और अर्थ के पश्चात् तृतीय पुरुषार्थ का स्थान दिया गया है। कदाचित् इसी कारण गीता में धर्म से अविरुद्ध काम को भगवान् की दिव्य विभूति कहा गया है।[3]

(१) मूर्त और अमूर्त रूप

पुराणों के अनुसार, तारकासुर से युद्ध के लिए देवताओं को योग्य सेनापति का अभाव था। पार्वती से उत्पन्न होने वाले शिव के पुत्र द्वारा असुरों पर विजय सम्भव थी। अतः देवताओं ने कामदेव को शिव का ध्यान पार्वती की ओर आकृष्ट करने के लिए भेजा। कामदेव ने शिव के निकट पहुँच कर जब उनकी समाधि में विघ्न डाला, तो शिव ने क्रुद्ध होकर अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला से उसे भस्म कर दिया। विलाप करती विधवा रति की प्रार्थना पर शिव ने वरदान दिया कि कामदेव अमूर्त रूप से ही जीवित रहेगा, और प्रद्युम्न के रूप में उसका अवतार होगा।

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] उत्तराध्ययन टीका, जैकोबी, पृ. ३९

[3] धर्माऽविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। गीता, अ. १०

इस कथा का उल्लेख परवर्ती काव्य-साहित्य में विभिन्न रूपों में हुआ है। रामायण में अंग देश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस कथा के उल्लेख द्वारा कहा गया है कि कामदेव ने शिव की क्रोधाग्नि में भस्म होते समय इसी स्थान पर अंग-त्याग किया था।[१]

कालिदास ने कुमारसम्भव के दूसरे, तीसरे और चौथे सर्गों में इस आख्यान का वर्णन किया है। उसके अनुसार पति के भस्म हो जाने पर[२] जब रति भी चिता में जलने को प्रस्तुत हुई तो आकाशवाणी द्वारा बताया गया कि कामदेव ने ब्रह्मा के मन में स्वरस्वती के प्रति विकार उत्पन्न किया था, इस कारण ब्रह्मा ने उसे शिव की नेत्राग्नि में भस्म हो जाने का शाप दिया था। शिव-पार्वती के विवाहोपरान्त देवताओं की प्रार्थना पर शिव की आज्ञा से कामदेव के पुनः जीवित हो जाने का उल्लेख भी कालिदास ने किया है।[3] तुलसीदास ने इस आख्यान का वर्णन रामचरितमानस के बालकाण्ड में किया है।[४] प्रसाद ने, कामायनी में काम के अनंग हो जाने का कारण देव-संस्कृति का नष्ट हो जाना कहा है।[५]

---

[१] रामा. १।२३।५-१५

[२] क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावदगिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निभिर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥—कुमार. ३।७२

[3] देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धांजलयो निपत्य।
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पंचशरस्य सेवाम् ॥
तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥
—कुमार. ७।९२-९३

[४] अब तें रति तब नाथ कर होइहि नामु अनंग।
बिनु बपु व्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन प्रसंग ॥
जब जदुबंस कृष्न अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा ॥
कृष्न-तनय होइहि पति तोरा। बचनु अन्यथा होइ न मोरा ॥
—मानस., १।८७-८८

[५] वे अमर रहे न विनोद रहा
चेतनता रही अनंग हुआ।
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिए
संचित का सरल प्रसंग हुआ ॥ —कामायनी, काम स.

इस प्रकार, भस्म होने के पूर्व की और पुनः मूर्त अस्तित्व धारण करने की स्थितियों के संदर्भ में कामदेव को मूर्त कहा जाता है, तथा उक्त स्थितियों के मध्य की स्थिति के सन्दर्भ में उसे अमूर्त कहा जाता है।

प्रस्तुत-विधान के रूप में कामदेव का वर्णन अधिक नहीं हुआ है। कालिदास ने, भस्म होने के पूर्व का उसका मूर्त रूप चित्रित किया है।[1] राजशेखर द्वारा प्रबन्धचिन्तामणि से उद्धृत छंद में शिव-पार्वती-विवाह के पश्चात् पुनः मूर्त हुए कामदेव की चेष्टाओं का उल्लेख है, वह शिव पर व्यंग्य करके अपना हाथ रति के हाथ पर पटकता और हँसता है।[2]

काव्यपरम्परा में प्रायः शृंगारी विभाव-योजना के लिए कामदेव के मूर्त और अमूर्त रूपों का उल्लेख मिलता है।

नायक-नायिका को क्रमशः कामदेव और रति के समान कहकर उनके सौन्दर्य की व्यंजना में, स्पष्ट ही कामदेव के मूर्त रूप का आधार रहता है।

तुलसीदास ने राम-सीता के रूपों में अनेक बार कामदेव और रति के रूपों की उत्प्रेक्षा की है—

जनु रतिपति-ऋतुपति कोसलपुर बिहरत सहित समाज।

—गीतावली, २।१२

मनहुँ मदन रति बिबिध वेष धरि नटत सुदेश सुढंग॥—वही, २।१४

उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें।
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥

—मानस., २।१३३

---

[1] अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृंगं
रतिवलयपदांके चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूतांकरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्रांजलिः पुष्पधन्वा॥ —कुमार., २।६४

[2] अयं स भुवनत्रयप्रथितसंयमः शंकरो।
विभर्ति वपुषाधुना विरहकातरः कामिनीम्।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं
करेन परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः॥

—प्रबन्धचिन्तामणि, १-२४; काव्यमी. अ., १६

कहीं-कहीं मूर्त चेष्टाओं की उत्प्रेक्षा में भी कामदेव का मूर्तरूप व्यंजित होता है—

मंगलमय मंदिर सब केरे।
चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे॥ —मानस., १

मुख्यतः उपमेय के सौन्दर्य का उत्कर्ष व्यंजित करने के उद्देश्य से उपमानरूप कामदेव का अमूर्त रूप उल्लिखित होता है। तुलसीदास ने सीता के उपमान-रूप रति का अपकर्ष व्यंजित करने में कामदेव के अतनु रूप का सार्थक उल्लेख किया है—

जौं पटितरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
मानस., १।१४७

घनआनंद ने अनंग कामदेव द्वारा विरही को दग्ध किये जाने में द्वेष-भाव कारण माना है—

आपु अनंग न संग को रंग, भर्‌यौ रिस आनि कै अंग पजारत।
रावरे चैन को ऐन हियो है, सुरैनदिना यह मैन उजारत॥
घनग्रं. सुजान, ७४

भिखारीदास की निम्नोद्धृत पंक्तियों में कामदेव को अतन कहने में उसके भस्मीभूत शरीर का संदर्भ है—

एरी बेग करिकै मिलाय थिर थाप
नतु आप अब चाहत अतन को सरीर भो।—शृंगारनिर्णय, ९७

साकेत में विरहिणी उर्मिला कामदेव को सम्बोधन करके, हरनेत्र-सदृश अपने सिन्दूर-विन्दु से उसे भस्म कर देने का भय दिलाती है। इसमें कामदेव का मूर्त होना स्पष्ट है—

मुझे फूल मत मारो,
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो
बल हो तो सिन्दूरबिंदु यह—यह हरनेत्र निहारो
रूपदर्प कन्दर्प, तुम्हें तो, मेरे पति पर बारो
लो, यह मेरी चरण-धूलि, उस रति के सिर पर धारो।[1]
साकेत, नवम सर्ग

---

[1] विरहिणी द्वारा कामदेव को सम्बोधन किये जाने की निम्नोद्धृत प्राचीन

(२) पुष्पमय धनुष-बाण—

"पौराणिक कथा के अनुसार जब कामदेव को शिव ने भस्म किया तो उसका मणिखचित धनुष पाँच टुकड़ों में विभक्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रुक्म-विभूषित पृष्ठवाला मुष्टिबंध (मूठ) चम्पा का फूल होकर पैदा हुआ; वज्र (हीरा) का बना हुआ नाहस्थान बकुलपुष्प हुआ; इन्द्रनील-शोभित कोटिदेश पाटलपुष्प में परिवर्तित हो गया; नाह और मुष्टिबंध का मध्यवर्ती स्थान, जो चन्द्रकान्तमणि की प्रभा से प्रदीप्त था, जातीपुष्प हुआ; और मूठ के ऊपर तथा कोटि के नीचे का हिस्सा, जिसमें विद्रुम मणि जड़ी गई थी, मल्ली के रूप में पृथ्वी पर पैदा हुआ। तब से काम का धनुष पुष्पमय होकर ही पृथ्वी पर विराजमान है।"[1]

कामदेव के बाणों के विषय में अनेक मत हैं। उसके पुष्पमय पाँच बाणों में अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल की गणना की जाती है।[2] मानसिक प्रभाव के पाँच बाणों की भी कल्पना की गई है। इस विषय

संस्कृत उक्ति भी है। विरहिणी के रूप-प्रसाधन में, कामदेव को होने वाली शिव की भ्रांति के निवारण का भाव इसमें निहित है—

जटा नेयं वेणी कृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां व्यथयसि॥

सूरदास द्वारा इस का अनुवाद भी द्रष्टव्य है—

सबन अवध, सुंदरी बधै जनि
मुक्तामाल अनंग गंग नहिं, नव-सत साजे अर्थ-स्यामघन।
भाल तिलक उडुपति न होय यह, कबरि-ग्रंथि अहिपति न सहसफन।
नहिं बिभूति दधिसुत न भाल जड़, यह मृगमद-चंदन-चर्चित तन।
न गज चर्म यह असित कंचुकी, देखि विचारि कहाँ नंदीगन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बरबस काम करत हठ हम सन॥

भ्रमरगीतसार, ३१८

[1] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका आषाढ १९९३, पृष्ठ ३८३

[2] अरविंदमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य सायकाः॥—अमरकोष, १।१।२७

में निम्नलिखित पृथक् सूचियों का उल्लेख मिलता है। इन्हें कामदेव के बाणों का धर्म कहना उचित होगा। क्रम से उक्त पुष्पों के गुण भी इन्हें माना जा सकता है।

(१) द्रावण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन[१]

(२) सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तंभन।[२]

(३) सम्मोहन, समुद्वेगबीज, स्तम्भन, उन्मादन और ज्वलन।[3]

इन पृथक्-पृथक् सूचियों में वस्तुतः विशेष अन्तर नहीं है। पहली का द्रावण दूसरी के स्तम्भन के समान है, दूसरी के शोषण और तापन, तीसरी के क्रमशः समुद्वेगबीज और ज्वलन के समान हैं। अतः कामदेव के पाँच अमूर्त बाण इस प्रकार हैं—(१) द्रावण अथवा स्तम्भन, (२) शोषण अथवा समुद्वेगबीज, (३) तापन अथवा ज्वलन, (४) सम्मोहन (मोहन), और (५) उन्मादन।

अन्य मत के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ज्ञानेन्द्रियों के ये पाँच विषय ही कामदेव के पाँच बाण हैं।

संस्कृत और हिन्दी के काव्यों में कामदेव को पुष्पधनुष और पुष्पबाण अथवा इनके पर्यायवाची शब्दों से अभिहित किया गया है। वास्तव में ये कामदेव की उपाधियाँ हैं, किन्तु इनका प्रयोग उसके नाम के रूप में भी किया गया है। कविसमय के अनुसार उपाधि और नाम एकार्थक होते हैं।[४]

कामदेव को बसन्त का अभिन्न सहयोगी माना गया है। वसन्त का वातावरण कामभावना को स्वाभाविक रूप से उद्दीप्त करता है। वसन्त-कालीन

---

[१] द्रावणं शोषणं बाणं तापनं मोहनाभिधं
उन्मादनं च कामस्य बाणाः पंच प्रकीर्तिताः

[२] सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा।
स्तम्भनश्चेति कामस्य पंचबाणाः प्रकीर्तितः॥
उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च कामस्य पंचबाणः प्रकीर्तितः॥—अमरकोष, १।१।२८

[3] सम्मोहनं समुद्वेगबीजं स्तम्भनकारणम्।
उन्मत्तबीजं ज्वलनं शश्वश्चेतनहारकम्॥

[४] देखिये—'नाम और उपाधि' प्रकीर्णक वर्ग।

वन-उपवन का प्राकृतिक सौन्दर्य उद्दीपन का सहायक होता है। विभिन्न पुष्प प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रतीक हैं। पुष्पों के वर्ण और आकार से अधिक उनकी गंध का योग वातावरण को मादक बनाने में रहता है। पुष्पों के मादक प्रभाव के आधार पर ही उनमें काम के धनुष और बाणों की उत्प्रेक्षा की गई है। काव्यमीमांसा के वसन्त-प्रसंग के एक श्लोक में कहा गया है कि कामदेव वसन्त के नये पुष्पों से अपनी धनुष–यष्टि का निर्माण करता है।[१]

श्रीहर्ष ने दमयन्ती की भौंहों के सौन्दर्य की व्यंजना के लिए कहा है कि कामदेव अपने कीड़ों द्वारा खाये, पुराने धनुष को त्याग कर, दमयन्ती की भौंहों को धनुषरूप में धारण करे।[२]

जयदेव ने राधा की कण्ठ-माल के पुष्पों में कामबाणों का आरोप किया है—

कुसुम सुकुमारतनमतनुशर लीलया।
स्रगपि हृदि हन्ति मामपि विषय शीलया॥

—गीतगो., ७

अन्यत्र, उन्होंने अधर, गण्ड, नेत्र, नासिका और दाँतों के प्रसिद्ध उपमान-रूप[3] बन्धूक, मधूक (महुआ), नीलकमल, तिलपुष्प और कुन्द में कामबाणों की उत्प्रेक्षा के आधार पर राधा की मुखश्री व्यंजित की है—

बन्धूकद्युतिबान्धवोऽयमधुरः स्निग्धो मूधकच्छवि–
र्गण्डश्चण्डि ! चकास्ति नीलनलिनश्रीमोचनं लोचनम्
नासाभ्येति तिलप्रसून पदवीं कुन्दाभदन्ति प्रिये।
प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः

—गीतगो., १०

---

[१] स्मरो वसन्तेऽत्र नवप्रसूनैः।
स्वचापयष्टेर्घटना करोति॥—काव्यमीमांसा, अध्याय १८

[२] रजः पदं षट्पद कीट जुष्टं हित्वात्मनः पुष्पमयं पुराणम्।
अव्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्घृतमुष्टिचापम्॥
नैषध, १०।११९

[3] दे, परि. २ प्रसिद्ध उपमान, तत्तत अंग।

जयदेव द्वारा पुष्पमाल में कामबाणों की उत्प्रेक्षा के समान, सूरदास ने उनका आरोप कुसुमित सेज में किया है—

कुसुमित सेज कुसुम-सर सरवर,
हरि के प्रान प्रानपति जीजै ।।—सूर., ३९८१

तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर कामदेव के पुष्प-बाणों का बोध कराया है। उदाहरणार्थ—

सूल कुलिस अँग अँगवनि हारे ।
ते रतिनाथ कुसुम सर मारे ।—मानस., १।२५

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें ।
सकल भुवन अपने बस कीन्हें ।।—मानस., १

सिय-बियोग-दुख केहि बिधि कहउँ बखानि ।
फूलबान से मनसिज बेधत आनि ।।—बरवै., ४०

केशवदास की निम्नोद्धृत पंक्तियों में राम द्वारा परशुराम की गति सहज ही भंग किये जाने का भाव कामदेव के पुष्पबाणों के उल्लेख द्वारा व्यंजित हुआ है। भाव यह है कि जिस प्रकार कामदेव पुष्पों के कोमल बाणों से विषयी को अनायास आहत करता है, वैसे ही राम ने परशुराम का गतिरोध किया—

विषयी की ज्यों पुष्पसर गति को हनत अनंग ।
रामदेव त्यों ही करी परसुराम गति भंग ।।

—रामचन्द्रिका, ७।५०

देव ने विरह-व्यंजना के लिए, अनंग होने पर भी पुष्पबाणों से विश्वविजय करने वाले कामदेव को नायिका के रोष का आलम्बन बनाया है—

आपु अनंग लिये अबला दल फूल के बाननि सों जग जीते
यों कहि देव ! जु क्यों कहिए, बिधि चाह विचित्र करे सु जो चीते
गोकुल गाँव को गोपकुमार, सु को कहै कोककलानि अधीते
काम बिथा पर सिंह को थापर, तापर पूछिय जापर बीते ।

—शब्दरसा., पृ० १०८

घनआनन्द ने वनिताओं का आखेट करने वाले योद्धा कामदेव के पुष्पबाणों का कारण उसका सहायक बसन्त माना है—

नीके नए अति जी के लगौंहैं सुधारे हैं तून प्रसून के सायक
चौगुनी चोपनि तैसोइ चाप चहोरि दै हाथ सज्यौ भटनायक
पौन तुरंग चढ़यौ बनि यौं बनितानि अहेरैं कढ़यौ दुखदायक
हौ घनआनँद जान कहाँ रितुराज भयौ रतिराज-सहायक

—घनग्रं. सुजान., ३७१

रत्नाकर ने गोपियों के अंगों के उपमान रूप पुष्पों में काम-बाणों की उत्प्रेक्षा की है—

कंज-कली-आकृति, समान सब, पँचरँग-पूरे
लाइ सुमन बहु भाँति पाँति करि रचे कँगूरे
लखि तीछन सोभा तिनकी यह परत जनाई,
मानहु कुसुमायुध बाननि की बाढ़ जमाई

—हिंडोला, २६

साकेत की उर्मिला का रोष कामदेव के प्रति इसी कारण व्यक्त हुआ है कि वह निरीह पुष्पों को आयुध बनाकर विरहियों को आहत करने का दोषी है—

फूल खिलो आनन्द से, तुम पर मेरा तोष ।
इस मनसिज पर ही मुझे, दोष देख कर रोष ।।

—साकेत, नवम सर्ग

(३) भ्रमरपंक्ति की प्रत्यंचा

विकसित पुष्पों में कामदेव के धनुष-बाणों का आरोप करके, पुष्पों पर मँडराने वाले भौंरों में उसकी प्रत्यंचा का आरोप किया जाना ही इस कवि-प्रसिद्धि के मूल में जान पड़ता है। भ्रमरश्रेणी केशों (विशेषतः वेणी) और भौंहों का प्रसिद्ध उपमान भी है।[१] उक्त अंग शृंगार के आधार हैं। अतः शृंगार के देवता कामदेव से उनका सीधा सम्बन्ध है।

कालिदास ने ऋतुसंहार के वसन्त-प्रसंग के आदि और अन्त के छंदों में, योद्धा के रूपक से कामदेव का वर्णन करते हुए उसकी भ्रमरपंक्तिमयी प्रत्यंचा का उल्लेख किया है—

प्रफुल्लचूतांकुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसंगिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ।

—ऋतु., ६।१

[१] दे. परि. २ तत्तत् अंग।

आम्री मंजुलमंजरी वरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम्
मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्वन्दिनौ लोकजि-
त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः।

—वही, ६।३८

काव्यमीमांसा के निम्नलिखित छंद में भी गुंजन करते भौंरों को कामदेव की प्रत्यंचा कहा गया है—

धनुर्माला मौर्वी क्वणदलिकुलं लक्ष्यमबला
मनोभेद्यं शब्द प्रभृति य इमे पंच विशिखाः
इयान् जेतुं यस्य त्रिभुवनमनंगस्य विभवः
स वः कामः कामान्दिशतु दयितापांगवसतिः ॥

—काव्यमी. अ., १६

(४) काम-बाणों से युवकों का हृदय विद्ध होना।

शृंगारी व्यंजनाओं के लिए प्रायः स्त्री-कटाक्षों में कामबाणों का आरोप करके, उनके द्वारा युवकों के हृदय विद्ध होने[1] का वर्णन किया जाता है। इसकी संगति इस प्रकार भी देखी जा सकती है कि नेत्रों के अनेक रंगों[2] के अनुरूप विविध पुष्पों से उनकी उपमा दी जाती है।[3] कटाक्षों में भी उनका आरोप होता है। कामदेव के पुष्पबाणों की व्यंजना इससे सहज ही हो जाती है।

सुभाषितरत्नभाण्डागार के निम्नलिखित श्लोक में कामबाणों के प्रहार से युवकों के हृदय मूर्च्छित होने का भाव है, युवतियों की स्मित-सुधा से वे पुनः जीवित होते हैं—

कामबाणप्रहारेण मूर्च्छितानि पदे पदे।
जीवन्ति युवचेतांसि, युवतीनां स्मितामृतैः ॥

—सुभाषित., ४४०।२१४

---

[1] दे. मनुष्य वर्ग, स्त्रीकटाक्ष प्र.

[2] दे. वर्ण वर्ग, आँखों के अनेक रंग. प्र.

[3] दे. परि. २. प्रसिद्ध उपमान, 'नेत्र'।

प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्र) के निम्नोद्धृत दोहे में श्यामा युवती की दृष्टि-वक्रता में कामबाणों की उत्प्रेक्षा है, दृष्टि-वक्रता में वृद्धि के क्रम से कामबाणों की तीक्ष्णता भी बढ़ती है—

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं, णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वन्महु निअय सर, खर पत्थरि तिक्खेइ ॥

विद्यापति ने नेत्रों में कामबाणों का आरोप करके, उन्हें रसिकजनों (युवकों) का वध करने वाला कहा है—

तिन बान मदन तेजल तिन भुवनें
अबधि रहल दओ बाने ।
बिधि बढ़ दारुन बधए रसिक जन
सोपल तोहर नयाने ॥

—पदावली., १५

मतिराम ने चन्द्रमुखी के अनेक अंगों में कामबाणों की उत्प्रेक्षा की है—

चन्द्रमुखनि के भौंह जुग, कुटिल कठोर उरोज ।
बाननि सौं मन कौं जहाँ, मारत एम मनोज ॥

—मतिराम ग्रं., पृ. ३६४

(५) कामध्वज में मकर और मत्स्य की एकता

जलचर जीवों में प्रथम अभ्युदय मत्स्य का है। मकर उन सब में श्रेष्ठ है। अर्थात् जलचर जीवों के क्रमविकास की दृष्टि से पहला स्थान मत्स्य का और अन्तिम स्थान मकर का है। इन दोनों के द्वारा समस्त जलजीवों का प्रतिनिधित्व होता है। जल के अधिपति वरुण से इन जलजीवों का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण वरुण के अवतार कामदेव[1] से भी उनका समान सम्बन्ध है। देवी-देवताओं के ध्वजों में उनके वाहनों के चिन्ह अंकित माने गये हैं।[2] वरुण और कामदेव का वाहन मकर प्रसिद्ध है। मत्स्य-मकर के उक्त सम्बन्ध से कामध्वज में इन दोनों की समान स्थिति सिद्ध होती है। इसका सामान्यीकरण ही दोनों के अभेद में प्रतिफलित हुआ जान पड़ता है।

---

[1] विष्णुधर्मोत्तर ३।५८

[2] दे. 'नाम और उपाधि' प्र.

राजशेखर ने इस कविप्रसिद्धि के समर्थक दो छंद उद्धृत किये हैं, उनमें से एक में कामदेव को मकरकेतु और दूसरे में मीनध्वज कहा गया है।[1]

हिन्दी-काव्यपरम्परा में भी कामध्वज के सम्बन्ध में मकर और मत्स्य दोनों का उल्लेख प्राप्त है।

चन्द ने इच्छिनी के यौवनागम (वयः संधि) प्रसंग में कामध्वज से सम्बद्ध मकर का वर्णन किया है--

ज्यों करकादि निसा, मकरादि दिन
करक आदि सैसब सुगुर।
मकरादि बाल जोवन जदिन
काम धुजा लीनी सुधुर ॥ —सं० रासो, ४।९

तुलसीदास द्वारा इस सम्बन्ध में व्यापक अर्थवाले 'वारिचर' शब्द का व्यवहार, मकर और मत्स्य दोनों की एक साथ व्यंजना करता है—

कोपेउ जबहिं वारिचर केतू
छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू

मानस, १।८४

बिहारी की अनूठी कल्पना द्वारा श्रीकृष्ण के मकराकृति कर्णकुण्डलों में कामदेव की मकरपताका की व्यंजना हुई है—

मकराकृति गोपाल के कुंडल सोहत कान।
धस्यौ मनौ हियधर समर, ड्योढ़ी लसत निसान ॥

बिहारी, ४९७

---

[1] चापं पुष्पमयं गृहाण मकरः केतुः समुच्छ्रीयतां
चेतोलक्ष्यभिदश्च पञ्च विशिखाः पाणौ पुनः सन्तु ते।
दग्धा कापि तवाकृतेः प्रतिकृतिः कामोऽसि किं गूहसे
रूपं दर्शय नात्र शंकरभयं सर्वे वयं वैष्णवाः ॥
मीनध्वज स्त्वमसि नो न च पुष्पधन्वा
केलिप्रकाश तव मन्मथता तथापि।
इत्थं त्वया विरहितस्य मयोपलब्धाः
कान्ताजनस्य जननाथ चिरं विलापाः ॥—काव्यमी. अ., १६

घनआनंद ने कामदेव की मीनकेतु उपाधि का उसके नाम के सदृश उल्लेख किया है—

सोभा को निकेत नेत भाखत निगम जाहि
ताके सुख हेत मीनकेत रसखेत है ।

घनग्रं. सुजान, ८२

हरिऔध ने, बिहारी के समान ही, कर्णकुण्डलों की मकराकृति में कामकेतु की व्यंजना की है—

मकर-केतन के कल केतु से
लसित थे वर कुंडल कान में ।
घिर रही जिनके सब ओर थी
विविध भावमयी अलकावली ।। प्रिय-प्रवास, १।१९

पातालीय वर्ग

दैत्य, दानव और असुर

कविसमय के अनुसार दैत्यों, दानवों और असुरों में अभेद माना गया है।[१]

पुराणों में दैत्यों, दानवों और असुरों के वंश की उत्पत्ति के अनेक आख्यान हैं। उनके अनुसार कश्यप ऋषि की दिति और दनु नामक पत्नियों से क्रमशः दैत्यों और दनुजों की उत्पत्ति हुई।[२] असुरों की उत्पत्ति के विषय में रामायण में कहा गया है कि समुद्रोत्पन्न सुरा (वारुणी) का ग्रहण करने के कारण देवता सुर कहलाये, और उसका त्याग करने के कारण दैत्य असुर कहलाये।[3] अग्निपुराण में समस्त सृष्टि को दैव और आसुर इन दो भागों में बाँट कर, भगवान् विष्णु की भक्ति करने वाले अंश को देव और उनसे विपरीत आचरण करने वाले को असुर कहा गया है।[४]

ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में 'असुर' शब्द इष्टदेव का स्थानापन्न है। वह वरुण, इन्द्र आदि की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[५] उत्तर वैदिक साहित्य और विशेषतः पुराणों में यह शब्द देवताओं के शत्रुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ वामन और मार्कण्डेय पुराणों में शुम्भ और निशुंभ नामक

---

[१] दे. परि. १ (क), (ख)

[२] भारत १।६५

[3] वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन
उत्पपात महाभाग मार्गमाणा परिग्रहम्
दिते पुत्रा न तां राम जगृहुवरुणात्मजाम्
आदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम्
असुरास्तेन दैतेयः सुरास्तेनादितेः सुताः ॥—रामा., १।४५।३६-३८

[४] द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च।
विष्णुर्भक्तिपरो देवो विपरीतस्तथाऽसुरः ॥—अग्निपु., ३८३।१२

[५] ऋग्वेद १।६५।२
वाजसनेयी संहिता ३।१५५ में वरुण को असुरों और देवों का अधिपति कहा गया है।

दनुजों के विशेषण रूप में इसका उल्लेख है।[१] असुर शब्द के अर्थ की इस असंगति के कारणों की खोज में विद्वानों ने उसकी प्राचीन विदेशी उत्पत्ति का अनुमान किया है।[२] किन्तु 'असुर' शब्द की सबसे सरल और सम्भवतः अधिक

---

१ कश्यपस्य दनुर्नाम भार्याऽसीद्विजसत्तम्
तस्यास्तु द्वौ सुतावस्तां सहस्राक्षावलाधिको ।
ज्येष्ठः शुम्भ इति ख्यातो विशुम्भश्चापसुरः
तृतीयो नमुचिर्नाम महाबल समन्वितः ।।

—वामन पु. अ. २२

वैवस्वतेन्तरे प्राप्तेऽष्टाविंशतिमे युगे
शुम्भोनिशुम्भश्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ ।
नन्दगोप गृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवसिनी ।।

—मार्कण्डेय पु., ९१।३६-३७

२ (क) अस्सुर (अशिर, अशुर, अथवा असुर) असीरिया का राष्ट्रीय देवता था। असीरिया देश का नाम भी उसी के आधार पर पड़ा। उक्त शब्द का ठीक-ठीक अर्थ तो ज्ञात नहीं हो सका है, किन्तु उसकी व्याख्या मध्यस्थ पंच, निरीक्षक और स्वामी आदि की गई है। एशिया माइनर में हित्ताइत के राजा और मितानी के राजा के बीच हुई संधि से पता चलता है कि वैदिक आर्य असीरिया निवासियों के पड़ोसी थे। असीरिया निवासियों द्वारा आर्यों की भारत में प्रगति का वैसा ही विरोध हुआ, जैसा कि भारत के आदिम दस्युओं द्वारा। इस प्रकार असीरिया निवासियों के प्रति आर्यों का द्वेषभाव हुआ। कालान्तर में आर्यों की धार्मिक पद्धति का विकास होने पर असुरों के विरुद्ध आर्यों के युद्ध ने देवासुर संग्राम का रूपक धारण किया।

(ख) असीरिया के पड़ोसी देश फारस के माध्यम से भी इस विषय का ज्ञान होता है। फारस में 'असुर' शब्द अहुर के रूप में गृहीत हुआ। ईरान में असुर शब्द तो स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त होता था, किन्तु देव (Daeva) शब्द दुष्टात्मा का बोधक था

शुद्ध व्युत्पत्ति 'असु' शब्द से है, जिसका अर्थ आत्मा अथवा प्राण है। इस प्रकार 'असुर' शब्द का अर्थ आध्यात्मिक प्राणी अथवा प्राणवान् होगा। इस आधार पर उपाधि रूप में इसके व्यवहार की संगति वैदिक देवताओं के लिए भी सिद्ध होती है, और देवताओं के शत्रु बलशाली दैत्यों के लिए भी।

कश्यप की अदिति नामक पत्नी से आदित्यों की उत्पति हुई। यद्यपि उनकी संख्या बारह मानी गई है, किन्तु पुराणों के विभिन्न उल्लेखों के अनुसार प्राय: सभी प्रमुख वैदिक सौर देवताओं की उनमें गणना है।[1] अत: कहा जा सकता है कि देव मूलत: आदित्य हैं। सम्भावना यह है दैत्यों और दानवों से देवों (आदित्यों) का विरोध होने पर उपाधि-रूप 'असुर' शब्द दैत्यों और दानवों के लिए तो यथावत् प्रयुक्त होता रहा, किन्तु देवों के लिए, 'अ' को निषेधार्थक प्रत्यय मानकर उसके केवल 'सुर' अंश को ग्रहण किया गया।

> मेसोपेटामिया क्षेत्र के अनेक राष्ट्रों के देवता समान थे। उन राष्ट्रों में जीवनदर्शन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के अनुरूप, पृथक्-पृथक् धार्मिक विचार और व्यवहार विकसित होते गये। फारस में जरथुस्त्र ने असुरों का उच्छेद करने वाले देवों (Daevas) का उत्कर्ष देखकर असुरों की श्रेष्ठता स्थापित की और उनके नाम को मज़दओं (Mazdao) की उपाधि दी। इस प्रकार, फारस का अहुरमज़दा उत्पन्न हुआ। यही, कालान्तर में, अरमज़द (प्रेग्य स्वामी अथवा सर्वज्ञ पिता) हो गया और भारत में इसका उलटा क्रम घटित हुआ। यहाँ असुर भय और आतंक का अधिष्ठाता निर्धारित हुआ, और 'देव' शब्द सौहार्द तथा दयालुता का द्योतक माना गया। दोनों देशों में देव शब्द के परस्पर विरोधी अर्थों का यही कारण है। इस धारणा के अनुसार 'असुर' शब्द 'सुर' शब्द के विरोध में उत्थित नहीं हुआ, बल्कि जब असुर शब्द दिव्यात्माओं के शत्रुओं के लिए प्रयुक्त होने लगा तो सुर शब्द उसका विपरीतार्थक हुआ।
>
> —ओशन आव् स्टोरी १, पृ. १९७–२०७ की टि० पर आधृत।

[1] दे. 'आदित्य' प्र.

पुराणों में प्रमुख-प्रमुख दैत्यों, दानवों और असुरों का उल्लेख मिलता है। राजशेखर ने इस कविप्रसिद्धि के स्पष्टीकरण में जो विवरण दिया है, उसके अनुसार—

हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाण आदि दैत्य हैं,

विप्रचित्ति, शम्बर, नमुचि, पुलोम आदि, दानव हैं,

और, बल, वृत्र, विक्षुरस्त, वृषपर्वा आदि, आसुर हैं।

काव्यकल्पलतावृत्ति का विवरण भी इसका अनुयायी है।

काव्यमीमांसा (अ. १६) के इस सम्बन्ध के दृष्टान्तों में दैत्यों दानवों और असुरों का अभेद इस आधार पर व्यंजित है कि कहीं तो दैत्य और दानव-विशेष को असुर कहा गया है, कहीं एक ही व्यक्ति को समान प्रसंग में दैत्य भी कहा गया है, दानव भी, और कहीं असुर शब्द से दैत्यों और दानवों का सामूहिक बोध कराया गया है। उदाहरणार्थ भर्तृमेण्ठ के हयग्रीव-वध से उद्धृत पहले श्लोक में हयग्रीव के लि 'दैत्य' उपाधि का व्यवहार है और दूसरे में उसी के लिए 'दानवाधिपति' सम्बोधन का—

अस्थि दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः॥
दानवाधिपतेः भूयो भुजोऽयं किं न नीयते।
सहायतां कृतान्तस्य क्षयाभिप्रायसिद्धिषु॥

हिन्दी-काव्य-परम्परा में पौराणिक आधार के इन स्वर्ग्य अर्थों का निबन्धन अत्यल्प हुआ है। भक्ति-काव्य में दैत्यों, दानवों और असुरों का उल्लेख प्रायः उनके जन्मांतर-रूप राक्षसों के प्रसंग में हुआ है। उनके मूल रूप के क्वचित्-कदाचित् उल्लेख में संस्कृत की परिपाटी का अनुसरण ही लक्ष्य है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

सूरदास की निम्नोद्धृत पंक्तियों में दैत्य बलि को असुर कहा गया है—

ऐसी को सकै करि तुम बिन मुरारी
सुरन के कहत, धारि कूरम तनहिं, मंदराचल लियौ पीठि धारी।
सिंधु मथि सुरासुर अमृत बाहर कियौ, बलि असुर लै चल्यौ सो छिनाई॥

—सूर. ४३६

इसी प्रकार दैत्य हिरण्यकशिपु को भी असुर कहा गया है—

हिरनकसिप क्रोधहिं मन धार्यौ, जाइ खंभ को मुष्टिक मार्यौ ।
कटि तब खंभ भयौ द्वौ फारि, निकसे हरि नरहरि बपु धारि ।।
देखि असुर चक्रित ह्वै गयो । बहुरि गदा लै सनमुख भयौ ।।

—सूर. ४२१

तुलसीदास द्वारा एक ही प्रसंग में तारक को असुर भी कहा गया है दनुज भी—

तारक असुर भयउ तेहि काला ।
भुज प्रताप बल तेज बिसाला ।।

सब सन कहा बुझाइ रिपु दनुज निधन तब होइ ।
संभु-सुक्र-संभूत-सुत, एहि जीतहि रन सोइ ।।

—मानस. १।४२

नाग और सर्प

कविसमय के अनुसार नागों और सर्पों में अभेद माना गया है ।[1]

भारतवर्ष में नागों और सर्पों की पूजा आदिकाल से होती रही है, किन्तु वेदों में नागों का उल्लेख विरल है । परवर्ती संस्कृत-साहित्य में नागों को मान्यता मिली है । पुराणों में नाग, सर्पों के देवता माने गये हैं, और पाताल लोक की भोगावती नगरी उनका निवासस्थान कही गयी है ।[2] महाभारत में कश्यप की पत्नी कद्रू से नागों की उत्पत्ति का[3], और जनमेजय के नागयज्ञ में उनके विध्वंस का वर्णन है ।

पौराणिक आख्यानों में से कुछ के अनुसार तो नागों के सरीसृप स्वभाव का परिचय मिलता है और कुछ के अनुसार उनके अर्द्धमानवाकार का । कहीं तो उनका शिरोभाग ही मनुष्यों के समान कहा गया है, और कहीं कटिदेश तक का भाग ।

भारतवर्ष में नागों की पूज्यता के विषय में अनेक विश्वास प्रचलित हैं । विद्वानों का, पुरातात्विक आधार पर, अनुमान है कि नाग प्रागैतिहासिक पार्वत्य जातियों में से किसी के अवशेष हैं । पिशाच जाति से भी इनके सम्बन्ध की कल्पना की गई है । कश्मीर की 'नीलमाता' नामक आनुश्रविक कथा के अनुसार कश्यप ने कश्मीर की घाटी को पहले केवल नागों से बसाया था । बाद में जब मनुष्यों को भी उन्होंने प्रविष्ट करना चाहा, तो नागों ने विरोध

---

[1] दे. परि. १ (क), (ख)

[2] इयं भोगावती नाम पुरी वासुकिसेविता ।
यादृशी देवराजस्य पुरीवर्यामरावती ॥
प शेषः स्थितो नागो येने धार्यते सदा ।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहित मही ॥
श्वेताचल निभाकारो दिव्याभरण भूषितः ।
सहस्रं धारयन् मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः ॥—भारत. ५।१०३।१-३

[3] भारत. १।१६।५–८

किया। फलतः कश्यप ने नागों को शाप दिया। इस सम्बन्ध के पौराणिक आख्यानों पर विचार करने से विदित होता है कि कश्मीर की घाटी किसी समय सरोवर-रूप थी। शिव ने उसे शुष्क किया और वह प्रजापति कश्यप द्वारा बसाई गई। कश्यप की अनेक पत्नियों में से तीन प्रमुख थीं, उन्हीं से नागों, पिशाचों, यक्षों और राक्षसों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार, नागों और पिशाचों का घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है।[१] यक्षों के साथ भी नागों का घनिष्ठ सम्बन्ध अनुमित है। फर्गुसन के अनुसार यक्ष और नाग जो क्रमशः उर्वरता और वृष्टि के देवता माने जाते थे, किसी दस्यु या असुर जाति के उपास्य थे।[२] उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में लगभग पचीस हजार से अधिक नाग-पूजक अब भी निवास करते हैं।[३]

किस प्रकार मानव जाति के नागों और सरीसृप वर्ग के सर्पों में अभेद माना जाने लगा, इस विषय में अनेक सम्भावनाएँ हैं। एक तो यह कि सर्पों की जाति-विशेष का नाम नाग रहा हो, और कालान्तर में मानव नागों का सर्पों से शाब्दिक भेद लुप्त हो गया हो। दूसरे यह कि मानव अथवा देव जातियों में से किसी का नाम सर्प रहा हो और कालान्तर में उसका अर्थ लुप्त हो गया हो। महाभारत में एक रुद्र का नाम सर्प है।[४] म्लेच्छों के एक छोटे वर्ग का नाम सर्प था, जो पहले क्षत्रिय थे।[५] बिष्णुपुराण में एक राक्षस का नाम सर्प है।[६]

इस कविप्रसिद्धि के समर्थन मे राजशेखर ने जो श्लोक उद्धृत किया है,

[१] ओशन आव् स्टोरी १, पृ. १७९–२०७ की टि. पर आधृत।

[२] ट्री एंड सर्पेन्ट वर्शिप, प. २२४ [पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ १९९३, पृ. ३७०]

[३] चूक, फोकलोर आव् नार्दर्न इंडिया [ओशन आव् स्टोरी पृ. १९७–२०७ की टि. में उद्धृत]
हमारे प्रदेश में भी प्रतिवर्ष 'नागपंचमी' का उत्सव प्रसिद्ध है। उस दिन सर्पों की पूजा होती है और अखाड़ों में मल्लयुद्ध का उत्साह रहता है। इससे सहज अनुमान होता है कि नाग लोग विशेष बलशाली रहे होंगे, और सर्पों के चिह्न धारण करते होंगे।

[४–६] मोनियर. प. १८४ 'सर्प' शब्द।

उसमें वासुकि के लिए 'नागराज' सम्बोधन है।[1] भाव यह है कि वासुकि मूलतः सर्प है, नाग और सर्प के अभेद के आधार पर उसे नाग कहा गया है। किन्तु, पुराणों में नागों और सर्पों के सम्बन्ध में इस प्रकार का अभेद प्रायः मिलता है। महाभारत के समुद्र-मन्थन-आख्यान में भी वासुकि को नाग कहा गया है—

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकीम्।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम्॥
अनन्तो भगवान देवो यतो नारायणस्ततः।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत्॥
—भारत. १।८।१३-१५

और काद्रवेय नागों के साथ वासुकि का उल्लेख है—

शेषः प्रथमतो जातो, वासुकिस्तदनन्तरम्॥
—भारत. १।२५।४

वस्तुतः बहुत प्राचीन काल से नाग और सर्प शब्द परस्पर पर्याय रहे हैं। पुराणों में काद्रवेय नागों के सरीसृप रूप का वर्णन मिलता है; और भुजंग, उरग, पन्नग आदि सर्पवाची शब्द उनके लिए व्यवहृत हैं।

हिन्दी-काव्यपरम्परा में भी यह अभेद अक्षुण्ण है। नाग के लिए सर्प अथवा सर्पवाची पर्याय, और सर्प के लिए नाग के उल्लेख में इस कविप्रसिद्धि का पालन कहना कदाचित् उपयुक्त न होगा, क्योंकि कवियों का ध्यान इनके भेद की ओर गया हो, सामान्यतः ऐसा नहीं विदित होता। यह भी कहा जा सकता है कि यह परम्परा इतनी अधिक प्रसिद्ध हो गई है कि कवियों के लिए इसका पालन सहजसिद्ध रहा है। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं।

जायसी ने विषैले सर्पों का बोध, उन्हें नाग कह कर कराया है—

कीन्हेसि नाग जो मुख विष बसा।
कीन्हेसि मंत्र हरै जेहि डसा॥—पदमा०, १।३

---

[1] हे नागराज बहुमस्य निस्तम्वभागं
भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः
सोढाविषह्य वृषवाहनयोगलीला-
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः॥ —काव्यमी. अ., १६

तुलसीदास के निम्नलिखित उद्धरणों में नाग और उरग (सर्प) समानार्थी हैं—

ईससीस बससि, त्रिपथ लससि नभ-पताल-धरनि।
मुनि, सुर, नर, नाग, सिद्ध, सुजन मंगल करनि ।।

—विनय., २०

यक्ष गंधर्व मुनि किन्नरोरग दनुज।
मनुज मज्जहिं सुकृतपुंज जुत कामिनी ।।

—वही, १८

इसी प्रकार, केशवदाश की निम्नोद्धृत पंक्तियों में नाग, पन्नग और सर्प शब्द समान अर्थ में उल्लिखित हैं—

राजपुत्र जुग नागनि देख्यो। भूमिजुक्त तरु चन्दन लेख्यो ।।
पन्नगारि प्रभु पन्नगसाई। काल चालि कछु जानि न जाई ।।
काल सर्प के कवल तें, छोरत जिन को नाभ।
बँधे ते ब्राह्मन बचन बस, माया सर्पहि राम ।।

—रामचन्द्रिका०, १७।१२।१३

संकीर्ण कविप्रसिद्धियाँ

संकीर्ण कविप्रसिद्धियाँ

(अ)

भाषा और व्याकरण सम्बन्धी कविसमय

कविसमय के अनुसार—

(१) चित्रकाव्य में र–ल, ड–ळ, ब–व, और श–स इन युग्म अक्षरों का अभेद मान्य है, तथा अनुस्वार और विसर्ग की गणना न करने का विधान है।

(२) इव, वत्, वा, हि, ही, ह, स्म, वत्, वै, नु, किल, एव, च इन अव्ययों को पद के आदि में रखने का निषेध है।

(३) 'महत्' शब्द का भूत, इन्द्र, भारत और ईश के साथ निरर्थक प्रयोग, तथा ब्राह्मण, वृष्टि, भोज्य, औषध, पथ्य आदि के साथ दुष्टार्थक प्रयोग स्वीकृत है।

(४) शिव को शूली तो कहना, सर्पी न कहना; चन्द्रमा को शशि कहना, किन्तु हरिणी न कहना; और महादेव को इन्दुमौलि तो कहना, पर गंगामौलि न कहना, उचित है।

उपर्युक्त (२) की परिपाटी पूर्णतया संस्कृत तक परिमित है, हिन्दी के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। (१) में से र–ल आदि अक्षर-युग्मों का अनुसरण अपभ्रंशों के माध्यम से विकसित मध्यकालीन भाषाओं के लिए सामान्य-सिद्ध है। अनुस्वार और विसर्ग का प्रयोग भी देशी भाषाओं की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। खड़ी बोली में चित्रकाव्य की प्रणाली ही नहीं है। फिर भी, इस सम्बन्ध के प्राचीन हिन्दी-काव्य के अपने नियम द्रष्टव्य हैं।

भिखारीदास ने काव्यनिर्णय में चित्रकाव्य का विचार किया है। उसके अनुसार ब और व का अभेद तो संस्कृत के समान ही है, ज और य का अभेद हिन्दी का अपना है। इसके अतिरिक्त अर्धचन्द्र की गणना न करने की परिपाटी है :

ब व ज य वर्नति जानिये, चित्रकाव्य में एक।
अर्धचन्द्र को जनि करौ, छूटै लगै बिबेक॥

काव्यनिर्णय २१।२

कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :

कौन बिकल्पी बर्न, कहा बिचारत गनकगन।
हरि ह्वैकै दुखहर्न, काहि बचायो ग्रसत छन ॥
कै बाँ प्रभु अवतार, क्यों बारै राई-लवन।
कौन सिध्धिदातार, दास कह्यो बारनबदन ॥

अस्य तिलक

बा, बार, बारन, बार, नब, बारन बद, बारनबदन।

—वही २१।२२–२३ अ

क्रमव्यस्तसमस्त के उक्त दृष्टांत में विकल्पी वर्ण 'वा' के स्थान पर बा मान्य है; ब–व के अभेद से ही यह सम्भव है।

को सुघर, कहा कीन्ही लाज गनिकानि, को
पढ़ैया खग, मोहै काहे मृग, कहाँ तपी बस।
कहा नृप करै, कहा भू में बिसतरै, कहा
जुवा छबि धरै, को है दास नाम, कै हैं रस।
जीतै कौन, कौन अखरा की रेफ, कै कै कहा
कहैं, क्रूरमीत राखै कहा कहि घोस दस।
साधु कहा गावैं, कहा कुलटा सखी सिखावै,
सबको उतर दास जानकीरवनयस ॥

अस्य तिलक

जान, न की, कीर, रव, बन, नय, यस [सय=सज, यन=जन],
र की, कीन, न जा, जानकीरवनयस, सयन वर की।

—वही २१।२८–२९ अ

गतागज दूजी शृङ्खला के उक्त दृष्टांत में 'कहा जुवा छबि धरै' और 'को है दास नाम' इन प्रश्नों के उत्तरों में क्रमशः सय (=सज) और यन (=जन) में य और ज का अभेद है।

उपर्युक्त (३) के महत् शब्द का, इन्द्र, भूत, भारत, ईश शब्दों के साथ निरर्थक प्रयोग हिन्दी में भी सामान्यतः होता है; अर्थात् इन्द्र और महेन्द्र, भूत और महाभूत, भारत और महाभारत, तथा ईश और महेश इन युग्मों का समानार्थी प्रयोग होता है। ब्राह्मण, वृष्टि, भोज्य, औषध, पथ्य आदि शब्दों

के साथ महत् के योग से बने महाब्राह्मण, महावृष्टि, महाभोज्य, महौषध, महापथ्य आदि शब्द अपने प्रकृत अर्थों से भिन्न दुष्ट अर्थों में प्रायः प्रयुक्त होते हैं। इनके साथ विशेष संदर्भों और भावनाओं का योग ही इसका कारण है। उदाहरणार्थ श्राद्ध अथवा मृतक-संस्कार कराने वाले ब्राह्मण को मंगल-भाषित रूप में 'महाब्राह्मण' कहा जाता है, अतिवृष्टि हानिकारक होने से महावृष्टि कहलाती है। इस प्रकार के अर्थ परिवर्तनों के मूल में लक्षणा शक्ति रहती है।

(४) शिव को सर्पी न कहने के मूल में यह कारण जान पड़ता है कि 'सर्पिन्—' शब्द के अर्थ में तीव्रगामिता की क्रिया का भाव[१] रहता है, जो शिव के सम्बन्ध में अनुपयुक्त है। चन्द्रमा को हरिणी न कहने में यह कारण प्रधान जान पड़ता है कि हरिणी शब्द से हरिणी—मृगी का भ्रम होता है। महादेव को गंगामौलि न कहने में गंगा शब्द के व्युत्पत्यर्थ[२] में शीघ्रगामी[3] होने का भाव प्रधान जान पड़ता है। इससे व्यंजित चांचल्य का भाव महादेव के सम्बन्ध में गाम्भीर्य (उनकी स्थिर समाधि) की भावना का ह्रास करेगा। सम्भावना यह भी है कि 'गंगामौलि' से व्यक्त गंगा को सिर पर नित्य धारण करने की महादेव की वृत्ति यथार्थ नहीं है, जबकि चन्द्रमा को नित्य मौलि में धारण करने की उनकी वृत्ति यथार्थ है; इसी कारण, उन्हें गंगामौलि नहीं कहा जाता।

उक्त प्रसंगों में संदिग्ध-पद-दोषों से बचने का उद्देश्य कहा जा सकता है। भिखारीदास का निम्नोद्धृत विवेचन इसी प्रकार का है। पददोषों में संदिग्ध वर्णन का प्रसंग है।

नाम धर्‌यो संदिग्ध पद, सब्द संदेहिल जासु।
बंद्या तेरी लक्ष्मी, करै बंदना तासु॥

अस्य तिलक

बंद्या बंदी बानीहूँ सों कहिये ताकों बंदना कहा उचित है,
बंदनीय कों कह्यो होइ तौ बंदना उचित है।

—काव्यनिर्णय २३।१८-१८ अ

---

[१] मोनियर. पृ. ११८४

[२] उणादि सूत्र के अनुसार गंगा की व्युत्पत्ति 'गम्' से है।

—मोनियर. पृ. ३४१

[3] वही

(आ)

देवताओं और मनुष्यों का वर्णन

कविसमय के अनुसार—

(१) देवताओं के प्रसंग में देवता-देवी क्रम से, और मनुष्यों के प्रसंग में नायिका-नायक क्रम से वर्णन होता है।

(२) देवताओं का वर्णन पैर से और मनुष्यों का वर्णन सिर से आरम्भ होता है।

(३) युवा-युवतियों के अंगों में हारों का वर्णन होता है।

(४) वियोग-संताप से युवा-युवतियों के हृदय फटने का वर्णन होता है।

(५) रणमृत व्यक्ति का सूर्यमण्डल को भेदना कहा जाता है।

(६) स्त्रियों की रोमावली और त्रिबली का, इनके अभाव में भी वर्णन होता है; स्त्रियों को साधारणतः श्याम-वर्ण नहीं कहा जाता; और उनके स्तनपात का भी सामान्यतः वर्णन नहीं किया जाता।

वस्तुतः, इस प्रकार की कविप्रसिद्धियों का कविसमय की मान्य परिभाषा के अनुसार होना संदिग्ध है। अधिकतर ये लोकसिद्ध अर्थ हैं; काव्य में इनमें से अनेक की पुष्ट परम्परा भी नहीं है। कवियों द्वारा इन अर्थों के निबन्धन में प्रसंगानुकूल स्वतंत्र वृत्ति का आश्रय ही अधिक लिया गया है। सामान्य नियम रूप में इनका पालन विरल है।

उपर्युक्त (१) और (२) के विषय में लोकवृत्ति के समान, कवियों की वृत्ति भी पूर्ण स्वच्छन्द रही है; देवता-देवी और नायिका-नायक क्रम से विपरीत क्रम के उल्लेख काव्य में कम नहीं हैं। देवताओं का वर्णन पैर से आरम्भ करने में, उनके चरणों के प्रति पूज्य भाव प्रबल है, और मनुष्यों का वर्णन सिर से आरम्भ करने में शरीर के उत्तर भाग के सौन्दर्य की मुख्यता कही जा सकती है। नखशिख वर्णन की परिपाटी हिन्दी-काव्य में व्याप्त है, किन्तु किसी कवि ने शिख-नख क्रम से वर्णन किया है, किसी ने नखशिख क्रम से। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज रासो में इंछिनी[1] और शशिव्रता[2] के वर्णनों में शिखनख क्रम है, केशवदास ने शिखनख वर्णन पर पृथक् ग्रन्थ[3] का ही निर्माण

[1] सं. रासो ४।१४०-१५८

[2] वही ५।१०४-१११

[3] दे. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव ग्रंथावली, खण्ड २, पृ. ४५७-४६३।

किया है, किन्तु भिखारीदास ने शृंगारनिर्णय में—[1] राधाकृष्ण से सम्बद्ध मानकर नखशिख क्रम अपनाया है।

उपर्युक्त (३) के विषय में कहा जा सकता है कि अनेक प्रकार के हार और मालाएँ धारण करना साधारण लोकरुचि है; सुवर्ण-रत्नादि के, मोतियों के अथवा फूलों के हार शारीरिक अंगों की शोभा-वृद्धि में प्रसाधन रूप हैं। काव्य में कण्ठहारों का वर्णन अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ कालिदास ने पार्वती के रूपवर्णन में कहा है—

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद्वभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥

—कुमार. १।४२

ऋतुसंहार में भी उन्होंने अनेक स्थलों पर युवतियों के मुक्ता-हारों का उल्लेख—[2] किया है।

तुलसीदास ने वन को प्रस्थित राम-लक्ष्मण-सीता के पुष्पहारों का वर्णन किया है—

साँवरे गोरे के बीच, भामिनी सुदामिनी सी,
मुनिपट धरे, उर फूलनि के हार हैं।

—कविता. २।१४

उपर्युक्त (४) में, वियोग-सन्ताप से हृदय फटने में, लाक्षणिक कथन का भाव ही प्रधान है। वियोगजन्य दुःख का आतिशय्य इससे व्यंजित होता है। काव्याभिव्यक्ति के इस प्रकार के शैलीगत कौशल काव्य में विरल नहीं हैं; हमारे प्रकृत विषय की सीमा में वे प्रायः नहीं आते।

उपर्युक्त (५) का आधार पौराणिक और योग सम्बन्धी वह धारणा जान पड़ती है जिसके अनुसार योगी की गति सूर्यमंडल के मार्ग से ब्रह्मलोक की ओर मानी गई है। धर्मयुद्ध में प्राणत्याग करने वाले वीर पुरु की गति भी ब्रह्म-लोक को मानी गई है। अग्निपुराण में योगी द्वारा सूर्यमंडल भेदन का वर्णन

---

[1] शृंगारनिर्णय २३-५९

[2] ऋतु ६।७, ६।२६

है।[१] भगवद्गीता में ब्रह्मविद् योगी की गति सूर्य मार्ग से ब्रह्मलोक को कही गयी है।[२]

काव्य में इस प्रकार के वर्णन अधिक नहीं हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

पृथ्वीराज के दरबार में कन्ह चौहान द्वारा मारे गये चालुक्य भीमदेव के भाई गोविंद के विषय में कहा गया है कि उसके प्राण ज्योति को भेद कर ज्योति में मिल गये—

करि रोस कन्ह कर चंपि सिर, दो हथ्थन भेजी उडिय।
निकसीय प्रान गोबिंद उर, जोति भेदि जोतिहि मिलिय॥

—सं. रासो १।११७

पृथ्वीराज की सेना के वर्णन में योद्धाओं की चौकी निरन्तर रविमंडल के पास रहने का कथन है—

सहस बहत्तरि कुँअर, उपजि भीजंत गंग रज।
आभूषण अम्बर सुगंध, कवच आयुध रथ संतर॥
रविमंडल के पास रहत चौको सु निरंतर।—वही ७।१०७

पद्माकर ने रामभक्त द्वारा सूर्यमण्डल-भेदन का उल्लेख किया है—

जाने बिन जाने जाने राम को उचार्‌यो नाम
सो तो परिनाम हित एते काम कै चुक्यो
तापन को खण्ड जमदण्डहू को दण्ड, भेदि
मारतण्ड-मण्डल अखण्ड पद लै चुक्यो।

—पद्माकरपंचामृत, फुटकर ३७

---

[१] ज्ञानाद्विमुच्यते जीवो धर्मात् योगी न रोगभाक्॥
वर्त्याधारस्नेह योगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः।
विक्रियापि च दृष्टैवमकाले प्राणसंक्षयः॥
अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिलाः पीतलोहिताः॥
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥

—अग्निपुराण ३७६।-१९-२२

[२] अग्नि ज्योतिरहः शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ —गीता ८।२४

उपर्युक्त (६) में नारी-सौन्दर्य के सदा आदर्श रूप की भावना कही जा सकती है। युवति-अवस्था उस आदर्श रूप का प्रधान अंग है। स्तन-पात सामान्यतया युवति-अवस्था के बाद ही होता है। साधारणतया असौन्दर्य-जनक होने से श्याम वर्ण का भी निषेध है। रोमावली और त्रिबली की स्थिति नारी सौन्दर्य का उत्कर्ष हेतु है, अतः स्त्री-मात्र में उसका सामान्यी-करण किया गया है। ध्यान देने की बात है कि नारियों के प्रसंग में प्रायः उत्कृष्ट रूप का चित्रण करने की ही कवियों की वृत्ति रहती है, यहाँ तक की दासियों का वर्णन भी सौन्दर्य के उच्च से उच्च मान पर होता है। अतः नारीरूप कथन में सभी मनोज्ञता-विधायक उपादानों की योजना होना स्वाभाविक है।

पार्वती के रूपवर्णन में, कालिदास ने रोमावली और त्रिवली दोनों का वर्णन किया है—

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥

—कुमार. १।३८-३९

चन्द द्वारा वर्णित इंछिनी का रूप भी रोमावली और त्रिबली से युक्त है—

नव रोम राजिय राजि
कहि कवी ओपम साजि।
मनो नाभि कूप प्रमान
भरि भरि अमृत थांन॥
सुभ निरखि त्रिबली तेह
कवि चंद ओपम एह।
वय सिसु मिलनह बाल
सिढि मंडि काम बिसाल॥

—सं. रासो ४। १५२-५४

विद्यापति के शृंगारी चित्रों में भी इन दोनों ने स्थान पाया है—

नाभि बिबर सयँ लोम-लतावलि
भुजगि निसास पियासा

—विद्या. १५

गुरू नितम्ब भरे चलए न पारए
माझ-खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि
त्रिबलि लता अरुझाई॥ —वही. १४

(इ)

प्रकीर्णक

कविसमय के अनुसार—

(१) आकाश शत धनु ऊपर कहा जाता है।

(२) लोकों का सृष्ट्यादि में महत् रूप और सृष्ट्यन्त में सूक्ष्म रूप कहा जाता है।

(३) स्थलचारी जीवों का जल में भी वर्णन होता है।

(४) शब्द से पहाड़ फटना कहा जाता है।

(५) नाम और उपाधि की एकता मान्य है।

उपर्युक्त (१) में 'शत धनु' का प्रासंगिक अर्थ 'अपरिमित अन्तर' ग्राह्य है, क्योंकि 'धनु' चारहस्त की माप के लिए[1] प्राचीन नाम है और समासान्त पदों में शत का अर्थ विशाल अथवा अपरिमित संख्या भी होता है।[2] आकाश की अनन्त दूरी का बोध कराने के लिए ही उसे शत धनु ऊपर कहना जान पड़ता है। काव्य में इसके उदाहरण सुलभ नहीं हैं।

उपर्युक्त (२) का समर्थन भी काव्य में सरलतया उपलब्ध नहीं है। इसका पौराणिक संदर्भ होने का अनुमान होता है; किन्तु वह भी अनुपलब्ध है।

उपर्युक्त (३) के समर्थक उल्लेख काव्य में परम्परारूप से प्राप्त नहीं हैं। अनेक जातियों के पशु-पक्षियों की जल और स्थल में समान स्थिति प्रकृतसत्य भी है। इस कथन के पीछे वह आद्य धारणा जान पड़ती है, जिसके अनुसार प्राणियों की सृष्टि का आरम्भ समुद्र के भीतर हुआ माना जाता है। वैज्ञानिक अन्वेषण इस धारणा का समर्थक है। शोध से ज्ञात

[1] मोनियर पृ. ५०९।

[2] मोनियर पृ. १०४८; 'शताय बहुनामैतत् अपरिमिताय इति'
—शब्दकल्प. ६, पृ. १८

हुआ है कि स्थलचर, जलचर और नभचर सभी प्राणियों में भ्रमण करने वाले रक्त में विविध लवणों की मात्रा समुद्रजल के अनुरूप है ।[1]

उपर्युक्त (४) के समान अर्थनिबन्धन काव्य में प्रायशः नहीं मिलता। शब्द की भीषणता का बोध कराने के लिए ही उससे पहाड़ फटने का कथन जान पड़ता है । हिन्दी-कवियों ने घोर ध्वनि की भयंकरता अन्य प्रकारों से व्यंजित की है ।

राम द्वारा धनुर्भंग के प्रचंड स्वर से, तुलसी के कथनानुसार, ब्रह्माण्ड खण्डित हो गया—

ब्रह्माण्ड खण्ड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिवधनु दल्यौ ।
—कविता. १। ११

आतंकपूर्ण गर्जन से गर्भस्त्राव तुलसीदास का प्रिय कथन जान पड़ता है । मानस में रावण के गर्जन से देवांगनाओं के, परशुराम के कुठार-स्वर से राजपत्नियों के, तथा हनुमान के गर्जन से निशाचर नारियों के गर्भ स्रवित होते हैं—

चलत दसानन डोलत अवनी ।
गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी ।। —मानस. १। १८२

गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठार गति घोर ।
बरस अछत देखऊँ जिअत बैरी भूप किसोर ।।—वही २।२७९

चलत महाधुनि गर्जसि भारी ।
गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी ।। —वही ५।२७

हरिऔध के कथन में, गुरु गर्जना से दिग्वधू का उर काँपता है—

फिर अचानक धूलिमयी महा
दिवस एक प्रचंड हवा चली,
श्रवण से जिसकी गुरू गर्जना
कँप ऊठा सहसा उर-दिग्वधू —प्रिय-प्रवास १।३६

प्रसाद के अनुसार भीषण रव द्वारा दिशाएँ बधिर हुईं और धरती काँपने लगी—

हाहाकार हुआ क्रंदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव बार बार होता था क्रूर ।

---

[1] विज्ञानहस्तामलक, पृ. ३३

बार बार उस भीषण रव से
कंपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष। —कामायनी, चिन्ता सर्ग

उपर्युक्त (५) के प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निम्नोद्धृत कथन उपादेय है—

"हमारी काव्यभाषा में एक चौथी विशेषता भी है, जो संस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर, उनके रूप, गुण, या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है, ऊपर से देखने पर तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इससे गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिये तो यह बात कृत्रिमता वचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं, जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि, मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप गुण या व्यापार की ओर इशारा करते हैं, जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारी, त्रिपुरारी··· इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं।"

—रसमीमांसा, पृ. ४७-४८

इस दृष्टि से तुलसीदास का कौशल विशेष लक्ष्य है। वाल्मीकि और हनुमान की वन्दना में 'कवीश्वर' और 'कपीश्वर' उपाधियों का सार्थक उल्लेख करके, उन्होंने दोनों का वंद्य-भाव व्यंजित किया है—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥

—मानस. १, मंगलाचरण

इसी प्रकार रामनाम की महिमा के प्रसंग में वाल्मीकि की 'आदिकवि' उपाधि का नाम स्थानीय उल्लेख, उनके उलटा नाम जपकर भी महान पद प्राप्त करन के भाव की संगति में है—

जान आदिकवि नाम प्रतापू।
भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥ —मानस. १।१९।५

उपसंहार

अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते ।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते ।।

—राजशेखर

उपसंहार

हिन्दी काव्य में कविसमय की स्थिति

[प्रस्तुत प्रसंग में व्यक्त संदर्भों के काव्योद्धरण तत्तत् प्रकरण में द्रष्टव्य हैं]

कविसमय के आधारगत पदार्थों पर विचार किया जाए तो जीवन और जगत् के ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि के व्यापक प्रसार के नाना क्षेत्रों से उनका सम्बन्ध दिखाई देगा। दूसरे शब्दों में कविसमय की अर्थभूमि अत्यन्त व्यापक है। जैसे—वनस्पतिवर्ग के पुष्प और वृक्ष तथा पक्षीवर्ग के विविध पक्षी वनों, उपवनों, सरिताओं और शैलों से सम्बद्ध हैं; रत्नवर्ग के पदार्थ पर्वतों और नदी-समुद्र आदि से; आकाशवर्ग के पदार्थ धरती से परे अन्तरिक्ष-लोक से; संख्यावर्ग के भुवन दिशाएँ आदि पदार्थ धरती और अन्तरिक्ष की सीमाओं से भी परे के लोकों से; विद्याएँ शृंगार आदि सामान्य मानव-जीवन से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार, स्वर्ग्य और पातालीय वर्गों के विविध अर्थ दिव्य और अदिव्य लोकों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः स्पष्ट है कि काव्य के पृथक्-पृथक् प्रसंगों में, उनके विषय-विस्तार के अनुरूप ही इनका अनेकत्र अथवा अपेक्षाकृत एकत्र प्रवेश सम्भव है। काव्य के प्रसंग-विशेष में इनमें से प्रस्तुत विधान के रूप में आने वाले पदार्थों की संख्या का तो परिमित रहना अनिवार्य है ही, अप्रस्तुत विधान के रूप में भी इनका प्रवेश विषय-व्याप्ति के अनुपात में ही होगा। तात्पर्य यह कि किसी कवि अथवा युग के काव्य में कविसमयार्थों की स्थिति, इस बात पर बहुलांश में निर्भर करती है कि उस काव्य की विषय-परिधि कितनी व्यापक अथवा संकुचित है।

जैसा कि कहा गया, कविसमयार्थों के प्रधान प्रेरक तत्व सांस्कृतिक भावनाओं से उद्भूत जातीय सौन्दर्यादर्श हैं। अतः, काव्य-विशेष में कविसमय की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह काव्य देश की मूलवर्तिनी चिन्तन और भाव-धाराओं से किन अंशों में सम्बद्ध है।

इसके अतिरिक्त काव्य में कविसमय की स्थिति-निर्धारण करने वाला एक और तत्व भी है। भिन्न-भिन्न कविप्रसिद्धियों का स्वभाव पृथक्-पृथक् भावों की अभिव्यंजना के अधिक अनुकूल दिखाई देता है। यों तो, यह अधिकांश में

कवि के कौशल पर, उसकी वृत्ति, रुचि और शक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस कविप्रसिद्धिगत अर्थ को किस भाव का वाहन बनाए, अथवा किस मात्रा में और किस ढंग से उन्हें अपना कर चले; किन्तु काव्य-परम्परा का अनुशीलन करने पर, यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि कुछ कविप्रसिद्धियों का उपयोग एक प्रकार की अभिव्यंजना के लिए अधिक सफल होता है, तो अन्यों का प्रयोग भिन्न प्रकार की अभिव्यंजना के लिए। उदाहरणार्थ—वृक्षदोहद से सम्बद्ध कवि-प्रसिद्धियाँ लौकिक दाम्पत्य-रति की व्यंजना में विशेष सहायक रही हैं; चातक, चक्रवाक-मिथुन आदि पर आधृत प्रसिद्धियाँ शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का बोध कराने के लिए; भूर्जपत्र, चन्दन, सुवर्णरत्नादि के कविसमयगत अर्थ प्रकृति के आलम्बन रूप वर्णन के लिए अधिक अनुकूल रहे हैं।

अतएव, हिन्दी-काव्यधारा के विविध युगों में कविसमय की स्थिति के विश्लेषणार्थ उपर्युक्त तीनों तत्वों को एक साथ ध्यान में रख कर चलना होगा।

इस दृष्टि से हिन्दी-काव्यधारा का समग्र अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें कविसमयार्थों की स्थिति की सघनता का अनुपात भाव और अभिव्यक्ति की नैसर्गिक स्वच्छन्दता तथा पाण्डित्यपूर्ण प्रवृत्तियों की कृत्रिमता के अनुसार क्रमशः बढ़ता-घटता रहा है। यही दशा संस्कृत-काव्य में भी है। बात यह है कि नैसर्गिक स्वच्छन्दता के युगों में वाह्य प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में काव्यवृत्ति का प्रसार होता है; इस कारण काव्यगृहीत वस्तु की परिधि में वृद्धि होती है। सौन्दर्य-भावना की तीव्रता के कारण कविसमय के अनुसार चारुत्व-सम्पादित वस्तु के लिए ऐसे युगों में अवकाश बढ़ जाता है। इसके विपरीत, कृत्रिम प्रवृत्तियों के युगों में लकीर पीटने की पद्धति बढ़ती है; चमत्कार-मोह से सौन्दर्य-दृष्टि का क्षेत्र एकांगी हो जाता है, और परिणाम-स्वरूप वर्णन-प्रथाओं अथवा रूढ़ियों का प्राबल्य हो जाने से काव्य-वस्तु किन्हीं निश्चित् सीमाओं में बद्ध बनी रहती है। ऐसे युगों में यदि कविसमयार्थ अपनाये भी जाते हैं तो अधिकतर परम्परापालन के उद्देश्य से ही; और उनके आधार पर स्वतंत्र उद्भावनाओं की अपेक्षा ऊहात्मक उक्तियों और असंगत भाव-योजनाओं की प्रधानता रहती है। कविसमय की दृष्टि से हिन्दीकाव्य के सम्पन्नतर युगों में भक्ति-काल और विशेषतः सगुण-भक्तिधारा का काल, शृंगारी कवियों की रीतिमुक्त रचनाओं का काल तथा आधुनिक युग का छाया-वाद काल हैं; सबसे अधिक विपन्न युग रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं का काल

है। यह बात कविसमयार्थों के परिमाण के अनुसार, और साथ ही उनके जीवन्त एवं भावपूर्ण उपयोग के अनुसार भी लक्ष्य है। संस्कृत के उत्थान-युग के अर्थात् बाल्मीकि कालिदास और कुछ अंशों में भारवि के काव्यों में भी, ठीक इसी प्रकार, कविसमय की समृद्धि है, और ह्रासयुग के भट्टि, माघ, श्रीहर्ष आदि के काव्य कविसमय की दृष्टि से विपन्न हैं।

(२)

हिन्दी-काव्य के आदिकाल में श्रृंगार और वीर इन दो भावों का प्राधान्य रहा। कहीं तो वीर श्रृंगार का साधक बनता था, और कहीं श्रृंगार वीर का साधक। अतः कवियों के प्रधान वर्ण्य विषय इन्हीं से सम्बद्ध थे। वीर के प्रसंग में युद्ध-वर्णन और श्रृंगार के प्रसंग में रूप-वर्णन तथा ऋतुवर्णन की अधिकता रहती थी। कहीं-कहीं युद्ध और श्रृंगार का कत्र वर्णन, अर्थात् कभी तो युद्ध का श्रृंगारपरक वर्णन और कभी संयोग श्रृंगार का युद्धपरक वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार की वर्णन-प्रणाली यद्यपि भक्तिकाल और रीतिकाल तक व्याप्त है, किन्तु वह असुरुचि-पूर्ण ही कही जायेगी। अस्तु, प्रस्तुत विषय से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है।

विषय की अनेक रूपता और वर्णन के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत स्वाधीनता के कारण इस युग के कवियों की वृत्ति का वाह्य प्रसार अधिक था। श्रृंगार के प्रकृत वर्णनों में ही कविसमय का बाहुल्य रहा, यों वीररस के उपयुक्त अधिक कवि-प्रसिद्धियाँ हैं भी नहीं। फिर भी, रासो में वीररस के प्रसंग में रणमृत व्यक्ति द्वारा सूर्यमण्डल-भेदन जैसी कविप्रसिद्धियाँ गृहीत हैं। रूपवर्णन के सम्बन्ध में स्त्रियों की रोमावली और त्रिवली का उनके अभाव में भी वर्णन, और कामदेव सम्बन्धी अनेक कविप्रसिद्धियाँ हैं। ऋतुवर्णन के प्रसंगों में वानस्पतिक पदार्थों से सम्बद्ध कविप्रसिद्धियाँ उतनी नहीं हैं जितनी कोकिल, चक्रवाक-मिथुन आदि पक्षियों पर आधृत प्रसिद्धियाँ। प्रायः उनका उपयोग उद्दीपन के उद्देश्य से ही हुआ है। इसी युग के विद्यापति के लौकिक श्रृंगारी गीतों में रूपवर्णन तथा संयोग और वियोग-जन्य श्रृंगार-चेष्टाओं से सम्बद्ध ऋतु-वर्णनों में समान कोटि की कविप्रसिद्धियों का उपयोग हुआ है। धर्म का पक्ष भी रहने के कारण विद्यापति के काव्य में स्वर्ग्य और पातालीय कविप्रद्धियाँ यत्र-तत्र व्याप्त हैं।

भक्तिकाल के ज्ञानाश्रयी संतों की काव्योक्तियों में, अन्तःसाधना का पक्ष प्रधान रहने के कारण, विषय-प्रसार के लिए अधिक अवकाश न था; किन्तु

उसके साथ प्रेमतत्व जुड़ जाने से, और साथ ही समाज-सुधार की प्रवृत्तियों के समावेश से विषय-परिधि उतनी संकुचित न रही। फिर भी उन संत-कवियों के विशेष साहित्यिक संस्कार न होने से उनकी काव्योक्तियों में ऐसी ही साहित्यिक परम्पराएँ स्थान पा सकीं जो अत्यधिक प्रचलित थीं। कबीर-दास के कथनों में या तो एकान्त प्रेम की व्यंजना के उद्देश्य से चातक, चकोर, चक्रवाक जैसे अनन्य प्रेम के प्रतिकार्थक उपादानों का समावेश है, या शुद्ध-मुक्त आत्मा के प्रतीक हंस का। पद्म, कुमुद आदि के कविसमयार्थों का उपयोग भी एकान्त प्रेम की व्यंजना के लिए ही अन्योक्तिपरक ढंग पर हुआ है।

प्रेममार्गी शाखा के सूफी कवियों के काव्य का विषयगत क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। मूलतः विदेशी होने पर भी उन्होंने भारतीय वातावरण से अपनी वृत्ति का सामंजस्य स्थापित किया और तदनुसार यहाँ की काव्यपरम्परा के उपादानों को बहुलांश में अपनाने का प्रयास किया। उन्होंने यहीं की लौकिक कहानियों को अपने प्रेमाख्यानों का आधार बनाया, और उनके माध्यम से प्रेम की पीर के विश्वजनीन रूप की अलौकिक व्यंजना की। प्रबन्धकाव्यों का निर्माण करने के कारण विषय-वैविध्य भी उनकी रचनाओं में रहा। फिर भी यहाँ के जातीय संस्कारों, अन्तर्व्यापिनी भाव-धाराओं और संस्कृत-परम्पराओं से उनका घनिष्ठ परिचय न होने के कारण, उनकी काव्याभिव्यक्ति और उसमें गृहीत उपादान यहाँ के उच्चतर काव्यों के समस्वर न हो सके। अतः उनके काव्यों में अनेक स्थलों पर कविसमयसिद्ध अर्थ किंचित् परिवर्तित रूप में दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, जायसी ने पदमावत में सात समुद्रों का उल्लेख करते हुए क्षीर, दधि, सुरा आदि प्रसिद्ध समुद्रों के साथ उदधि, किलकिला और मानसर नाम के समुद्र जोड़ दिये हैं, जबकि उनके स्थान पर भारतीय परम्परा से क्रमशः घृत, इक्षुरस और स्वादु समुद्र होने चाहिए। इसी प्रकार, नखशिख-वर्णन की भारतीय परम्परा के स्थान पर सूफी कवियों ने शिखनख वर्णन की फारसी प्रथा रखी है। अनेक प्रसंगों में स्वर्ग्य और पातालीय अर्थों के सम्बन्ध में भी असंगतियाँ हैं। प्रेमकाव्य होने के कारण इनकी रचनाओं में शृंगार ही प्रधान है, और उसके सम्बन्ध से रूपवर्णन एवं ऋतुवर्णन आदि के प्रसंगों में विविध पुष्प-वृक्षों और पक्षियों इत्यादि की कविप्रसिद्धियों का अप्रस्तुत विधान तथा उद्दीपनपरक आयोजन है।

सगुण भक्तिधारा में रामभक्ति शाखा के काव्य का विषयगत क्षेत्र अत्यन्त

व्यापक है। एक ओर तो ईश्वर के सगुण विग्रह के लोकरंजक और लोक रक्षक रूपों को लेकर चलने के कारण सम्पूर्ण सृष्टि के धर्म एवं कार्य-व्यापार उसकी परिधि में आ जाते हैं, साथ ही प्रबन्धरूप चरितकाव्य की रचना में जीवन और जगत् के विविध दृश्यों के लिए स्थान रहा है। अतएव काव्य-दृष्टि की पूर्ण उन्मुक्तता और तदनुसार काव्यवस्तु की व्यापकतम उत्कृष्ट रमणीयता उसके प्रसंग में स्वभावतः रही हैं। परिणामस्वरूप, कतिपय ऐसे कविसमयार्थों को छोड़ कर जिनके लिए भक्त-कवियों की वृत्ति के अनुकूल संदर्भों की अपेक्षा है, अथवा जो विशेष प्रदेशों से सम्बद्ध हैं, प्रायः सभी का प्रचुर उपयोग रामभक्ति काव्य में हुआ है। वृक्षदोहद सम्बन्धी लौकिक दाम्पत्यरति की व्यंजक कविप्रसिद्धियाँ, और भूर्जपत्र की उत्पत्ति हिमालय पर, चन्दन की मलय पर और मोतियों की ताम्रपर्णी नदी में नियत किये जाने से सम्बन्ध कविप्रसिद्धियाँ इसी प्रकार की हैं। वस्तुतः, प्राकृत-जन-गुनगान न करने पर भी दिव्य अवताररूप राम की लौकिक लीलाओं के सम्बन्ध से प्राकृत जनों का वर्णन भी राम-काव्य में कम नहीं है। फलतः, मनुष्यों के वर्णन सम्बन्धी कविप्रसिद्धियों के आश्रय से तत्तत् प्रसंग में सौन्दर्योत्कर्ष सम्पादित हुआ है, किन्तु उसमें सर्वज्ञ मर्यादा का भाव रहने के कारण लौकिक प्रेमचेष्टाओं के प्रायः परिष्कृत और उदात्त रूप ही समावेश पा सके हैं, वासना-जनित विकृतियों से विरक्ति रही है। इसीलिए कामदेव से सम्बद्ध कविप्रसिद्धियों से भी लोकोत्तर व्यंजनाओं का ही कार्य अधिक लिया गया है। स्वर्ग्य और पातालीय अन्य कविसमयार्थ तो रामकथा के पौराणिक होने के अनुरोध से ही स्वतः स्थान पा गये हैं। इनमें से नारायण, माधव विष्णु की एकता, बारहों आदित्यों की एकता, दैत्यों, दानवों और असुरों की एकता, तथा नाग और सर्प की एकता जैसे कविसमयार्थ संस्कृत की दीर्घ परम्परा में ही अतिप्रचलन के कारण सहज सिद्ध से हो चुके थे, सगुण भक्तिकाव्य में उनका वह रूप अनायास गृहीत है।

कृष्णभक्ति-शाखा की प्रेमलक्षणा भक्ति से उद्भूत काव्य का विषयगत क्षेत्र अपेक्षाकृत परिमित है। उसमें श्रीकृष्ण के उत्तर जीवन का प्राधान्य न रहने के कारण, उनके लोकरंजक रूप के चित्रण ही विस्तार पा सके हैं। अतः रूपवर्णन तथा श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के सम्बन्ध से बाह्य प्रकृति का अधिक से अधिक जितना रूप प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत विधान के माध्यम से सम्भव था, उतना आया है। वस्तुतः जीवन-व्यापार का क्षेत्र

परिमित रहते हुए भी कृष्णकाव्य के रचयिताओं की सौन्दर्यवृत्ति अगाध थी। स्थूल वाह्य दृष्टि की अपेक्षा उनकी अन्तर्दृष्टि का प्रसार अधिक उन्मुक्त था। फिर भी लौकिक आश्रय से अलौकिक भावव्यंजनाएँ ही उन कवियों का अभीष्ट थीं। कविसमय की व्याप्ति की दृष्टि से यह काव्यधारा रामकाव्य-धारा की अपेक्षा यदि अधिक समृद्ध नहीं है तो कम समृद्ध भी नहीं कही जा सकती। इसमें कतिपय कविसमयार्थों की स्थिति रामकाव्य की अपेक्षा विरल है तो अन्यों की स्थिति उसी अनुपात में सघन भी है। वनस्पति, पक्षी, समुद्र आदि उपादान-वर्गों से सम्बद्ध कविप्रसिद्धियाँ रामकाव्य की विस्तृत पृष्ठभूमि में प्रस्तुतविधान के रूप में प्रचुर परिमाण में हैं, तो कृष्णकाव्य में वर्णसम्बन्धी कविसमयार्थों की प्रस्तुत के रूप में, और सुवर्ण-रत्नादि तथा संख्या-सम्बन्धी कविसमयार्थों की अप्रस्तुत के रूप सार्वभौम व्याप्ति है।

शृंगारकाल की रीतिबद्ध धारा में कविसमय की स्थिति का पर्याप्त ह्रास दिखाई देता है। लक्षणोदाहरणों की रचना करने वाले कवियों का कवित्व-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित रहा। उनकी वृत्ति में प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण की स्वच्छन्दता का भारी अभाव था, इससे काव्य में नवीन विषयों के समावेश की उनके द्वारा आशा ही न थी। जीवन-व्यापारों की दृष्टि से वे लोग प्रेम के केवल संकुचित क्षेत्र में ही विचरण करते रहे, और वह प्रेम भी हृदयगत उतना न था जितना शरीराश्रित। फलतः, नायिकभेद की काव्य-रूढ़िसिद्ध चेष्टाओं के वर्णन का ही उनके काव्य में प्राबल्य रहा। रूप-वर्णन और शृंगार के उद्दीपनगत प्रकृतिवर्णन में भी उनकी सौन्दर्य-दृष्टि परम्परा के अनुमोदन की कृत्रिम सीमाओं में ही बद्ध रही। नवीन रमणीय दृश्यों की योजना में वह सर्वथा अशक्त थी। अतः कविसमयगत अर्थों के आश्रय से सौन्दर्य के नाना रूपों की उद्‌भावनाएँ और मार्मिक भाव-व्यंजनाएँ वे न कर सके। कविसमय-गत कतिपय साहित्यिक परम्पराओं को उन्होंने अपनाया अवश्य, किन्तु उन्हें भी रूढ़ियों में जकड़ने का प्रयास किया। उनके आधार पर ऊहात्मक उक्तियों का अस्वाभाविक चमत्कार-प्रदर्शन ही उनके द्वारा अधिक हुआ। उदाहरणार्थ, चक्रवाकमिथुन के रात्रिवियोग की कविप्रसिद्धि का आधार लेकर नाप-जोख की गई कि किस प्रकार ऋतुओं के परिवर्तन से दिन और रात्रि के घटने-बढ़ने के कारण चक्रवाक-मिथुन का शोक उसी अनुपात नें घटता-बढ़ता है। यदि कोई चाहे तो उन वर्णनों के आधार पर कोकशोक का ग्राफ चित्र (Graph-sketch) तैयार कर सकता है; उस चित्र में कभी तो (जाड़े में) दिन की अवधि

नाममात्र रह जाने से कोक-शोक-सूचक रेखा उस चरम विन्दु पर पहुँची दिखाई देगी जहाँ मिलन-जनित हर्ष की सम्भावना ही शून्य है, और कभी (वर्षा में) उस रेखा का चढ़ाव-उतार ही रात-दिन के समय की सूचना देने वाले घटिका-यंत्र का कार्य करेगा। अस्तु। मतिराम, देव और पद्माकर द्वारा नायिका की धृष्ट चेष्टाओं की व्यंजना पादाघात से अशोक के पुष्पित होने, मुखमदिरा से बकुल के विकास आदि वृक्षदोहदपरक कविसमयार्थों के आधार पर हुई हैं; नायक में ही तत्तत् वृक्ष का आरोप है।

रीतिमुक्त कवियों का काव्यक्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक है। इनका प्रेम क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठकर मानसलोक के रमणीय दृश्यों में विचरण करता है, अतः इनकी सौन्दर्यदृष्टि का वाह्य प्रसार भी अधिक है। सबसे बड़ी बात यह कि ये कवि हृदय की सहज स्वच्छन्दता से प्रेरित होकर प्रकृति के उपादानों से सहानुभूतिमय सम्बन्ध स्थापित करते हैं। फलस्वरूप, इनकी रचनाओं में कविसमय की स्थिति, परिमाण की दृष्टि से बहुत अधिक न होते हुए भी जीवन्त और स्फूर्तिमय उद्भावनाओं की सर्वत्र प्रेरक है।

आधुनिक युग के प्रथम उत्थान को कविसमय की दृष्टि से भी पुनर्जागरण काल कहना उपयुक्त होगा। शृंगार-काल की रूढ़िगत वस्तुवर्णनपरक योजना का अवशेष यद्यपि उसमें बना रहा, किन्तु अनेकरूप नवीन विषयों की ओर भी कवियों की वृत्ति अग्रसर हुई। राष्ट्रीय भावनाओं की प्रेरणा से एक ओर तो प्राचीन सांस्कृतिक गौरव के प्रति अनुराग बढ़ा, साथ ही देश की विपन्नावस्था के सूत्र से जन्मभूमि के नैसर्गिक रमणीय दृश्यों से प्रभावित होने की वृत्ति भी विकसित हुई। फिर भी, मुख्य स्वर के रूप में भारतेन्दु का काव्य कृष्णभक्त कवियों के आदर्शों से ही विशेष अनुप्राणित रहा। अतः, उसमें कविसमय की स्थिति यद्यपि प्रसारशील है, किन्तु उसका रूप परम्परा-पालन के आग्रह से अस्फुट सा है, उद्बुद्ध नहीं, अर्थात् कविसमयार्थों के आग्रह से नवीन सौन्दर्यरचना का उसमें अभाव है। उसका आनुपातिक परिमाण कृष्ण-भक्ति-काव्य के समान ही है।

द्वितीय उत्थान के काव्य का प्रेरणास्रोत संस्कृत का उत्तरकालीन काव्य-साहित्य ही अधिक रहा। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के नवीन विषयों के आग्रह के कारण काव्यक्षेत्र का विस्तार तो हुआ, किन्तु उनके मर्यादानुरोध से काव्य में इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति को अधिक प्रश्रय मिला। फिर भी काव्यदृष्टि के प्रसार की और तदनुरूप नवीन काव्यात्मक उद्भावनाओं की

जो प्रवृत्तियाँ भारतेन्दुकाल में अंकुरित भर हुई थीं, इस काल में उनका पल्लवित रूप दिखाई दिया। कविसमय की स्थिति पर इसका अधिक अनुकूल प्रभाव हुआ। हरिऔध के काव्य में तो उसका विकासशील रूप नहीं आ पाया, प्रत्युत् मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में उसकी स्फूर्तिमयता लक्ष्य है। इस अन्तर का कारण भी स्पष्ट है। एक तो हरिऔध के काव्य का कृष्णचरित-सम्बन्धी विषयगत क्षेत्र ही संकुचित था, दूसरे संस्कृत के उतरकालीन कवियों तथा रीतिबद्ध कवियों का प्रभाव उस पर अधिक था; अतः, प्रियप्रवास में अनेक स्थलों पर उन्होंने वर्णन-रूढ़ियों के पालन में पेड़-पक्षियों आदि के नाम गिनाये हैं; जिन कविसमयार्थों को ग्रहण भी किया है, उन्हें केवल लकीर पीटने के उद्देश्य से ही, उनके संदर्भ से नवीन दृश्य-योजना वे न कर पाये हैं। इसके विपरीत, मैथिलीशरण गुप्त का रामचरित सम्बन्धी काव्यक्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत था और उन्होंने अपनी दृण्टि संस्कृत के उत्थानकालीन कवियों तथा भक्ति-काल के कवियों की समृद्ध रचनाओं पर भी रखी। इस कारण वे कविसमयार्थों के आधार पर अनेक नवीन भाव-व्यंजनाएँ करने में समर्थ हुए। यहाँ तक कि उन्होंने कई ऐसी कविप्रसिद्धियों को भी अपनाया जिनकी परम्परा पहले के काव्य में अधिक पुष्ट न थी। वृक्षदोहदपरक प्रसिद्धियों का उपयोग उन्होंने उर्मिला की वियोग-व्यंजना के लिए किया है, उसमें भी ऐंद्रिकता का भाव नहीं आने पाया है।

तृतीय उत्थान अर्थात् छायावाद-काल में स्वच्छन्द नैसर्गिक काव्यानुभूति का पूर्ण उन्मुक्त प्रसार हुआ। वह विद्रोह का काव्य इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि काव्यविषयों, काव्यभावों और अभिव्यक्ति के वर्णनपरक रूढ़िगत बन्धनों, तथा काव्यात्मक वृत्तियों की समस्त इतर सीमाओं के विरुद्ध उसमें गहन असन्तोष निहित था, और उसके विधेयात्मक पक्ष में उच्च एवं उदात्त वृत्तियों के निर्माण का अदम्य उत्साह था। निश्चय ही, पाश्चात्य काव्य-साहित्य के प्रभाव से उसने प्रकृति के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया के एक विशेष दृष्टिकोण को और तदनुसार भावात्मक अभिव्यंजन की नवीन प्रणाली को अपनाया, किन्तु उसकी सौन्दर्यभावना की मूलवर्तिनी धारा बहुलांश में भारतीय संस्कारों और परम्पराओं से दूर न जा सकी। सचाई यह है कि छायावादी कवियों ने पक्षपातहीन सूक्ष्म दृष्टि से जीवन्त और मृत परम्पराओं के पृथक्-पृथक् स्वरूपों को भलीभाँति पहचानने का प्रयास किया और वे यथाशक्ति जीवन्त परम्पराओं को लेकर चले। उनके साथ कविसमयगत अनेक परम्पराओं

का रहना इस बात का अत्यन्त पुष्ट प्रमाण है कि कविसमय का पद काव्य की क्षुद्र वर्णनरूढ़ियों से बहुत ऊँचा है, और वह उच्च से उच्च सौन्दर्यवृत्तियों का सहायक है। प्रसाद के प्रबन्ध-काव्य कामायनी का कथानक परिमित होते हुए भी, उसका महाकाव्योपयोगी संदर्भ-क्षेत्र अत्यन्त विशाल है; जीवन और जगत् के तथा सृष्टि के नाना रूप, दृश्य और व्यापार उसकी परिधि में हैं। प्रसाद की उदात्त सौन्दर्य-वृत्ति जातीय संस्कारों की पृष्ठभूमि में बद्धमूल थी। उनकी व्यंजनाएँ लौकिक होते हुए भी सूक्ष्म भावात्मकता से सम्पन्न थीं। अतः प्रसाद के काव्य में अधिकांश कविसमयार्थों का व्यापक और उत्फुल्ल रूप दिखाई देता है। पन्त और महादेवी की काव्य-रचनाओं में यद्यपि कविसमय की स्थिति परिमाणतः विपुल नहीं हैं, और प्रधानतया वनस्पति, पक्षी तथा वर्णवर्गों से सम्बद्ध कविप्रसिद्धियों को प्रवेश मिला है, किन्तु उनके आधार पर सर्वत्र नवीनतर सौन्दर्य-व्यंजनाएँ हुई हैं, परम्परा का बोझ उन पर से हटा हुआ सा जान पड़ता है। कारण यह है कि उन कवियों ने कवि-समयार्थों का प्रयोग ही प्रायः ऐसे प्रसंगों में किया है, जो परम्परा की तुलना में नये हैं। उदाहरणार्थ, चक्रवाक-मिथुन के रात्रिवियोग की प्रसिद्धि के आधार पर पन्त ने, नौका-विहार के प्रसंग में केवल वातावरण का प्रभाव व्यंजित किया है; आकाश में उड़ने वाले विरही कोक के विषय में, गंगा के जल में पड़ने वाली उसकी छाया में कोकी के भ्रम की उत्प्रेक्षा है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा ने शेफालिका के सूर्योदय से पहले ही झरने की प्रसिद्धि के आधार पर उन क्षणों के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण किया है, अज्ञात प्रियतम के स्वागत-आयोजन का भाव उसका व्यंग्य है। निराला की वृत्ति शिल्पकौशलों में अधिक व्यस्त रहने के कारण सौन्दर्य-दृश्य-योजनाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं देती। अतः उनके काव्य में कविसमयार्थ क्वचित्-कदाचित् अनजाने ही से प्रवेश पा जाते हैं। शेफालिका के विषय में महादेवी द्वारा चित्रित उक्त प्रसंग से 'अर्चना' की ये पंक्तियाँ तुल्य हैं—

प्रिय के हाथ लगाये जागी
ऐसी मैं सो गई अभागी।
हरसिंगार के फूल झर गये
कनक रश्मि से द्वार भर गये
भस्म रमाकर चला विरागी।—'अर्चना' गीत, ६८

अत्याधुनिक काल की संक्रांति-जन्य परिस्थितियों में काव्यधारा का कोई

सुस्पष्ट रूप देख पाना सम्भव नहीं है। विविध वादों से प्रेरित काव्यादर्श, विषय, भाव, आदि स्वयं कवियों की दृष्टियों को ही धुँधला किये जान पड़ते हैं। पाश्चात्य काव्यप्रवृत्तियों का मोह भी तीव्रतर है। साथ ही नागरिक जीवन के कृत्रिम वातावरण में वैज्ञानिक उपदानों की चकाचौंध से काव्यदृष्टि क्षीण एवं विषण्ण है। इस पर भी वैज्ञानिक सभ्यता का बढ़ता हुआ बौद्धिक आतंक काव्य के अस्तित्वमात्र को भीत किये है। देश की मूलवर्तिनी भावधाराओं के प्रति अनास्था, साहित्यिक परम्पराओं की उपेक्षा में प्रतिफलित है। अतः, इस काल में कविसमय की स्थिति तो एक ओर, किसी भी काव्यतत्व की स्थिति स्पष्ट लक्ष्य कर पाना सहज नहीं है। फिर भी किंचित् आभास इस बात का अवश्य मिलता है कि अपेक्षाकृत संयत वृत्ति वाले कवियों द्वारा कविसमयगत अर्थ स्वीकृत और प्रयुक्त हैं। उदाहरणार्थ, अज्ञेय की निम्नोद्धृत पंक्तियों में ज्योत्स्ना का अंजलिग्राह्य होना, और कुमुद का रात्रिविकास व्यक्त है—

शरद चाँदनी
बरसी
अंजुरी भर कर पीलो,
उँघ रहे हैं तारे
सिहरी सरसी,
ओ प्रिय, कुमुद ताकते
अनझिप
क्षण में
तुम भी जीलो।

—प्रतीक जनवरी १९५१, पृ. ८७

परिशिष्ट

परिशिष्ट–१

[लक्षण ग्रंथों से कविसमय के विवेचनपरक अंशों के उद्धरण]

काव्यमीमांसा

(राजशेखर)

चतुर्दशोऽध्यायः

जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।

"नन्वेष दोषः कथंकारं पुनरुपनिबन्धनार्हः ?" इति आचार्याः। "कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः ?" इति यायावरीयः। "निमित्तं तर्हि वाच्यम्" इति आचार्याः।

"इदमभिधीयते" इति यायावरीयः। पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं सांगं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च।

तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित्परस्परोपक्रमार्थं स्वर्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः। स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमाः पातालीयश्च। स्वर्गपातालीययोर्भौमः प्रधानः। स हि महाविषयकः। स च चतुर्द्धा जातिद्रव्यगुणक्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा असतो निबन्धनात्, सतोप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च। तत्र सामान्यस्यासतो निबन्धनं, यथा—नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकं च।

सतोऽप्यनिबन्धनं, तद्यथा—न मालती वसन्ते, न पुष्पफलं चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु।

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेवकत्राचरणं नियमस्तद्यथा—समुद्रेष्वेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि।

असतोऽपि द्रव्यस्य निबन्धनं, तद्यथा—मुष्टिग्राह्यत्वं सूचीभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भापवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः ।

द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनं, तद्यथा—कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य ।

द्रव्यनियमस्तद्यथा—मलय एव चन्दनस्थानं, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम् ।

प्रकीर्णकद्रव्यकविसमयस्तु, तद्यथा—क्षीरक्षारसमुद्रयोरैक्यं, सागरमहासमुद्रयोश्च ।

असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनं, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणं, चकोराणां चन्द्रिकापानं च ।

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनं, तद्यथा—दिवा नीलोत्पलानामविकासो, निशानिमित्तश्च शेफालिकाकुसुमानामविस्रंसः ।

नियमस्तु, तद्यथा—ग्रीष्मादौ सम्भवतोऽपि कोकिलानां विरुतस्य वसन्त एव, मयूराणां वर्षास्वेव विरुतस्य नृत्तस्य च निबन्धनः ।

कवीनां समयः सोऽयं जातिद्रव्यक्रियागतः
गुणस्थैष ततः स्वर्ग्यः पातालीयश्च कथ्यते ।

पंचदशोऽध्यायः

गुणसमयस्थापना

असतो गुणस्य निबन्धनं, यथा—यशोहासप्रभृत्येः शौक्ल्यं, अयशसः पापप्रभृत्तेश्च कार्ष्ण्यं, क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम् ।

सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम् । कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वं, कमलमुकुलप्रभृतेश्च हरितत्वं, प्रियंगुपुष्पाणां च पीतत्वम् ।

गुण नियमस्तु तद्यथा—सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता, मेघानां कृष्णता च ।

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः ।

एवं वर्णान्तरेष्वपि । चक्षुरादेरनेकवर्णोपवर्णनम् ।

षोडशोऽध्यायः

स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्यस्थापना

भौमवत्स्वर्ग्योऽपि कविसमयः, विशेषस्तु चन्द्रमसि शशहरिणयोरैक्यम् । कामकेतने मकरमत्स्ययोरैक्यम् । अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नचन्द्रयोरैक्यम् । बहुकालजन्मनोऽपि शिवचन्द्रमसोबालत्वम् । कामस्य मूर्तत्वं च । द्वादशानामप्यादित्यानामैक्यम् । नारायणमाधवयोश्च, एवं दामोदरशेषकूर्मादिः, कमलासम्पदोश्च ।

भौमस्वर्ग्यवत्पातालीयोऽपि कविसमयः । तत्र नागसर्पयोरैक्यम् । दैत्यदानवासुराणामैक्यं, यथा तत्र हिरण्याक्षहिरण्यकशिपुप्रह्लादविरोचनबलिबाणादयो दैत्याः, विप्रचित्तिशम्बरनमुचिपुलोमप्रभृतयो दानवाः, वलवृत्रविक्षुरस्तवृषपर्वादयाऽसुराः ।

एवमन्येऽपि भेदाः ।
सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धिविबोधितः ।।

अलंकारचिन्तामणि

(अजितसेन)

१।६८ – ८०

कवीनां समयस्त्रेधा निबन्धोप्यसतस्सतः ।
अनिबन्धस्स जात्यादेनियमेन समासतः ।।

असतोऽपि निबन्धो यथा—

गिरौ रत्नादि हंसादि स्तोकपद्माकरादिषु ।
नीरे भाद्यं खगंगायां जलजाद्यं नदीष्वपि ।।
तमसः सूच्यभेद्यत्वं मुष्टिग्राह्यत्वमुच्यते ।
अंजलिग्राह्यता चन्द्रत्विषा कुम्भोपवाह्यता ।।
प्रतापे रक्ततोष्णत्वे कीर्तौहासादि शुभ्रता ।
कृष्णत्वमपकीर्त्यादौ रक्तत्वं कोपरागयोः।।

चतुष्टयं समुद्रस्य बियोगः कोकयोर्निशि ।
चकोराणां सुराणां च ज्योत्स्नावासं निगद्यते ।।
रमयः पद्मवासित्वं राज्ञोवक्षसि च स्थितिः ।
समुद्रमथनं तत्र सुरेन्द्रश्रीसमुद्भवः ।।

सतोऽप्यनिबन्धो यथा—

चन्दने फलपुष्पौ च सुरभौ मालती सुमन् ।
शुक्ले पक्षे तमो कृष्णे ज्योत्स्ना फलमशोकके ।।
रक्तिमा कामिदन्तेषु हरितत्वं च कुन्दके ।
दिवानिशोत्पलाब्जानां विकासित्वं न वर्ण्यताम् ।।

नियमेन निबन्धो यथा—

सामान्येन तु धावल्यं फलपुष्पाम्बुबाससाम् ।
चन्दनं मलयेष्वेव मघामेव पिकध्वनिम् ।।
अम्बुदाम्बुधि काकाहिकेशभृंगेषु कृष्णताम् ।
बिम्बबन्धूक नीरेषु सूर्यबिम्बे च रक्तिमाम् ।।
रवं नाट्यं मयूराणां वर्षाष्वेव विवर्णयेत् ।
नियमस्य विशेषोन्यः कश्चिदत्रप्रकाश्यते ।।
भुवनानि चतस्त्रोऽष्टौ दश वा ककुभो मताः
बबौ डलौ रलौ चैते यमके श्लेषचित्रयोः
न विद्यन्ते विसर्गानुस्वारौ चित्राय नो मतः ।।

काव्यानुशासन

(हेमचन्द्र)

प्रथम अध्याय

शिक्षां लक्षयति—

सतोऽप्य निबन्धोऽसतोऽपि निबन्धो नियमश्छायाद्युपजीवनादयश्च शिक्षाः। सतोऽपि जातिद्रव्यगुणक्रियादेरनिबन्धनम्, असतोऽपि जात्यादेरेव निबन्धनम्, नियमोऽति प्रसक्तस्य जात्यादेरेवैकत्रावधारणम्, छायायाः प्रतिबिम्बकल्पतया आलेख्य प्रख्यतया तुल्यदेहितुल्यतया परपुरप्रवेशप्रतिमतया चोपजीवनम्, आदि-

शब्दात्पदपादादीनां च काव्यान्तराद्यर्थौचित्यमुपजीवनम् । पुनरादिपदात्सम-स्यापूरणाद्याः शिक्षाः । तत्र—

सतोऽपि सामान्यस्या निबन्धो यथा—

मालत्या वसन्ते, पुष्पफलस्य चन्दनद्रुमेषु, फलस्याशोकेषु ।

द्रव्यस्य यथा—कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य ।

गुणस्य यथा—कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वस्य, कमलमुकुल-प्रभृतेश्च हरितत्त्वस्य, प्रियंगुपुष्पाणां तु पीतत्वस्य ।

क्रियाया यथा—दिवा नीलोत्पलानां विकासस्य, निशानिमित्तस्य शेफालिका कुसुमानां विस्रंसस्य च ।

असतोऽपि सामान्यस्य निबन्धो यथा—

नदीषु पद्म नीलोत्पलानाम्, जलाशयमात्रेऽपि हंसादीनाम्, यत्र तत्र पर्वते सुवर्णरत्नादीनामिति ।

द्रव्यस्य यथा—तमसि मुष्टिग्राह्यत्वस्य, सूचीभेद्यत्वस्य च ।
ज्योत्स्नायां च कुम्भोपवाह्यत्वादेः ।

गुणस्य यथा—यशोहासादौ शौक्ल्यस्य ।
अयशःपापादौ कार्ष्ण्यस्य
क्रोधानुरागयो रक्तत्वस्य ।

क्रियाया यथा—चकोरेषु चन्द्रिकापानस्य
चक्रवाकमिथुनेषु निशिभिन्नातटाश्रयणस्य ॥

जातेर्नियमो यथा—समुद्रेष्वेव मकराः
ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि ।

द्रव्यस्य यथा—मलय एव चन्दनस्थानम्
हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिपद्म ।

गुणस्य यथा—सामान्योपादाने रत्नानां शोणतैव, पुष्पाणां
शुक्लतैव, मेघानां कृष्णतैव ।

क्रियाया यथा—ग्रीष्मादौ सम्भवदपि कोकिलरुतं वसन्त एव,
मयूराणां वर्षास्वेव विरुतं नृत्यं चेति ।

अथ वा नियमः समयः कवीनां यथा—कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोः, चन्द्रे शशमृगयोः, कामकेतने मकरमत्स्ययोः, अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नयोश्चन्द्रयोः, द्वादशानामप्यादित्यानाम्, नारायणदामोदरविष्णुमाधवकूर्मादिः, कमलासम्पदोः, नागसर्पयोः, क्षीरक्षारसमुद्रयोः, सागरसमुद्रयोः, दैत्यदानवासुराणां चैक्यम् । तथा चक्षुरादेरनेकवर्णोपवर्णनम्, बहुकालजन्मनोऽपि शिवचन्द्रमसो बालत्वम्, कामस्य मूर्तत्वममूर्तत्वं चेत्यादि ॥

अग्निपुराण

काव्यदोष विवेक, ३४७।३०–४०

अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा ।
कवीनां समुदाचारः समयो नाम गीयते ॥
सामान्यस्य विशिष्टस्य स धर्मवद्भवति द्विधा ।
सिद्धसैद्धान्तिकानां च कवीनां वा विवादितः ॥
यः प्रसिध्यति सामान्य इत्यसौ समयो मतः ।
सर्वे सैद्धान्तिका येन संचरन्ति निरत्ययम् ॥
कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन वा द्विधा ।
छेदसिद्धान्ततोऽन्यः स्यात्केषां चिद्भ्रान्तितो यया ॥
तर्कज्ञानंमुनेः कस्य कस्यचित्क्षणभंगिका ।
भूत चैतन्यता कस्य ज्ञानस्य सुप्रकाशता ॥
प्रज्ञातस्थूलता शब्दानेकान्तत्वं तथाऽर्हतः ।
शैववैष्णवशाक्तेय सौरसिद्धान्तिनां मतिः ॥
जगतः कारणं ब्रह्म संख्यानां सप्रधानकम् ।
अस्मिन्सरस्वती लोके संचरन्तः परस्परम् ॥
बध्नन्ति व्यतिपश्यन्तो यद्विशिष्टः स उच्यते ।
परिग्राहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात् ॥
भिद्यमानस्य तस्यायं द्वैविध्यमुपगीयते ।
प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्यद्बाधितं तदसद्विदुः ॥
कविभिस्तत्प्रतिग्राह्यं ज्ञानस्य द्योतमानता ।
यदेवार्थक्रियाकारी तदेव परमार्थसत् ॥

अज्ञानाज्ञात तत्वे च ब्रह्मैव परमार्थसत् ।
विष्णुः सर्गादिहेतुः स शब्दालंकार रूपवान् ।।
अपरा च परा विद्या तां ज्ञात्वा मुच्यते भवात् ।

काव्यकल्पलतावृत्ति

(अरिसिंह और अमरचन्द्र)

द्वितीय प्रतान

असतोऽपि निबन्धेनानिबन्धेन सतोऽपि च ।
नियमेन च जात्यादेः कवीनां समयस्त्रिधा ।।

असतोऽपि निबन्धो यथा—

रत्नानि यत्र तत्राद्रौ हंसाद्यल्पजलाशये ।
जलेभाद्यं नभोनद्यामम्बोजाद्यं नदीष्वपि ।।
तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्य सूचिविभेद्यताम् ।
अंजलिग्राह्यता कुम्भोपवाह्यत्वे विधुत्वषः ।।
शुक्लत्वं कीर्तिहासादौ कार्ष्ण्यं दुष्कीर्त्यवादिषु ।
प्रतापे रक्ततोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः ।।
विभावर्यां भिन्नतटाश्रयणं चक्रवाकयोः ।
ज्योत्स्नापानं चकोराणां वर्णयेदसदप्यदः ।।

नियमो यथा—

मुक्तास्ताम्रपर्ण्यामिवाब्धिष्वेव मकरानपि ।
भूर्जद्रून् हिमवत्येव मलयेह्येव चन्दनम् ।।
सामान्य ग्रहणे वारिमुचां कृष्णत्वमेव हि ।
रक्तत्वमेव रत्नानां पुष्पाणां शौक्ल्यमेव च ।।
तथा वसन्त एवान्यभृतानां ध्वनितोद्भवम् ।
वर्षास्वेवमयूराणां रुतं नृत्तं च वर्णयेत् ।।

नियम विशेषो यथा—

नील कृष्णयोः हरितकृष्णयोः श्यामकृष्णयोः
पीतपाटलयोः शुक्लगौरयोर्नागसर्पयोः
महार्णव सागरयोः क्षीरक्षारसमुद्रयोः
द्वादशानामप्यर्काणां वार्ध्यत्रिदृग्चन्द्रयोः
चन्द्रे शशैणयोर्विष्णुशेषकूर्मादिकस्य च
नारायणदामोदरमाधव प्रभृतेरपि
दानवासुरदैत्यानामैक्यमेवाभिसम्मतम्
दानवास्तु विप्रचित्तिः शम्बरो नमुचिस्तथा
पुलोमादयोऽथ दैत्या हिरण्याख्यो विरोचनः
वाणो हिरण्यकशिपुर्बलिप्रह्लादकादयः
अथासुरा वृषपर्व बलवृत्तादया स्मृताः
स्त्रीणामक्ष्णः कटाक्षाणां शुक्लता कृष्णताथवा
कृष्णताप्यवा शुक्लश्यामता शुक्लकृष्णता
बहुकाल जन्मनोऽपि शिवचन्द्रस्य बालता ।
मनोभवस्य मूर्तत्वममूर्तत्वं च वर्ण्यते ॥
देवदेवीस्थिर्ति विद्या नायिकानायकक्रमम् ।
स्वभावान् सर्वजीवानां व्यवस्थादेशकालयोः ॥

कविकल्पलता

(देवेश्वर)

असतोऽपि निबन्धेनाऽनिबन्धो सतोऽपि वा ।
नियमेन च जात्यादेः कवीनां समयस्त्रिधा ॥

असतोऽपि निबन्धो यथा—

रत्नानि यत्रतत्राद्रौ हंसाद्यल्पजलाशये
जलेभाद्यं नभोनद्यामम्बोजाद्यं नदीष्वपि
तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता
अंजलिग्राह्यता कुम्भोपवाह्यत्वं शशित्विषः

शुक्लत्वं कीर्तिहासादौ कार्ष्ण्यं चाकीर्तिपापयोः
प्रतापे रक्ततोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः
विभावर्यां भिन्नतटाश्रयणं चक्रवाकयोः
ज्योत्स्नापानं चकोराणां चतुष्कत्वं पयोनिधेः

सतोऽप्यनिबन्धो यथा—

वसन्ते मालतीपुष्पं फलपुष्पे च चन्दने
अशोके च फलं ज्योत्स्नाध्वान्ते कृष्णान्यपक्षयोः
कामिदन्तेषु कुन्दानां मुकुलेषु च रक्तता
हरितत्वं दिवा नीलोत्पलानां च विकासिता
वर्णयेन्न सदप्येतन्नियमोऽथ प्रकाश्यते—
भूर्जत्वग्घिमवत्येव मलये ह्येव चन्दनम्
सामान्य ग्रहणे शौक्ल्यं छत्राम्भः पुष्पवाससाम्
कृष्णत्वं केशकाकाहि पयोनिधि पयोमुचाम्
रक्तत्वं रक्तबन्धूक बिम्बाम्भोज बिबस्वताम्
तथा वसन्ते एवान्यपुष्टानां कलकूजितम्
वर्षाष्वेव मयूराणां रुतं नृत्यं च वर्णयेत्
नियमस्य विशेषोऽथ पुनः कश्चित् प्रकाश्यते—
कमलासम्पदोः कृष्णहरितोर्नागसर्पयोः
पीतलोहितयोः स्वर्णपरागाग्निशिखादिषु
चन्द्रे शैशणयोः कामध्वजे मकरमत्स्ययोः
दानवासुर दैत्यानामैक्यमेवाभिसम्मतम्
बहुकाल जन्मनोऽपि शिवचन्द्रस्य बालता
मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणतः पुनः

साहित्यदर्पण

(विश्वनाथ)

७।२३-२५.

कविसमयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता, वर्ण्यते हासकीर्त्यो
रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पंकजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ।।
पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो
भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ।।
अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा—
मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ।।
एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

अलंकारशेखर

(केशव मित्र)

पञ्चदशोः मरीचिः

इदानीं कविसंप्रदायस्य सर्वापेक्षयाभ्यर्हितत्वं दर्शयन्नाह—

असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात् ।
नियमस्य पुरस्कारात्संप्रदायस्त्रिधा कवेः ।।१।।

असतोऽपीति । वस्तुगत्या यन्न भवति तदपि कविभिर्निबध्यते ।

यथा—

रत्नानि यत्र तत्राद्रौ हंसाद्यल्पजलाशये ।
जलेभाद्यं नभोनद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि ।।
तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता ।
शुक्लत्वं कीर्तिपुण्यादौ कार्ष्ण्यं चाकीर्त्यघादिषु ।।
प्रतापे रक्ततोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः ।
ज्योत्स्नापानं चकोराणां सेवालं सर्ववारिषु ।।
केसराशोकयोः सत्स्त्रीगण्डूषात्पादघाततः ।
मासान्तरेऽपि पुष्पाणि रोमालिस्त्रिवलिस्त्रियाम् ।।

सतामपीति । पारमार्थिकमपि न निबध्यते ।

यथा—

वसन्ते मालतीपुष्पं फलपुष्पे च चन्दने ।
कामिदन्तेषु कुन्दानां कुड्मलेषु च रक्तता ।
नारीणां श्यामता पातः स्तनयोर्यच्च वा ह्रिये ।।

नियमस्येति ।

हिमवत्येव भूर्जत्वक् चन्दनं मलये परम् ।
हेमन्तशिशिरौ त्यक्त्वा सर्वदा कमलस्थितिः ।।
सामान्यग्रहणे शौक्ल्यं पुष्पाम्भश्छत्रवाससाम् ।
ध्वजचामरहंसानां हारस्य बकभस्मनोः ।।
कृष्णत्वं शैलवृक्षादि मेघवारिधिवीरुधाम् ।
भिल्लका चासुराणां च धूपपंकशिरोरुहाम् ।।
लौहित्यं धातुमाणिक्यजपारत्नविवस्वताम् ।
पद्मपल्लवबन्धूकदाडिमीकरजादिषु ।।
पीतत्वं शालिमण्डूकवल्कलेषु परागके ।
वर्षास्वेव शिखिप्रौढिर्मधावेव पिकध्वनिः ।।

अन्यच्च—

कमला संपदोः कृष्णहरितोर्नागसर्पयोः ।
पीतलोहितयोः स्वर्णपरागाग्निशिखादिषु ।।
चन्द्रे शशैणयोः कामध्वजे मकरमत्स्ययोः ।
दानवासुरदैत्यानामैक्यमेवाभिसंहितम् ।।

अपि च ।

चिरंतनस्यापि तथा शिवचन्द्रस्य बालता ।
मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणतः पुनः ।।
भुवनानि निबन्धीयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश ।
चतस्त्रोऽष्टौ दश दिशश्चतुरः सप्त चाम्बुधीन् ।।
अष्टादश स्मृता विद्याश्चतस्त्रश्च चतुर्दश ।
ये स्थले ते जले जीवा भिन्दन्त्यर्कं रणे मृताः ।।
महत्वमादौ सर्गान्ते सूक्ष्मता जगतामपि ।
शैलादिर्भिद्यते शब्दान्नभः शतधनूपरि ।।
नाम तत्तदुपाधौ स्याच्छंकरो वृषवाहनः ।
चिन्हत्वे च वृषांकोऽयं ध्वजे सत्वाद्वृषध्वजः ।।
शूली, न सर्पी गिरिशः; शशी, न हरिणी विधुः; ।
इन्दुमौलिर्महादेवो गंगामौलिर्न तु क्वचित् ।।
रलयोर्डलयोश्चैव बवयोः शसयोर्न भित् ।
ना ुस्वारविसर्गौ च चित्रभंगाय संमतौ ।।
इववद्वाहिहीहस्मवतवैतुकिलैवच ।
पदान्येतानि देयानि पादस्याद्ये न जातुचित् ।।
भूतेन्द्रभारतेशात्प्राङमहच्छब्दो निरर्थकः ।
दुरर्थो ब्राह्मणे वृष्टिभोज्यौषधपथादिषु ।।

कविप्रिया

(केशवदास)

प्रभाव ४.

अथ कविरीति-वर्णन

साँची बात न बरनहीं, झूठी बरनन बानि ।
एकनि बरनत नियम करि, कबि मत बिबिध बखानि ।।४।।

अथ सत्य बात को वर्णन

'केसब दास' प्रकास सब, चंदन के फल फूल ।
कृस्न पक्ष की जोन्ह ज्यों, सुक्ल पक्ष तम तूल ।।५।।

अथ मिथ्या बात को वर्णन

जहँ जहँ बरनत सिन्धु कों, तहँ तहँ रतननि लेखि ।
सूछम सरबरहू कहत, 'केसब' हंस बिसेषि ॥६॥

लेन कहैं भरि मूठि तम, सूजिनि सियनि बनाइ ।
अंजलि भरि पीवन कहैं, चन्द्र-चन्द्रिका पाइ ॥७॥

अथ कविनियम-वर्णन

बरनत चंदन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात ।
बरनत देवनि चरन तें, सिर तें मानुष-गात ॥११॥

कोकिल को कल बोलिबो, बरनत हैं मधुमास ।
बरषा ही हरषित कहैं, केकी 'केसबदास' ॥१४॥

दनुजन सों दितिसुतन सों, असुरै कहत बखानि ।
ईस सीस ससि बृद्ध की, बरनत बालक-बानि ॥१५॥

सहज सिंगारत सुन्दरी, जदपि सिंगार अपार ।
तदपि बखानत सकलकबि, सोरहई सिंगार ॥१६॥

परिशिष्ट–१ (ख)

कविप्रसिद्धियों के उल्लेखों की तालिका

(जिन कविप्रसिद्धियों का उल्लेख किसी लक्षण-ग्रंथ में नहीं हैं, वे नवीन समाविष्ट है)

पदार्थ	कविप्रसिद्धि	काव्यमी.	अलंचिन्ता	काव्यानु.	काव्यकल्प	कविकल्प	मा. दर्पण	अलशे	कवि प्रिय
अशोक	फल न होना,	सामान्य सत्	सत्	सामान्य सत्	सत्	सत्	उल्लेख है		
	स्त्रियों के पादाघात से पुष्पित होना						उल्लेख है	असत्	
आकाश	सौ धनु ऊपर कहना							नियम	
आदित्य	बारहों आदित्यों मे अभेद	स्वर्ग्य		नियम	नियम				
कर्णिकार	स्त्रियों के नृत्य से पुष्पित होना								
कामदेव	मूर्त और अमूर्त,	स्वर्ग्य		नियम	नियम				
	धनुष और बाण पुष्प-निर्मित,						उल्लेख है		
	प्रत्यंचा-भौरों की पंक्ति						उल्लेख है		
	बाणों से युवाजनों के हृदय बिद्ध होना						उल्लेख है		
	ध्वजा मे मकर और मत्स्य का अभेद	स्वर्ग्य		नियम		नियम		नियम	
कुन्द	कुड्मल लाल न होना	गुण सत्	सत्	गुण सत्	सत्	सत्		सत्	
कुमुद	नदियों और समुद्र में होना	सामान्य				असत्	उल्लेख है	असत्	
	रात्रि ही में विकसित होना						उल्लेख है		
कुरबक	स्त्रियों के आलिंगन से पुष्पित होना								
कोकिल	बसन्त में ही कूकना	क्रियार्थ नियम	नियम	क्रिया नियम	नियम	नियम		नियय	नियम
चक्रवाक-मिथुन	रात्रि-वियोग (भिन्नतटाश्रयण)	क्रियार्थ असत्	असत्	क्रिया असत्	असत्	असत्			
चकोर	ज्योत्स्ना-पान, अंगार चुगना	क्रियार्थ असत्	असत्	क्रिया असत्	असत्	असत्	उल्लेख है	असत्	
चन्दन	मलय पर ही होना,	द्रव्य नियम	नियम	द्रव्य नियम	नियम	नियम		नियम	नियम
	पुष्प और फल का अभाव	सामान्य सत्	सत्	सामान्य सत्	सत्	सत्	उल्लेख है	सत्	सत्
चन्द्रमा	अत्रिनेत्र और समुद्रोत्पन्न चन्द्रमा में अभेद,	स्वर्ग्य		नियम	नियम				
	शिव के मस्तक पर—सदा बालरूप	स्वर्ग्य		नियम	नियम	नियम		नियम	
	शश और मृग-अभेद	स्वर्ग्य		नियम	नियम	नियम		नियम	नियम
	शशी तो कहना हरिणी नही							नियम	
चम्पक	स्त्रियो के पटु-मृदु हास्य मे पुष्पित होना								
चातक	स्वाती (मेघ) से प्रेम								
ज्योत्सना	अंजुलिग्राह्य और घड़े में भरने योग्य होना,	द्रव्य असत्	असत्	द्रव्य असत्	असत्	असत्			सत्
	कृष्ण पक्ष में अभाव	द्रव्य सत्	सत्	द्रव्य सत्	सत्	सत्	उल्लेख है		
तिमिर	सूचीभेद्य और मुष्टिग्राह्य होना,	द्रव्य असत्	असत्	द्रव्य असत्	असत्	असत्			सत्
	शुक्ल पक्ष में अभाव	द्रव्य सत्	सत्	द्रव्य सत्	सत्	सत्		असत्	असत्
तिलक	स्त्रियों द्वारा देखे जाने से पुष्पित होना								सत्

पदार्थ	कविप्रसिद्धि	काव्यमी.	अलचिन्ता	काव्यानु.	काव्यकल्प	कविकल्प.	साहित्यदर्पण	लंशे.	कवि प्रिया
दिशाएँ	संख्या—चार आठ और दस		नियम वि.					नियम	
देवता	देवता-देवी-क्रम,				नियम विशेष				
	वर्णन—पैर से आरम्भ करना								
दैत्य दानव और असुर	अभेद	पातालीय		नियम	नियम	नियम नियम		नियम नियम	नियम
नमेरू	स्त्रियों के गान से पुष्पित होना								
नाग और सर्प	अभेद	पातालीय		नियम	नियम	नियम		नियम	
नाम और उपाधि	अभेद							नियम	
नारायण माधव दामोदर शेष कूर्म विष्णु आदि	अभेद	स्वर्ग्य		नियम	नियम				
नीलोत्पल	नदियों और सभुद्र में होना,	सामान्यअसत्		सामान्यअसत्		असत्	उल्लेख है	असत्	
	दिन में विकसित न होना	क्रियार्थ सत्	सत्	क्रियार्थ सत्	सत्	सत्	उल्लेख है		
पद्म	नदियों और समुद्र में होना,	सामान्यअसत्	असन्	सामान्यअसत्	असत्	असत्	उल्लेख है	असत्	
	दिन ही में विकसित होना,						उल्लेख है		
	हेमन्त और शिशिर में न होना,							नियम	
	कुड्मल-हरे न होना	गुण सत्		गुण सत्	सत्				
प्रियंगु	पुष्प पीले न होना,	गुण सत्		गुण सत्	सत्				
	स्त्रियों के स्पर्श से पुष्पित होना								
बकुल	स्त्रियों की मुख-मदिरा से पुष्पित होना।						उल्लेख है	असत्	
भाषा	र और ल का अभेद,		नियम विशेष					नियम	
	ड और ल का अभेद,		नियम विशेष					नियम	
	ब और व का अभेद,		नियम विशेष					नियम	
	स और श का अभेद,							नियम	
	अनुस्वार और विसर्गकी चित्र-काव्य में गणना न होना		नियम विशेष					नियम	
	इव, वत् आदि अव्ययों का पद के आदि में व्यवहार न करना।								
भुवन	महत् शब्द— संख्या—तीन, सात और चौदह,		नियम विशेष					नियम	
	सृष्टि के आदि में महत् रूप और सृष्टि के अन्त में सूक्ष्म रूप							नियम	नियम
भूर्जपत्र	हिमालय पर ही होना	द्रव्य नियम		द्रव्य नियम	नियम	नियम			
मकर	समुद्र में ही होना	सामान्य नि		सामान्य नि.	नियम				

पदार्थ	कविप्रसिद्धि	काव्यमी.	अलंचि.	काव्यानु.	काव्यक.	कविकल्प	साहित्यदर्पण	अलंशे.	कवि-प्रिया
मन्दार	स्त्रियों के नर्मवाक्य से पुष्पित होना								
मयूर	वर्षा ही में बोलना और नाचना	क्रियार्थ नियं.	नियम	क्रिया नियम	नियम	नियम	उल्लेख है	नियम	नियम
मनुष्य	नायिका-नायक-क्रम,				नियम				
	वर्णन सिर से आरम्भ करना,					नियम		अपि च	नियम
	रणमृत व्यक्ति द्वारा सूर्यमण्डल-भेदन,							अपि च	
	युवा-युवतियों के अंगों में हारो का होना,						उल्लेख है		
	वियोग-सन्ताप से हृदय फटना,						उल्लेख है		
	रोमावली और त्रिवली का उनके अभाव में भी वर्णन,							असत्	
	श्यामवर्ण न कहना							सत्	
	स्तन-पात का वर्णन न करना							सत्	
मालती	वसन्त में न होना	सामान्य सत्	सत्	सामान्य सत्	सत्		उल्लेख है	सत्	
मोती	ताम्रपर्णी ही में होना	सामान्य नियं.		जाति नियम	नियम				
रत्नादि	पर्वतमात्र में होना,	सामान्य सत्	असत्	सामान्यअसत्		असत्		असत्	
	समुद्र में सर्वत्र होना								असत्
लक्ष्मी	कमला और सम्पद् में अभेद	स्वर्ग्य		नियम		नियम		नियम	
	पद्म में वास		असत्						
वर्ण	कृष्ण-नील आदि,	गुण नियम		नियम	नियम	नियम		नियम	
	पीत-रक्त,	गुण नियम		नियम	नियम	नियम		नियम	
	शुक्ल-गौर	गुण नियम		नियम	नियम				
	आंख के अनेक रंग कहना	गुण नियम		नियम	नियम				
विद्याएँ	संख्या-चार, चौदह और अठारह,							नियम	
	संख्या-सोलह ही								नियम
शब्द	शब्द से पहाड़ फटना							नियम	
शिव	शूली तो कहना, सर्पी नहीं;							नियम	
	इन्दुमौलि तो कहना,							नियम	
	गंगामौलि नहीं।								
शेफालिका	दिन में न झरना	क्रियार्थ सत्		क्रिया सत्	सत्				
शैवाल	जलाशय-मात्र में होना.							असत्	
समुद्र	यंख्या-चार और सात		असत्			असत्			
	सागर और महासमुद्र में अभेद,	प्रकीर्णक द्रव्य		नियम	नियम				
	क्षीरसमुद्र और क्षारसमुद्र में अभेद	प्रकीर्णक द्रव्य		नियम	नियम				
सहकार	स्त्रियों की मुख-वायु से पुष्पित होना								
हंस	वर्षा में मानसरोवर को चले जाना,						उल्लेख है		
	जलाशय-मात्र में हंसादि पक्षियों का होना,	सामान्यअसत्	असत्	सामान्यअसत्	अमत्	असत्	उल्लेख है	असत्	असत्
	नीर-क्षीर विवेक,								
	केवल मोती चुगना								

पाराशष्ट—२

प्रसिद्ध उपमान

(वि० = विशेषतः)

उपमान	समान धर्म
	उंगलियाँ
मूंगे की टहनियाँ	कृशता, रक्तिमा
	अधर
किसलय	रक्तिमा, अमांसलता, मृदुता
प्रबाल	रक्तिमा
बंधूक पुष्प	रक्तिमा, मृदुता
बिंबाफल (पका कुँदरू)	रक्तिमा, मृदुता
मीठे पदार्थ	माधुर्य
	उदर
पान	कृशता, आकृतिसाम्य
	कटि
अणु	क्षीणता
बाल	क्षीणता
भृंगिनी	क्षीणता
मुरार (कमल की जड़, भसिडा)	क्षीणता
शून्य	क्षीणता
सिंह	क्षीणता
सिंह की कटि	क्षीणता
सुई की नोंक	क्षीणता
	कपोल (गण्ड)
चन्द्रमा	स्वच्छता, गुलाई, गौरत्व
दर्पण	स्वच्छता, चिक्कणता
मधूक पुष्प	गौरत्व, परिपुष्टता

उपमान	समान धर्म
	करतल
किसलय (वि. अशोक-पत्र)	रक्तिमा, मृदुता
पद्म	मृदुता, शीतलता
विद्रुम	रक्तिमा
	कान
पल्लव	कोमलता
	केश—(१)
	सामान्य केश
अन्धकार	कृष्णिमा, सघनता
आकाश	कृष्णिमा
कज्जल	कृष्णिमा
चामर	सघनता
धूम (वि. धूपधूम)	कृष्णिमा, कुटिलता, सूक्ष्मता
नीलमणि	कृष्णिमा
भ्रमर-समूह	कृष्णिमा
मख़तूल तार (काला रेशम)	कृष्णिमा, सूक्ष्मता, चिक्कणता
यमुना-तरंग	कृष्णिमा, दीर्घता, कुटिलता
शैवाल	कृष्णिमा, मृदुता
	केश—(२)
	सीमन्त
चन्द्रकिरण	उज्ज्वलता
दण्ड (वि. तुलादण्ड)	ऋजुता, मध्यवर्तिता, लम्बता
रास्ता	ऋजुता, लम्बता
सरिता (वि. गंगाधारा)	उज्ज्वलता, लम्बता

उपमान	समान धर्म
केश—(३)	
पाटी	
घनघटा	कृष्णिमा
नागफण	कृष्णिमा, आकार
मरकत मणि	कृष्णिमा
केश—(४)	
वेणी	
अंधकार-तरंग	कृष्णिमा, प्रलंबता
तमाल-लतिका	कृष्णिमा, प्रलम्वता उतार-चढ़ाव
तलवार	वेधकता, प्रलम्बेता, उतार-चढ़ाव
भ्रमरपंक्ति	कृष्णिमा, प्रलम्बता
सर्प (वि. सर्पिणी)	कृष्णिमा, उतार-चढ़ाव, चिक्कणता
केश—(५)	
केशपाश, धमिल्ल अथवा जूड़ा	
राहु	कृष्णिमा
वर्ह (मयूरपुच्छ)	कृष्णिमा, चिक्कणता
गति[१]	
राजहंस की गति[२]	मंदता
हाथी की गति	मंदता
ग्रीवा[3] (कण्ठ)	
कंबु (वि. पांचजन्य)	उतार-चढ़ाव
कपोत	उतार-चढ़ाव, आकार
कमल-नाल	आकार, कांति, वर्णसाम्य
वीणादण्ड	आकार

[१] गति में नूपुर-ध्वनि के लिए सारस और हंस के स्वर।

[२] गति के लिये राजहंस, और वाणी के लिए कलहंस प्रसिद्ध उपमान हैं।

[3] वि. वर्णनीय गुण—त्रिरेखता, दे. सं रासो ४।१५०

उपमान	समान धर्म
चरणतल	
पद्म (वि. रक्तोत्पल)	मृदुता, रक्तिमा
पल्लव	मृदुता, रक्तिमा
प्रवाल	रक्तिमा
स्थल-पद्म (पाटल)	रक्तिमा, मृदुता
चिबुक	
अंबफल	आकार
नारंग	आकार
जघन (उरु)	
कदली-स्तम्भ (वि. उलटा)	चढ़ाव-उतार, स्निग्धता
पुलिन	चढ़ाव-उतार, युग्मभाव
हाथी की सूँड	चढ़ाव-उतार, परिपुष्टता
त्रिबली	
नदी	लम्बता
नदी की तरंगें	लम्बता, क्रम
रथनेमि (वि. कामरथनेमि)	क्रम
लता	लम्बता
सोपान	क्रम
दाँत	
कुन्दकली[1]	शुक्लता
चन्द्रकला	उज्ज्वलता, समष्टिबोध
दाडिम	ईषत् रक्तिमा
ताराएँ	संख्या-बाहुल्य (वि. ३२)
नारंगी	ईषत् रक्तिमा
मल्लिका-कली, बेला	शुक्लता
माणिक्य (हीरा, वज्रकण)	उज्ज्वलता

[1] दे. कुन्द प्र.

उपमान	समान धर्म
क्ता	उज्ज्वलता
विद्युत्	दीप्ति

देह—(१)

देहयष्टि

कमल-रज्जु	मृदुता, लम्बता, कृशता
चन्द्रकला	उज्ज्वलता, कृशता
तारा	दीप्ति, उज्ज्वलता
दमनक-यष्टि (दौना)	मृदुता, कृशता
दीपशिखा	दीप्ति, लम्बता
लता (वि. चन्दन, प्रियंगु[१])	लम्बता, कृशता
विद्युल्लता	दीप्ति, लम्बता
सोने की लता	गौरत्व, लम्बता
सोने की छड़ी	गौरत्व, लम्बता, कृशता

देह—(२)

देह-वर्ण

केतकपुष्प (केवड़ा)	वर्णसाम्य
चम्पक पुष्प (वि. स्वर्णचम्पा)	वर्णसाम्य
रोचना	गौरत्व
वराटक (कौड़ी)	वर्णसाम्य
विद्युत्	दीप्ति
स्वर्ण	गौरत्व
हरिद्रा	गौरत्व, लम्बता

नख (हाथों और पैरों के)

ओसकण	उज्ज्वलता
कुन्दकली	उज्ज्वलता
केतकी	उज्ज्वलता
चन्द्रकला	बंकिमा, उज्ज्वलता

[१] दे० ओशन आव् स्टोरी ९।८,९,२८

उपमान	समान धर्म
दीपमाल	दीप्ति
पद्मरागमणि	ईषत् रक्तिमा, दीप्ति
पल्लव	ईषत् रक्तिमा, मृदुता
मुक्ता	उज्ज्वलता
नाभि	
आवर्त	गुलाई, गाम्भीर्य
कूप	गाम्भीर्य
नद	गाम्भीर्य
रक्तपुष्प	वर्णसाम्य
रसातल	गाम्भीर्य
विवर	गाम्भीर्य
ह्रद	गाम्भीर्य
नासिका	
तिलपुष्प	बंकिमा, आकारसाम्य
तूणीर (वि. कामदेव का)	आकारसाम्य
सुग्गे की चोंच	आकारसाम्य
नितम्ब	
चक्र	गुलाई
पीढ़ा (वि. स्वर्ण का)	विस्तार
पृथ्वी	दृढ़ता, गुरुता, विस्तार
प्रस्तर (पर्वत)	दृढ़ता, गुरुता
निःश्वास	
वसन्त-वायु	शीतल-मंद-सुगंध होने का भाव
नेत्र[१]—(१)	
सामान्य नेत्र	
कमल (वि. नीलकमल)	मृदुता, कृष्णिमा
कमल-दल	विशालता, स्निग्धता

[१] वि. वर्णनीय गुण-कर्णाबलंबिता, अनेक वर्ण-शुक्ल, कृष्ण, रक्त आदि ।

उपमान	समान धर्म
खंजन	आकारसाम्य
खंजन-नेत्र	आकार और वर्ण
चकोर (वि. चकोयुग्म)[१]	रक्तिमा, युग्मभाव, आकारसाम्य
चकोर-नेत्र	रक्तिमा, आकारसाम्य
मत्स्य	आकारसाम्य, सजलता
मत्स्य-नेत्र	आकारसाम्य, सजलता
मृग (वि. मृगशावक)	चांचल्य
मृगनेत्र	विशालता, आकारसाम्य

नेत्र—(२)

तारा, पुतली

कज्जल-पात्र	कृष्णिमा
खंजन (वि. खंजनशावक)	चांचल्य
भ्रमर (वि. भ्रमरशावक)	कृष्णिमा, चांचल्य
मरकत मणि[२]	कृष्णिमा
शालिग्राम-शिला	आकारसाम्य

नेत्र—(३)

कटाक्ष

कुन्दपुष्प[3]	शुक्लता
नीलकमल[४]	श्यामता
पुष्प (सामान्य)[५]	शुक्लता
बाण (वि. कामबाण)[६]	वेधकता
भृंगावली	श्यामता
मदिरा	रक्तिमा, मादकता

[१] दे. चकोर प्र. (दे. वर्ण वर्ग) [२] नीलम के अर्थ में ।

[3] दे. कुन्द प्र. [४] दे. नीलोत्पल प्र.

[५] सामान्य उपादान में पुष्प शुक्लवर्ण माने गये हैं, दे. वर्ण वर्ग, शुक्लगौर प्र.

[६] दे. कामदेव प्र.

उपमान	समान धर्म
यमुना-तरंग	श्यामता, दीर्घता
विषामृत	प्रभावसाम्य
पीठ	
कंचन-पट्टिका	गौरत्व, समता
कदलीदल (उलटा)	बीच का उभार
दीपशिखा (उलटी)	चढ़ाव-उतार, दीप्ति
भुजाएँ	
मृणाल कमल-नाल	मृदुता, प्रलम्बता
विद्युद्वल्ली	प्रलम्बता, दीप्ति
विसलता (कमल-लता)	मृदुला, प्रलम्बता
शाखा	प्रलम्बता
भौहें	
कज्जल-रेखा	कृष्णिमा
कृपाण	तीक्ष्णता, वंकिमा
तरंग	वंकिमा
धनुष (वि. कामदेव का)	वंकिमा
पल्लव (वि. यक्ष्म अर्थात् बरौनी के लिये)	मृदुता
बल्ली	विस्तार
भृंगावली	कृष्णिमा
महराव	वंकिमा
सर्प	कृष्णिमा, जिह्मता
मुखमण्डल	
चन्द्रबिम्ब (वि. राकाचन्द्र)	गुलाई, उज्ज्वलता
दर्पण	उज्ज्वलता
पद्म (वि. स्वर्ण पद्म—सौगन्धिक)	मृदुता, वर्णसाम्य
रोमावली	
पिपीलिका-पंक्ति	श्यामता, लघुरूपता
भुजंगिनी	श्यामता

उपमान	समान धर्म
भ्रमर-पंक्ति	श्यामता
लौहशलाका	श्यामता, ऋजुता
शैवाल मंजरी	श्यमता, मृदुता
शृंगार-रेखा[१]	श्यामता, ऋजुता
धूमरेखा (वि. मदनानल की)[२]	
ललाट	
चन्द्रमा (अष्टमी का अथवा अर्द्धचन्द्र)	आकारसाम्य, उज्ज्वलता
स्वर्णपट्टिका	गौरत्व
थाल	समतलत्व
वाणी	
किन्नर-स्वर	कर्णसुखदता
कोकिल-स्वर[3]	कर्णसुखदता
मीठे पदार्थ	माधुर्य
वीणा-संगीत	कर्णसुखदता, सुरीलापन
वेणु-संगीत	कर्णसुखदता, सुरीलापन
शुक-स्वर	कर्णसुखदता
हंसावली-स्वर (वि. कलहंसका स्वर)	कर्णसुखदता
स्तन[४]	
कमल	गुलाई

[१] श्रृंगार रस का वर्ण श्याम माना गया है, दे. वर्णवर्ग नीलकृष्ण प्र.

[२] उदा०—किं रोमावली घण खसण एह
णं णं मयणाणल कसण एह
(की रोमावलि घन कृष्ण एह
जनु जनु मदनानल धूम लेख) —स्वयम्भू रामायण
[राहुल सांकृत्यायनः हंस, नवम्बर १९४४, पृ० ६८]

[3] दे. पक्षि-वर्ग, कोकिल प्र.

[४] कुचाग्र और कुचांत का पृथक् वर्णन भी होता है, दे. केशवदास कृत शिखनख २१-२२

उपमान	समान धर्म
कमल-कोरक	परिपुष्टता
गुच्छ	घनत्व
घड़ा	गुलाई
चक्रवाक[१]	गुलाई, मिथुन-भाव
जंबीर (जँबीरी नीबू)	गुलाई
ताल (ताड़ का फल)	गुलाई, तुंगत्व
पर्वत (वि. सुमेरु)	दृढ़ता, विस्तार
पूगफल	कठोरता, गुलाई (वि. लघु स्तनों के लिये)
बिम्बाफल	गुलाई
बिल्बफल (बेल)	कठोरता, गुलाई
बीजपूर (बिजौरा नीबू)	गुलाई
शिव-लिंग	दृढ़ता
समुद्र	विस्तार
सौवीर (बदरीफल, बेर)	गुलाई, कठोरता, लघुत्व (वि. लघु स्तनों के लिये)
हस्तिकुंभ	गुलाई, औन्नत्व, विस्तार
हास[२]	
अमृत-फेन	शुक्लता
कर्पूर-धूलि	शुक्लता
कैरव	शुक्लता
चन्द्रमा[३]	शुक्लता
ज्योत्सना	शुक्लता
पुष्प[४]	शुक्लता
विद्युत्कांति	शुक्लता

१ दे. पक्षिवर्ग, चक्रवाक-मिथुन प्र.

२ दे. वर्णवर्ग, शुक्ल-गौर प्र.

३ श्वेत वर्ण का विधान है, दे. वर्णवर्ग शुक्लगौर प्र.

४ सामान्य उपादान में श्वेत वर्ण, दे. वर्ण वर्ग, शुक्ल गौर प्र.

परिशिष्ट—३

सहायक साहित्य

(संस्कृत-हिन्दी)

अग्निपुराण —सम्पा० हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, १९०० ई०

अपरा —निराल, भारती-भवन, प्रयाग

अमरकोश —रामाश्रमी टीका, निर्णयसागर, सं० १९६३, क्षीरस्वामी की टीका

अरुशतकम् —निर्णयसागर, तृतीय संस्करण, १९५४ ई०

अलंकार-चिन्तामणि —अजितसेन

अलंकारशेखर —केशवमिश्र, निर्णय सागर, द्वितीय संस्करण, १९२६ ई०

अष्टांगहृदय —वाग्भट, निर्णयसागर, बम्बई

आधुनिक कवि, भाग १ (महादेवी) —हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, सं० २००६

आधुनिक कवि, भाग २ (पन्त) —वही

कबीर-ग्रन्थावली —सम्पा० श्यामसुन्दरदास, ना० प्र० काशी, सं० २००८

कर्पूरमंजरी —राजशेखर, हर्वर्ड ओरियन्टल सिरीज़

कविकल्पलता —देवेश्वर, बिबलियोथिका इण्डिका

कवित्त-रत्नाकर —सेनापति, प्रथम संस्करण, प्रयाग १९३६ ई०

कवि-परिपाटी —दिवाकरमणि त्रिपाठी, काशी, १९४७ ई०

कामायनी —जयशंकर 'प्रसाद', भारती-भवन, प्रयाग

कालिदास-ग्रंथावली —सम्पा० सीताराम चतुर्वेदी, विक्रम-परिषद् काशी, सं० २००१, कालिदास के काव्यों पर मल्लिनाथी टीकाएँ-विभिन्न संस्करण ।

काव्यकल्पलतावृत्ति —अरिसिंह और अमरचंद्र, काशी-संस्कृत-सिरीज़ (९०), १९३१

काव्यनिर्णय —भिखारीदास

काव्यप्रकाश —मम्मट, टी० हरिमंगल मिश्र, प्रयाग, सं० २०००

काव्यमीमांसा —राजशेखर, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ (१) बड़ौदा; हरिदास ग्रन्थमाला (१४) काशी सं० १९९१; अनु० केदारनाथ सारस्वत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना सं० १९९१

काव्यानुशासन —हेमचन्द्र, निर्णयसागर बम्बई

काव्यालंकार —भामह

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति —वामन, निर्णयसागर बम्बई

किरातार्जुनीयम् —भारवि

कीर्तिलता —विद्यापति, सम्पा० शिवप्रसाद सिंह, साहित्यभवन, प्रयाग १९५५

केशवग्रंथावली, भाग १,२ —सम्पा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, भाग १ – १९५४, भाग २ – १९५५

कैलाश-मानसरोवर —स्वामी प्रणवानंद, प्रयाग, सं० २०००

गीतगोविन्द —जयदेव, हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला (१२९), काशी १९४८ ई०

घन आनंद (ग्रंथावली) —सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी-वितान काशी सं० २००९

चक्रदत्त —चक्रपाणिदत्त, कलकत्ता

चन्द्रालोक —जयदेव, काशी संस्कृत सिरीज़ (७५)

चरकसंहिता —अग्निवेश, निर्णयसागर बम्बई १९२२ ई०

जातक, भाग १, २ —भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

जायसी ग्रंथावली —सम्पा० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० काशी पंचम संस्करण सं० २००८

तुलसी-ग्रंथावली, खण्ड २ —ना० प्र० काशी

दुर्गासप्तशती —गीताप्रेस गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं. १०१२

देव और बिहारी —कृष्ण बिहारी मिश्र, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, चतुर्थावृत्ति, सं. २००६

नाटयशास्त्र —भरत, बिबलियोथिका इन्डिका

निबन्ध संग्रह —हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. श्रीकृष्णलाल, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५३ ई०

निरुक्त —यास्क, दुर्गाचार्य कृत भाष्य, निर्णयसागर, बम्बई

नैषधीयचरित —श्रीहर्ष, निर्णयसागर बम्बई १९२८ ई०

पउमश्री चरियम् —विमल सूरि

पदमावत —संजीवनी भाष्य—डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, झाँसी १९५५ ई०

पद्माकर पंचामृत —सम्पा. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी

पार्श्वनाथ चरित —भावदेव सूरि

पोद्दार-अभिनंदन-ग्रंथ —ब्रजसाहित्यमंडल, सं. २०१०

प्राकृत व्याकरण —हेमचन्द्र, बिबिलियोथिका इंडिका

प्रयप्रवास —हरिऔध. काशी, सप्तम संस्करण सं. २००८

बिहारी —विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी-वितान, काशी सं. २०१०

बृहत्संहिता —वराहमिहिर, वेंकटेश बम्बई सं. १९९७

बृहन्निघंटु रत्नाकर, भाग १–६ —संकलनकर्ता और संशोधक दत्तराम, बेंकटेश, बम्बई सं. १९५२–५४

भगवद्गीता —गीताप्रेस गोरखपुर

भागवत सम्प्रदाय —बलदेव उपाध्याय, ना. प्र. काशी, सं. २०१०

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका —डा० नगेन्द्र, ओरियन्टल बुक डिपो, दिल्ली, १९५५ ई०

भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खण्ड —बलदेव उपाध्याय, प्रसादपरिषद् काशी सं. २००७

भारतेन्दु-ग्रंथावली, खण्ड १, २ —सम्पा. ब्रजरत्नदास, ना. प्र. काशी

भावप्रकाश निघण्टु (हरीतक्यादि) —भावमिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर

भिखारी-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड —सम्पा. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, ना. प्र. काशी, सं. ०२१३

भूषण —विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी-वितान, काशी, सं. २०१०

भ्रमरगीतसार —सम्पा. रामचन्द्र शुक्ल, उपसम्पा. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी

मतिराम-ग्रंथावली —कृष्णविहारी मिश्र, लखनऊ सं. १९९६

महाभारत —गीताप्रेस गोरखपुर सं. २०१३, निर्णयसागर, बम्बई १९१४ ई०

महारावल रजत जयंती अभिनन्दन ग्रंथ

मालतीमाधव —भवभूति, निर्णयसागर, बम्बई

मेदिनीकोश —चौखम्भा सिरीज़, काशी

मेरी कैलास यात्रा —स्वामी सत्यदेव

रत्नाकर, भाग १, २ —जगन्नाथदास रत्नाकर, सम्पा. श्यामसुन्दरदास, ना. प्र. काशी

रसखानि (ग्रंथावली) —सम्पा. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी-वितान, काशी सं. २०१०

रसमीमांसा —रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक विश्वनाप्रसाद मिश्र, ना. प्र. काशी

रसरत्नदीपिका —अल्लराज

राजनिघंटु —नरहरि पण्डित

रामचरितमानस —तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवाँ संस्करण, सं. २००७

रावणबध —भट्टि, निर्णयसागर, बम्बई

वाचस्पत्याभिधान —तारानाथ तर्कवाचस्पति

वाल्मीकीय रामायण —पण्डित-पुस्तकालय, काशी सं. २०१३

विक्रमांकदेवचरित —विल्हण,

विज्ञानहस्तामलक —रामदास गौड़

विद्धशालभंजिका —राजशेखर

विद्यापति की पदावली —रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तकभण्डार लहेरियासराय पटना, द्वीतीय संस्करण

वेद-धरातल —गिरीशचन्द्र अवस्थी, काशी सं. २०१०

वैदिक कोश —हंसराज, लाहौर

शतपथ ब्राह्मण —वेपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, सं. १९६०

शब्दकल्पद्रुम —कलकत्ता

शब्दरसायन —देव, सम्पा. डा० जानकीनाथ सिंह 'मनोज' प्रयाग सं. २००४

शालिग्राम-निघंटु —शालिग्राम शास्त्री

शिशुपाल-बध —माघ, मल्लिनाथी टीका. मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर

संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो —हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह, काशिका समिति, काशी १९५६

साकेत —मैथिलीशरण गुप्त, पुस्तकसदन चिरगाँव झाँसी

साहित्यदर्पण —विश्वनाथ कविराज, अनु० शालिग्राम शास्त्री, मृत्युँजय औषधालय लखनऊ

—पी० बी० काणे, बम्बई तृतीय संस्करण १९५१ ई०

सुभाषित रत्नभाण्डागार —निर्णयसागर बम्बई, पंचम संस्करण १९११ ई०

सुश्रुत-संहिता —निर्णयसागर बम्बई १९०१ ई०

सूरसागर, खण्ड १,२ —सम्पा. नन्ददुलारे वाजपेयी ना. प्र. काशी, खण्ड १–सं. २००९, खण्ड २–सं. २००७

हमारी चिड़ियाँ —सुरेश सिंह

हिन्दी-काव्यधारा —राहुल सांकृत्यायन, किताब महल प्रयाग, प्रथम संस्करण १९४५ ई०

हिन्दी-शब्दसागर, ६ भाग —ना. प्र. काशी

हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस प्रयाग, संशोधित और प्रवर्धित संस्करण सं. १९९७

हिन्दी साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर बम्बई पंचम संस्करण १९५४ ई०

हिन्दुत्व —रामदास गौड़, ज्ञानमण्डल काशी सं. १९९७

पत्र-पत्रिकाएँ

विद्यापीठ-पत्रिका, आषाढ़ १९९३

हंस, नवम्बर १९४४

अंग्रेजी

A History of Sanskrit Literature. —A.B. Keith.

A History of Sanskrit Literature. —S. N. Das Gupta and S. K.De.

Ancient Geography —Kanningham; Gaurang Press, Mirzapur Road, Calcutta 1924.

A popular Handbook of Indian Birds. —Whistler.

Dictionary of World Literature.—Shiple.

History of Sanskrit Poetics. —Dr. S.K. De.

Dr. C. Kunhan Raja Presentation Volume.

Indian Trees. —Brandis.

Sanskrit--English Dictionary. —Monior Williams.

Sanskrit–English Dictionary. —V.S.Apte.

The Book of Indian Birds. —Salim Ali.

The Game-Birds of India, Burmah & Ceylone. —Hume and Marshall.

The Ocean of Story Vol.I to X. —Towny and Penzer.

Tree & Serpant Worship. —Fergusan.

Vedic Index. —Mac. Danold, London. 1912.